स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

BIHAR YOGA

# मुक्ति के चार सोपान

## पातञ्जल योग सूत्रों का यौगिक भाष्य

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

# मुक्ति के चार सोपान

## पातञ्जल योग सूत्र का यौगिक भाष्य




WORLD YOGA CONVENTION 2013
GANGA DARSHAN, MUNGER, BIHAR, INDIA
23rd–27th October 2013

# मुक्ति के चार सोपान

## पातञ्जल योग सूत्र का यौगिक भाष्य

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती




योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

*बिहार योग विद्यालय द्वारा*
*योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा*

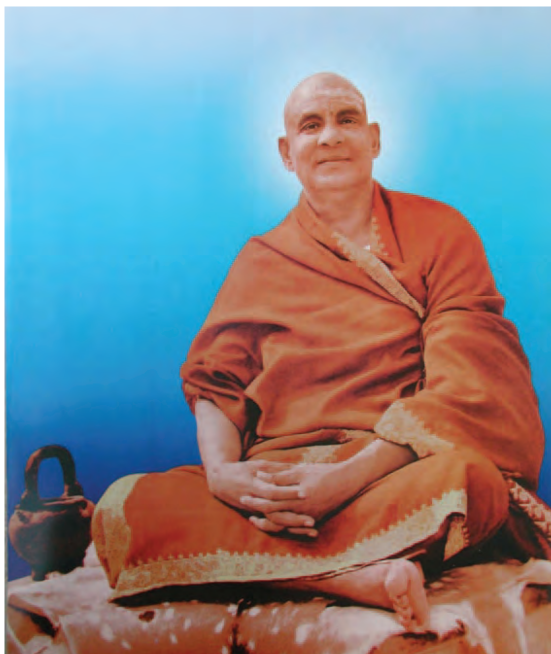
*प्रथम संस्करण 1994*
*पुनर्मुद्रण 2004*
*द्वितीय संस्करण 2013*

ISBN: 978-81-85787-92-3



*प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,*
*मुंगेर, बिहार, भारत*
*मुद्रक—थॉमसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड,*
*नई दिल्ली*

वेबसाइट: www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.net



# सविनय समर्पण

*स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में*
*जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी*



## नमो नारायण

*योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दुःखी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।*

*स्वामी सत्यानन्द सरस्वती*
*रिखियापीठ, 2005*

# विषय सूची

| *सूत्र* | **द्वितीय सोपान : साधना पाद** | *पृष्ठांक* |
|---|---|---|

| *सूत्र* | **तृतीय सोपान : विभूति पाद** | *पृष्ठांक* |
|---|---|---|

# भूमिका

एक समय की बात है। दो पंडित एक आश्रम में सत्संग के लिये आए। संध्या का सुहावना समय था। मैदान में दरी बिछी थी। वे दोनों पंडित ही प्रथम आगंतुक थे। इसलिये वे श्री गुरुदेव के आसन के समक्ष बैठ गए। थोड़ी ही देर में अन्य सत्संगी तथा गुरुदेव आ गए और सत्संग प्रारंभ हुआ।

प्रारंभ में सत्संग में आसन, प्राणायाम, मुद्राओं तथा अन्य यौगिक क्रियाओं पर चर्चा होती रही। अंत में पंडितों ने गुरुदेव से कहा, "हम यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर आपसे चर्चा करने के लिये आए हैं। हम आपसे महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित समाधि के दार्शनिक पक्ष पर वार्तालाप करना चाहते हैं।" अस्तु वाद-विवाद प्रारंभ हुआ। एक पंडित ने जोर देकर कहा, 'निश्चय ही असम्प्रज्ञात समाधि और निर्बीज समाधि एक ही हैं।' दूसरे पंडित ने पहले से असहमति व्यक्त करते हुए कहा, 'नहीं! नहीं! तुम एकदम गलत हो। इन दोनों में बड़ा अंतर है।' अब दोनों पंडित अपने-अपने मत के पक्ष में अनेक शास्त्रों से एक से बढ़कर एक उदाहरण प्रस्तुत करने लगे। कुछ ही समय बाद इस शास्त्रार्थ ने गरमा-गरम तू-तू मैं-मैं का रूप ले लिया।

गुरुदेव चुपचाप मूक दर्शक की तरह पंडितों की उछल-कूद देखते रहे। वे दोनों भी, एक तरह से, उनकी उपस्थिति को भूल ही गए थे। वाद-विवाद के क्रम में एक बार एक पंडित ने उनकी ओर मुड़कर पूछा, "आप क्या मानते हैं? क्या असम्प्रज्ञात और निर्बीज समाधि एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं?"

परन्तु इसके पूर्व कि गुरुदेव कोई उत्तर देते, वह स्वयं कहने लगा, "मैंने जिन ग्रन्थों का अध्ययन किया है, उनमें इन दोनों को भिन्न बताया गया है।" गुरुदेव फिर भी चुप ही रहे और दोनों पंडित पुन: आपस में उलझ पड़े। अंत में एक दूसरे पर चीखने-चिल्लाने लगे और मारामारी की स्थिति आ पहुँची।

यह उत्तेजनापूर्ण वार्तालाप लगभग आधा घंटा चलता रहा। उसी समय एक मोटी-तगड़ी गाय दरी पर आकर बैठ गई, मानो वह उसी के लिये बिछी थी। इस नवागंतुका के आने से सभी को बड़ा आनन्द आया। परन्तु वे दोनों पंडित अपने वाद-विवाद में इतना खोये हुए थे कि गाय पर उनका ध्यान गया ही नहीं। लोग उसके रास्ते से हट गए और वह भी मानो पंडितों के वाद-विवाद पर गंभीरतापूर्वक कुछ चिन्तन-मनन कर रही थी।

एकाएक गाय जोर से रंभा पड़ी, मानो वह उनकी बातों का समर्थन कर रही हो। दोनों पंडित डर कर उछल पड़े। जब से उनका वाद-विवाद शुरू हुआ था, यह पहला अवसर था, जब वे चुप हुए। उपस्थित श्रोता यह देख हँस पड़े, गाय उठी और वहाँ से चली गई, मानो वह इसी तरह के किसी दूसरे सत्संग की तलाश में चल पड़ी हो।

सत्संग में सबसे अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण शब्द मानो गाय के ही थे। जाने अनजाने ऐसा लगता था मानो वह पंडितों तथा सत्संगियों से कहती गयी कि महर्षि पतंजलि के योग सूत्रों पर मात्र बौद्धिक वाद-विवाद अनुचित है। महर्षि ने उनकी रचना केवल बुद्धि विलास के लिये नहीं की है। ये सूत्र चेतना के उन्नयन की व्यावहारिक प्रक्रिया समझाने, अधिक गहरे ज्ञान की प्राप्ति, मन की संभावनाओं के अन्वेषण और अन्ततः उसके पार जाने के उद्देश्य से लिखे गये हैं। योगसूत्र मुख्यतः अभ्यासाभिमुख हैं। वे समाधि की मात्र बौद्धिक मीमांसा नहीं करते हैं। कदाचित् वहाँ महर्षि पतंजलि भी उपस्थित रहते तो वे गाय के बुद्धिमत्तापूर्ण निष्कर्ष पर अवश्य मुस्कुराते।

अनेक सूत्र ऐसे विषयों की ओर संकेत करते हैं जो सामान्य सांसारिक अनुभवों और समझ के परे होते हैं। योगसूत्र केवल बौद्धिक स्तर पर ग्रहण करने के लिए नहीं लिखे गये हैं। अपितु ऐसा है कि जो साधक पातंजल योग या अन्य किसी पद्धति की साधना करते हैं, वे अपने अस्तित्व के गहरे पक्ष की समझ और अन्तर्दृष्टि क्रमशः प्राप्त करते हैं। वे अपने अनुभव से महर्षि पतंजलि के गूढ़ सूत्रों को क्रमशः समझ लेते हैं। ये सूत्र उन्हें संकेत देते हैं कि वे सही दिशा में चल रहे हैं या नहीं तथा आगे बढ़ने में उनकी सहायता भी करते हैं। ये सूत्र बौद्धिक रूप से कभी भी समझे नहीं जा सकते, और न वे इस प्रकार समझने के लिए रचित ही हैं। ये सूत्र तो सांसारिक स्तर से चेतना के उच्च धरातल की यात्रा और अन्ततोगत्वा मुक्ति के लिए लिखे गये हैं। यह ग्रन्थ दीर्घकालीन योगाभ्यास द्वारा पूर्ण मुक्ति का मार्ग निर्देशित करता है।

महर्षि पतंजलि के सूत्रों और उनके भाष्यों द्वारा साधना के क्षेत्र में हर महत्त्वपूर्ण बात कह दी गई है जो कहनी चाहिए। इस प्रस्तावना का उद्देश्य है –

1. आधारभूत पृष्ठभूमि की सूचनाएँ प्रदान करना।
2. सूत्रों की अद्भुत सुसंगतता और पूर्णता पर यथेष्ट प्रकाश डालना, ताकि साधक और पाठक उनमें निहित यौगिक, वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों को आत्मसात् कर सकें।
3. उन ध्यान देने योग्य चीजों की ओर संकेत करना जिन्हें अत्यंत सरल मानकर नजरअंदाज कर दिया जाता है।

## ग्रन्थ की संरचना

यह ग्रंथ महर्षि पंतजलि द्वारा रचित 196 सूत्रों की टीका है। वास्तव में सूत्र का अर्थ धागा होता है। पर यहाँ इसका तात्पर्य है लिखित शब्दावली में अविरल प्रवाहित एक विचारधारा, जो मानो विभिन्न प्रत्ययों की एक माला गूँथती है, जो स्वयं में एक पूर्ण दर्शन है।

महर्षि के ग्रंथ को योगदर्शन भी कहते हैं। यदि इसका शाब्दिक अर्थ लें तो दर्शन का अर्थ देखना होता है, जो दृश् धातु से व्युत्पन्न माना जाता है और इसका सम्बन्ध द्रष्टा से होता है। दर्शन देखने की प्रक्रिया को कहते हैं। अस्तु योगदर्शन का अर्थ योग के माध्यम से देखने की प्रक्रिया होती है। परन्तु देखने का अर्थ आँखों से देखना अथवा किसी अन्य इन्द्रिय के माध्यम से बाह्य संसार को देखना नहीं होता। इसका तात्पर्य मन और इन्द्रियों के परे, बिना इनकी सहायता के, देखने से है। यह देखना कुछ इसी प्रकार होता है, जैसे आँखें और अन्य इंद्रियाँ बंद हों तथा मन पूर्ण नियंत्रण में हो। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि योगदर्शन देखने की उच्च प्रक्रिया है। यह आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि के द्वारा अदृश्य को देखने की प्रक्रिया है।

योगसूत्र योग पर अब तक लिखित सम्पूर्ण साहित्य में सर्वश्रेष्ठ, सटीक एवं अत्यन्त वैज्ञानिक ग्रन्थ है। यह चार अध्यायों में विभक्त है –

**1. समाधि पाद** – इसके अंतर्गत 51 सूत्र आते हैं तथा इनमें निम्नलिखित विषयों पर प्रकाश डाला गया है – योग की परिभाषा, उद्देश्य, वृत्ति, अभ्यास और वैराग्य, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि, अनुभव के साधन, ईश्वर (शुद्ध चेतना), ॐ, प्रगति में बाधक तत्त्व, मन को समस्वरित करने की विधियाँ, सबीज और निर्बीज समाधि।

**2. साधना पाद** – इसके अन्तर्गत 55 सूत्र आते हैं, जिनका सम्बन्ध निम्नलिखित विषयों से है – क्लेश (जीवन के मूलभूत तनाव), क्लेश निवृत्ति, क्लेश नाश का प्रयोजन, ज्ञाता और ज्ञात, सजगता और उसका अभाव, प्रज्ञापथ (सहज ज्ञान), महर्षि पतंजलि का अष्टांग योग, यम नियम, निषेधात्मक विचारों के नियंत्रण की विधि, यम-नियम में निपुणता के परिणाम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, आदि।

**3. विभूति पाद** – इस अध्याय में 56 सूत्र हैं, जो निम्नलिखित विषयों पर प्रकाश डालते हैं– धारण (एकाग्रता), ध्यान, समाधि, संयम (एकाग्रता, ध्यान और समाधि), परिणाम (चेतना का रूपान्तरण), बाह्य दृश्य जगत् की प्रकृति, सिद्धियाँ।

**4. कैवल्य पाद** – इस अध्याय में 34 सूत्र हैं, जो निम्नलिखित विषयों पर प्रकाश डालते हैं – सिद्धि प्राप्ति के साधन, स्वतंत्र व्यक्तित्व का कारण, व्यष्टि और समष्टि मन, कर्म (प्रारब्ध और विचार), अन्यान्य वस्तुओं में निहित एकता, दर्शन का सिद्धात, मन एक अचेतन उपकरण, कैवल्य मार्ग, और कैवल्य।

सभी सूत्र सुनियोजित क्रम में हैं। प्रत्येक का स्थान किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति करता है। महर्षि पतंजलि एक सूत्र से दूसरे पर तथा एक सोपान से दूसरे सोपान में अत्यन्त अचूक तर्क के साथ बढ़ते हैं।

स्पष्टता और संक्षिप्तता की दृष्टि से 'योगसूत्र' अनुपमेय ग्रंथ है। निम्नांकित कारणों से महर्षि पतंजलि ने अनावश्यक शब्दों को दूर रखा है –

- शिष्यगण उन्हें सरलतापूर्वक कंठस्थ कर सकें, क्योंकि उस युग में मुद्रण की सुविधा उपलब्ध नहीं थी।
- सूत्रों को जिज्ञासा का विषय बनाने हेतु; अधिक शब्दों से भ्रम हो सकता है।
- गलत उद्धरण एवं गलत व्याख्या को रोका जा सके ।

यद्यपि सूत्र अत्यंत संक्षिप्त हैं, तथापि उनमें आदि से अंत तक पातंजल योग का सार भरा पड़ा है, क्योंकि उनमें कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक जानकारियाँ हैं ।

ये सूत्र उच्च वैज्ञानिक यथार्थता के साथ ही पद्यात्मक भी हैं। इन सूत्रों में निहित तथ्यों की अच्छी समझ के लिए यह परामर्श है कि पहले आप सावधानीपूर्वक सूत्रों तथा उनके भाष्य को पढ़ें। तत्पश्चात् एक के बाद एक, प्रत्येक सूत्र को धीरे-धीरे पढ़ें। इससे आपको महर्षि पतंजलि की लेखन शैली की आश्चर्यजनक क्रमबद्धता तथा प्रवाह के दर्शन होंगे।

## परिभाषा

महर्षि पतंजलि अपनी व्यवस्था को 'योग' कहते हैं। इस व्यवस्था को अन्य योग-मार्गों से पृथक् दर्शाने हेतु उन्होंने इसे अन्य नाम नहीं दिया। योग सूत्र की रचना के समय इस पद्धति को 'पातंजल योग' के नाम से जाना जाने लगा।

'पातंजल योग' राजयोग से बहुत मिलता-जुलता है। हम भी इसे राजयोग के विशद् स्वरूप के अन्तर्गत एक विशिष्ट प्रणाली के रूप में स्वीकारते हैं। हमारी परिभाषा के अनुसार राजयोग के अन्तर्गत ये सब आते हैं–

- कुंडलिनी योग (इसे लययोग भी कहते हैं।)
- क्रिया योग
- मंत्रयोग
- ध्यानयोग तथा,
- पातंजल योग

पातंजल योग सहित राजयोग मन का विज्ञान माना जाता है। अन्य विज्ञान द्वारा बाह्य जगत् की खोज के स्थान पर राजयोग मनुष्य के व्यक्तित्व के भीतरी पक्षों की खोजबीन कर अन्तर्निहित ज्ञान और ऊर्जा का उद्‌घाटन करता है। यह मानसिक अनुशासन का विज्ञान है, जिसमें मन को एकाग्र करने की अनेक विधियाँ हैं। महर्षि पतंजलि स्वयं अपनी योग पद्धति को मन की वृत्तियों के निरोध का विज्ञान कहते हैं। हम भी मानव मन को शुद्ध चेतना का दृश्य अग्रभाग कहना पसन्द करते हैं, जिसमें अस्तित्व के चेतन, अवचेतन और अचेतन स्तर आते हैं। अस्तु हम महर्षि पतंजलि के योग की परिभाषा कुछ इस प्रकार कर सकते हैं–

*'चेतना के स्वरूपों का नियमन ही योग है।'*

वस्तुत: पातंजल योग में आठ अंग है, यथा–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इसलिए इसे अष्टांग योग के नाम से भी जाना जाता है।

## योग सूत्र का आधार तथा रचनाकाल

एक परंपरा यह कहती है कि हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) द्वारा योग सूत्रों की रचना हुई थी। परन्तु साधारण जन द्वारा समझी जाने वाली भाषा में हम यह कह सकते हैं की योग सूत्रों की रचना ब्रह्मा जी द्वारा महर्षि पतंजलि के माध्यम से हुई होगी।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि महर्षि पतंजलि का जीवनकाल ईसा की चौथी सदी में था। अन्य इसे ईस्वी सन् 50 के आस-पास कहते हैं, यद्यपि निश्चित तो नहीं, पर अधिक मान्य समय ई. पू. 400 वर्ष है। यह काल विभिन्न विधियों द्वारा निर्धारित होता है। परन्तु कुछ निश्चयपूर्वक कहते हैं कि वह ईसा पूर्व चौथी सदी में हुए थे। फिर भी कुछ विद्वान् कहते हैं कि महर्षि पतंजलि का जीवनकाल पाँच हजार वर्ष पूर्व था। एक पद्धति यह है कि योग सूत्र में वर्णित अभ्यास और दर्शन की तुलना उपनिषदों, सांख्य तथा बौद्ध ग्रंथों में वर्णित अभ्यासों एवं दर्शन से की जाती है। परन्तु मुश्किल यह है कि विश्वासपूर्वक प्राचीन ग्रंथों का रचनाकाल निर्धारित नही किया जा सकता। यह बताना भी मुश्किल है कि कौन किससे प्रभावित हुआ तथा किसकी रचना पहले तथा किसकी बाद में हुई। कोई शास्त्र किसी भी दार्शनिक व्यवस्था की तिथि नही बताता, क्योंकि हो सकता है कि वह शास्त्र किसी दर्शन विशेष के सूत्रबद्ध होने, विकसित होने एवं प्रकाशित होने के सैकड़ों वर्ष बाद लिखा गया हो।

महर्षि पतंजलि नाम के ही एक व्यक्ति ने संस्कृत व्याकरण पर महाभाष्य, तथा ओषधि विज्ञान पर चरक प्रतिसंस्कृत ग्रथों की रचना की थी। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि यह व्यक्ति वही महर्षि पतंजलि हैं, जिनके द्वारा योग सूत्र की रचना होना माना जाता है। यदि इसे सच मान लें तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि योग सूत्रों की रचना उस काल के आस-पास हुई होगी जब बुद्ध और पाणिनी या तो जीवित थे या उन्होंने हाल ही में शरीर त्यागा था, और यह काल पाँच सौ ईसा पूर्व के आस-पास माना जाता है।

'योगसूत्र' की रचना का आधार निश्चित रूप से सांख्य दर्शन है, जिसका प्रतिपादन महर्षि कपिल द्वारा हुआ मानते हैं। यह दर्शन बौद्धकाल के पूर्व भी विद्यमान था, क्योंकि बुद्ध ने स्वयं अलर्कलम आश्रम में सांख्य दर्शन का अध्ययन किया था, क्योंकि उस समय भारत में सांख्य दर्शन बड़ा लोकप्रिय था। सांख्य में ईश्वर संबंधी सभी सिद्धांतों को एक तरफ रख दिया गया है। वह कहता है कि व्यक्तिगत साधना में ईश्वर का अस्तित्व अथवा अनस्तित्व अप्रासंगिक है। बुद्ध भी यही कहते थे, क्योंकि उन्होंने अपने उपदेशों में न तो ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारा है और न ही नकारा है। इस प्रकार बौद्ध धर्म के सिद्धांतों पर सांख्य दर्शन का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। दूसरी ओर महर्षि पतंजलि के सांख्य दर्शन तथा बौद्ध दर्शन से भिन्न विचार हैं। वे बड़ी सफाई से ईश्वर की अवधारणा को साधना के एक शक्तिशाली माध्यम के रूप में

उन लोगों के लिए प्रस्तुत करते हैं जो भक्तियोग के मार्ग पर चलते हैं। परन्तु किसी भी सूचना से योग सूत्रों की रचना तिथि के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

कुछ की मान्यता है कि वे जैन धर्म द्वारा प्रभावित थे, जबकि कुछ अन्य यह मानते हैं कि जैन धर्म उनसे प्रभावित था। इसी प्रकार कुछ लोग कहते हैं कि कुछ अंशों में बौद्ध धर्म योग सूत्रों पर आधारित है, तो कुछ अन्य मानते हैं कि महर्षि पतंजलि ने अपने योग सूत्रों का आधार बौद्ध साधना एवं विश्वासों को बनाया था। इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कोई भी व्यवस्था अपने आप नहीं पनपती। वह तत्कालीन व्यवस्था से कुछ ग्रहण करती है तथा उस पर अपनी छाप भी छोड़ती है।

किसी भी व्यक्ति को जिसे बौद्ध धर्म की थोड़ी भी जानकारी है, बुद्ध और महर्षि पतंजलि में अनेक समानताएँ दिखलाई पड़ेंगी। विशेष रूप से यम, नियम तथा अन्यान्य दार्शनिक अवधारणाओं में दोनों के बीच पर्याप्त समानता है। परन्तु यह बात संदेहास्पद है कि पहले कौन आया – योगसूत्र अथवा बुद्ध। परन्तु परवर्ती काल के बौद्ध ग्रंथों पर योग सूत्रों का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है, जैसे बौद्ध ग्रंथ 'विशुद्धि मग'। परन्तु फिर भी 'योगसूत्र' की रचना तिथि अंतिम रूप से निर्धारित करना मुश्किल है।

यह बात भी बड़ी दिलचस्प लगती है कि अपने ग्रंथ में महर्षि पतंजलि भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपने समकालीन किसी भी ग्रंथ का उल्लेख नहीं करते। इससे ऐसा लगता है कि योग सूत्रों की रचना अनेक विख्यात ग्रंथों की रचना तथा धर्मों के आगमन के पूर्व हुई होगी। दूसरी तरफ देखें तो 'योग सूत्र' की भाषा बहुत कुछ वही है जो बुद्ध के समय प्रचलित थी। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि योग सूत्रों की रचना ई.पू. चौथी सदी में हुई होगी, जो अधिक प्रशस्त हैं। परन्तु फिर भी अनेक तत्त्व विचार हेतु रह जाते हैं। हो सकता है, योग सूत्रों की पाण्डुलिपि लिखने के बाद उसकी भाषा में फेरबदल किया गया हो अथवा मूलकृति ही खो गई हो अथवा उन्हें लिपिबद्ध करने के पूर्व वे अलिखित रहे हों। इसलिये उनकी तिथि के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

हमारी मान्यता का सार यह है कि राजयोग की तकनीकें महर्षि पतंजलि के पूर्व भी विद्यमान थीं, भले ही वे बीजरूप में समष्टि अचेतन मन में ही क्यों न रही हों। ऐसा लगता है कि 'योग सूत्र' गुरु से शिष्य को मौखिक रूप से प्रदत्त

सूत्रों का संकलन है। यह तो महर्षि पतंजलि की प्रतिभा है कि उन्होंने इस पद्धति को एक व्यापक ग्रन्थ का रूप दे दिया।

यदि आप महर्षि पतंजलि के जीवन तथा 'योग सूत्रों' की रचना के इतिहास के विषय में विस्तार से जानकारी चाहें तो हम आपको सलाह देंगे कि आप तत्संबंधी और कुछ पुस्तकों का अध्ययन करें, क्योंकि यहाँ हमारा प्रयोजन महर्षि के व्यक्तित्व और उनका रचनाकाल निर्धारित करना नहीं है, क्योंकि वे शाश्वत ज्ञान के, जो मानवता की विरासत हैं, मात्र प्रवक्ता थे। इस बात का महत्त्व नहीं है कि उनका नाम क्या था, राष्ट्रीयता क्या थी अथवा वे काले थे या गोरे। यह बात भी महत्त्व की नहीं है कि 'योग सूत्रों' की रचना कब हुई थी; क्योंकि इसमें उस शाश्वत ज्ञान का प्रतिपादन है जिस पर हर युग और हर पीढ़ी का पूरा अधिकार है। वह ज्ञान सदा नवीन और प्रयोजनीय है, भले ही उसकी पृष्ठभूमि कुछ भी हो। हमारे लिए तो उसकी विषयवस्तु ही महत्त्वपूर्ण है।

## भाष्यकार

अनेक भाष्यकारों ने योग सूत्रों मे निहित अर्थों की टीका अपने-अपने ढंग से की है। कुछ विख्यात भाष्य निम्नलिखित हैं –

- योगभाष्य – व्यास (तिथि अज्ञात)
- तत्त्व विशारदी – वाचस्पति मिश्र (नवीं सदी)
- भोजवृत्ति – भोजराज (ग्यारहवीं सदी)
- योगवार्तिक – विज्ञानभिक्षु (चौदहवीं सदी)
- राजयोग – स्वामी विवेकानन्द (उन्नीसवीं सदी)

उपर्युक्त सभी भाष्य आज सरलता से उपलब्ध हैं। इन भाष्यों पर भी अनेक लोगों ने अपने भाष्य लिखे हैं, जैसे, गणेश भट्ट ने 'योगवर्तिक' पर अपना भाष्य लिखा है। इस शताब्दी में भी इस भाष्य सहित अनेक टीकाकारों ने अपने भाष्य लिखे हैं।

## आठ सोपान

महर्षि पतंजलि ऐसी अनेक विधियाँ देते हैं जो धीरे-धीरे मन को समस्वरित करती हैं और क्रमशः अधिक सूक्ष्म दृष्टि प्रदान करती हैं।

1. यम
2. नियम

3. आसन

4. प्राणायाम

5. प्रत्याहार

महर्षि पतंजलि का योगदर्शन आठ अंगों में विभक्त है, जिनमें से उपर्युक्त प्रथम पाँच बहिरंग योग के नाम से जाने जाते हैं। ये शरीर और मन को अंतिम तीन अंगों में वर्णित साधना के लिए धीरे-धीरे तैयार करते हैं।

6. धारणा

7. ध्यान

8. समाधि

ये अन्तिम तीन अन्तरंग योग कहे जाते हैं।

प्रथम पाँच चेतना का निरोध करते हैं, जबकि अंतिम तीन उसका प्रसार करते हैं। हर अगले सोपान की साधना केवल तभी सफलतापूर्वक की जा सकती है जब साधक ने उससे पूर्व वर्णित सोपानों में दी गई साधना को सफलतापूर्वक पूरा कर लिया हो। प्रत्याहार तक की साधना में बाहरी व्यवधानों को दूर करते हैं तथा धारणा से प्रारंभ होने वाली साधनाओं द्वारा अशान्त करने वाले विचार तथा मनोदर्शन आदि थम जाते हैं, जिसके फलस्वरूप मन एकदम शांत हो जाता है। इड़ा और पिंगला के बीच स्वस्थ संतुलन स्थापित हो जाता है और सुषुम्ना समाधि में सक्रिय होना प्रारम्भ कर देती है।

ये आठ सोपान मनुष्य के पंचकोशों में स्थिरता लाते हैं। ये पंचकोश हैं – अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय। अन्ततः इन कोशों की सीमाओं का भी अतिक्रमण करना लक्ष्य है। यह गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। आइये, अष्टांग योग के प्रत्येक अंग पर संक्षेप में विचार करें ।

**यम तथा नियम** – यम पाँच हैं – सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इसी प्रकार पाँच नियम हैं – शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान ।

यम की परिकल्पना व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों को मधुर बनाने हेतु की गई है और नियम की परिकल्पना उसके आन्तरिक भावों को सुसंगत करने हेतु की गई है। ये यम और नियम व्यक्ति के बाह्य कर्म और आन्तरिक भावों के मध्य द्वन्द्व को कम करने हेतु परिकल्पित हैं। यह दो तरफा सम्बन्ध है, मन बाह्य कर्मों को प्रेरित करता है और बाह्य कर्म मन को उत्तेजित करते

हैं। यदि बाह्य कर्म असंगत है तो मन अशान्त होगा। इसके विपरीत अशान्त मन असंगत कर्म उत्पन्न करेगा। यह एक अन्तहीन चक्र है, जिसमें आन्तरिक परेशानी बाह्य परेशानी लाएगी तथा बाह्य परेशानी और अधिक आन्तरिक परेशानी लाएगी। यम-नियमों का लक्ष्य है इस चक्र को तोड़ना और अपने प्रति, अपने जीवन के प्रति और अपने परिवेश के प्रति समझदारी के साथ कार्य एवं भाव द्वारा मन को शान्त करना।

यद्यपि यम और नियम मात्र दस संकल्प हैं, फिर भी उनके अन्दर मानव के अधिकाधिक क्रियाकलाप आ जाते हैं। वे बाहरी किनारे या परिधि की ओर से मानसिक अशान्ति की समस्याओं को हल करते हैं, परन्तु यह मन के गहन अन्वेषण से उत्पन्न अपार परिवर्तनों की शुरुआत भी है। ये नियम इतने सरल नहीं हैं, परन्तु इनका सीमित प्रयोग भी अत्यधिक मानसिक शान्ति देगा। पूर्ण प्रयोग तो आत्म-साक्षात्कार के साथ ही पूरा होगा।

**आसन –** महर्षि पतंजलि ने सुखपूर्वक बैठने की मुद्रा को आसन कहा है। सिद्धान्त में आसनों के अंतर्गत हठयोग के अनेक आसन आ जाते हैं, परंतु व्यावहारिक रूप से इनसें से कुछ ही आसनों को सम्मिलित दिखाया गया है, जैसे, पद्मासन, सिद्धासन, आदि। पातंजल योग में आसनों का उद्देश्य विभिन्न तंत्रिका आवेगों का, दुःख और सुख की भावनाओं का तथा शीत और उष्ण जैसी विरोधी प्रतिक्रियाओं में संतुलन स्थापित करना है ।

**प्राणायाम –** प्राणायाम के अभ्यास का उद्देश्य मानव संरचना की समस्त प्राणशक्ति को केन्द्रित करना है। प्राणायाम से आत्मनियंत्रण तथा एकाग्रता की प्राप्ति होती है।

**प्रत्याहार –** प्रत्याहार का शाब्दिक अर्थ है – अन्दर समेटना। इसके अभ्यास का उद्देश्य मन की बहिर्मुखी वृत्तियों को रोकना है, जिससे चेतना को अन्तर्मुख किया जा सके। जो व्यक्ति बाह्य इन्द्रियों के अनुभवों से अशान्त एवं विक्षिप्त हो जाता हो उसके लिए मन के आन्तरिक क्षेत्रों की खोज असंभव है। अतः इन्द्रिय अनुभव, जैसे, ध्वनि, गंध आदि को समाप्त किया जाता है। ध्यान की सभी विधियाँ, यथा – अन्तर्मौन, अजपा जप, त्राटक आदि प्रारम्भ में प्रत्याहार की अवस्था लाने का लक्ष्य रखती हैं और आगे चलकर मानसिक एवं अतीन्द्रिय उत्तेजनाओं का भी निरोध करती हैं।

**धारणा –** धारणा का अर्थ मानसिक एकाग्रता होता है। इसे ध्यान की पूर्व तैयारी भी कहा जा सकता है, क्योंकि धारणा में सजगता को किसी एक बिन्दु

पर टिकाना होता है। यदि साधक ने प्रत्याहार में निपुणता प्राप्त कर ली हो तो उसके सभी बाहरी व्यवधान समाप्त हो जाते हैं। परन्तु अभी उसका मन भूतकाल की स्मृतियों, भविष्य की कल्पनाओं और मानसिक वार्तालाप से मुक्त नहीं हुआ होता है। मन अतीत के सुखद अनुभवों के विषय को सोचने और उन्हें भोगने का प्रयास करता है, तथा दु:खद अनुभवों से त्रस्त रहता है अथवा भविष्य से डरता रहता है या उसकी योजनायें बनाता रहता है।

मानसिक एकाग्रता प्राप्त करने के अनेक उपाय हैं। धर्मों में इसके लिये कर्मकाण्ड, मन्दिरों, गिरजाघरों में प्रार्थना, पूजा, भजन, कीर्तन आदि का विधान है। आंतरिक एकाग्रता के लिये पातंजल योग प्रतीक का उपयोग करता है। यह प्रतीक आपका गुरु, इष्ट, मंत्र कोई भी वस्तु अथवा आपके पैर का अँगूठा भी होता है। प्रतीक ऐसा हो जो स्वत: आपका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सके। अस्तु, अपने स्वभाव, मन, और व्यक्तित्व के अनुकूल सावधानीपूर्वक प्रतीक का चुनाव करना चाहिए। आँखें बन्द करते ही बन्द आँखों के समक्ष चिदाकाश में प्रतीक में आपका मन, प्राण और समूचा व्यक्तित्व डूब जाए। जब तक प्रतीक आपको सहज अपनी ओर आकृष्ट नहीं करेगा तब तक आपकी आत्मा और मन बिखरे रहेंगे।

धारणा के लिये सतत् नियमित अभ्यास जरूरी है। धीरे-धीरे साधक को अपने प्रतीक के गहन पक्षों के दर्शन होते हैं और वह स्वमेव ध्यान में पहुँचता है।

**ध्यान –** संक्षेप में ध्यान धारणा का विस्तार है। जब साधक लंबे समय तक अपने प्रतीक पर मन को अविचलित, तैल धारावत् टिकाए रहता है तो उसे ध्यान कहते हैं। मन अपने प्रतीक पर एकदम टिका रहता है, उसमें चंचलता अथवा विचलन जरा भी नहीं होता। धीरे-धीरे द्वैतभाव समाप्त होता है। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की प्रक्रिया, तीनों एकरूप हो जाते हैं और साधक समाधि में चला जाता है।

**समाधि –** महर्षि पतंजलि समाधि के विभिन्न धरातलों की चर्चा करते हैं, पर कठोपनिषद् (111:10) में एक सुन्दर परिभाषा है –

*यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।*
*बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु: परमां गतिम् ॥*

"जब मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और बुद्धि के व्यापार भी थम जाते हैं तब वह अवस्था सर्वोच्च अवस्था है, ऐसा ऋषिगण कहते हैं।"

यही वह अवस्था है जब मन की अन्त: और बाह्य वृत्तियों का अभाव हो जाता है और केवल सजगता रह जाती है। समाधि से आत्म-साक्षात्कार प्राप्त होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता (2:53) में भी कहा गया है –

*श्रुति विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।*
*समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥*

"जिस समय शास्त्रीय मतभेदों से विचलित हुई बुद्धि निश्चल हो जायेगी और समाधि में अचल हो जायेगा उस समय तू योग को प्राप्त हो जायेगा।"

योग चूड़ामणि उपनिषद् (111– 113) में समाधि की अत्यन्त सौम्य व्याख्या और परिभाषा है –

*प्राणायाम द्विषटकेन प्रत्याहार: प्रकीर्ति:।*
*प्रत्याहार द्विषटकेन जायते धारणा शुभा ॥*
*धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योग विशारदै ।*
*ध्यान द्वादशकेनैव समाधिभिरधीयते ॥*

"योगियों ने कहा है कि बारह प्राणायामों (दीर्घ) से एक प्रत्याहार होता है, बारह प्रत्याहारों (दीर्घ) से एक धारणा होती है। बारह धारणाओं से एक ध्यान बनता है और बारह ध्यान से समाधि घटित होती है।"

## उच्च साधकों के लिए अष्टांग योग

योग सूत्र सर्व विदित हैं। फिर भी अष्टांग योग उनके लिए है जिन्होंने अपने मानसिक द्वन्द्वों और समस्याओं को प्राय: समाप्त कर लिया है। ये सामान्य लोगों के लिए हैं भी नहीं। *'अथ योगानुशासनम्'*, सूत्र से यह ग्रन्थ प्रारम्भ होता है। 'अथ' अर्थात् 'अब इसलिए' का तात्पर्य है व्यक्ति अष्टांग योग का अभ्यास पर्याप्त तैयारी के बाद ही करने योग्य होता है। अधिक आधारभूत ग्रन्थों का उत्तरार्घ है योग सूत्र। हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है –

*श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोग विद्या ।*
*विभ्राजते प्रोन्नत राजयोगामारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥1.1॥*
*प्रणम्य श्री गुरु नाथं स्वात्मारामेण योगिना ।*
*केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥1.2॥*

*भ्रान्त्या बहुमतध्वान्ते राजयोगमजानताम् ।*
*हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥1.3॥*

"शिव को प्रणाम है जिन्होंने राजयोग के शिखर तक पहुँचने के लिए सीढ़ी के रूप में हठयोग की शिक्षा दी, क्योंकि भ्रान्ति एवं मिथ्या धारणा के कारण अधिकतर लोग राजयोग के अभ्यास के योग्य नहीं हो पाते हैं। स्वात्माराम ने अज्ञान को समाप्त करने हेतु हठयोग को प्रस्तुत किया।"

*पीठानि कुंमकाश्चित्रा दिव्यानि करणानिच ।*
*सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोग फलावधिः ॥1.67॥*

"हठयोग के आसन, विभिन्न प्राणायाम एवं विभिन्न अन्य अभ्यास में निपुणता प्राप्त करने के बाद ही व्यक्ति राजयोग के अभ्यास करने की योग्यता प्राप्त करता है। बिना तैयारी के व्यक्ति पातंजल योग में प्रगति नहीं कर सकता है।"

अष्टांग योग को उच्च अभ्यास क्यों कहा जाता है? प्रथम कारण है कि इनमें अपने विचारों पर संयम की बात कही गई है। परन्तु जिनका मन अशान्त है उनके लिए यह लाभ के बदले हानिकर हो सकता है। यह केवल तभी संभव है जब मन की चंचलता कम हो और व्यक्ति विचारों पर संयम कर सके। घर-आंगन की स्वच्छता को नष्ट करने वाले तिलचट्टों को कुचलना आसान है, परन्तु जंगली हाथी को वशीभूत करना अत्यंत कठिन होता है। किसी भी सामान्य व्यक्ति के लिए यह कदापि उचित नहीं होगा कि वह अपने विचारों और कामनाओं को बलात् दबाए।

एक औसत व्यक्ति के लिये यम और नियम के सामान्य नियम भी कठिन हैं। यह उन व्यक्तियों के लिये ही संभव है जिन्होंने अपने कर्म और संस्कारों को प्रायः निःशेष कर लिया है। उदाहरण के लिए, यदि अधिकतर लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत ले लें तो वे स्नायु-रोगी हो जाएँगे। यह व्रत ऐसे लोगों द्वारा धारण किया जा सकता है जिनकी अधिकाधिक इच्छा तथा वासनाएँ समाप्त हो गई हैं तथा मन शुद्ध हो चुका है।

पातंजल योग के सोपान नये अभ्यासियों के लिए नहीं, अपितु उन्नत साधकों के लिए हैं। मन की शुद्धि के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति को हठयोग, कर्मयोग, भक्तियोग तथा ध्यान की सामान्य विधियों का अभ्यास करना चाहिए,

जिसमें सजगता सम्मिलित हो। इनके साथ-साथ पातंजल योग की कुछ अन्य विधियों का भी अभ्यास करना चाहिए। ये विधियाँ अष्टांग योग के अभ्यास के लिए व्यक्ति को तैयार करेंगी और गुरु से मिलायेंगी, जो उन्हें व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देंगे।

## सम्बद्ध यौगिक तकनीकें

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योग अष्टांग योग तक सीमित नहीं है। यह एक ऐसी एकीकृत पद्धति है जिसके अंतर्गत अनेक अन्य योगाभ्यासों का समावेश है। महर्षि स्वयं अनेक अभ्यासों का उल्लेख करते हैं जिनसे व्यक्ति के मन और जीवन में समस्वरता आती है। परन्तु उनकी विवेचना और वर्णन संक्षिप्त एवं सारगर्भित हैं। गुरु की सहायता और मार्गदर्शन के अभाव में उनके सही मंतव्य को समझ पाना बड़ा कठिन है।

स्वामी सत्यानन्द ने अपने गहन ज्ञान तथा व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर बहुत से गूढ़ सूत्रों के निहितार्थ पर अत्यंत स्पष्ट प्रकाश डाला है। उदाहरण के लिए, सूत्र 1:32 – 39 में विभिन्न ध्यान की तकनीकों, यथा – योगनिद्रा, अन्तर्मौन, खेचरी मुद्रा आदि के आधार का वर्णन है। सूत्र 1:27– 29 में मंत्र अथवा अजपा जप का महत्त्व स्पष्ट किया गया है। यह टीका उनके प्रच्छन्न अर्थ पर पर्याप्त प्रकाश डालती है ।

मानव व्यक्तित्व को व्यापक रूप से चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है: भावनात्मक, सक्रिय, ज्ञानी तथा संकल्पवान। महर्षि पतंजलि इस तथ्य को स्पष्ट रूप से जानते थे कि हर व्यक्ति का स्वभाव तथा मानसिक प्रवृत्ति उसके भीतर उपस्थित इनमें से एक या अधिक श्रेणियों की प्रबलता के अनुरूप होती है। इसलिए वह मानते थे कि व्यक्ति के गुणविशेष के अनुरूप उपयुक्त योगमार्ग प्रस्तुत करना आवश्यक है। इसलिए वे सुझाव देते हैं –

**भक्तियोग** – समर्पणशील भावुक लोगों के लिये उपयुक्त है (सूत्र 1:23, 2:1, 2, 2:45 आदि)।

**ज्ञानयोग** – यह मार्ग ऐसे व्यक्तियों के लिए है जो ज्ञानी होते हैं। महर्षि ऐसे लोगों को ॐ के यथार्थ का अनुशीलन करने की सलाह देते हैं (सूत्र 1:27– 29) और पर्याप्त रूप से उच्चतर उपलब्धि के साधन सांख्य दर्शन पर भी प्रकाश डालते हैं (सूत्र 2:20 – 21)। वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि समस्त मानसिक, बौद्धिक ज्ञान सीमित होते हैं।

**राज अथवा पातंजल योग** – दृढ़ इच्छाशक्ति वाले संकल्पवान साधकों के लिये उपयुक्त है, और यही योग सूत्र का सार है।

**कर्मयोग** – कर्मयोग प्रकृति से चंचल और सक्रिय लोगों के लिए है, ऐसा स्पष्ट रूप से तो नहीं कहा गया है, पर अनेक सूत्रों में ऐसा निहित है। उदाहरण के लिए, यम और नियम का पालन, दैनिक जीवन में अपने कार्य और कर्त्तव्यों को पूरा करना कर्मयोग ही तो है। भक्तियोग के सूत्रों में भी कर्मयोग की भावना छिपी है।

महर्षि जानते थे कि भक्तियोग की सफलता स्वत: राजयोग की सफलता की ओर ले जाती है; और ज्ञानयोग राजयोग में पूर्णता प्रदान करता है। वे जानते थे कि राजयोग के मार्ग पर चलने वाले साधक को अपने समग्र अस्तित्व को समन्वित करना चाहिए। उसे तुच्छ मानसिकता, अहंकार आदि को किसी-न-किसी प्रकार दूर करना होता है। मन की नकारात्मक वृत्तियों और क्षुद्रताओं को मिटाना पड़ता है।

*अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोध: ॥1.12॥*

"केवल वैराग्य और अभ्यास द्वारा वृत्तियों का निरोध संभव है ।"

इस कथन के अंतर्गत सभी योगमार्ग और योग की विधियाँ आ जाती हैं। किसी को छोड़ा नहीं गया है। वे सब योग में सफलता की उपलब्धि कराती हैं।

## वियोग द्वारा योग

अनेक लोग जानते हैं कि योग का अर्थ मिलन होता है। परन्तु योग सूत्र में पातंजल योग को वियोग की प्रक्रिया कहते हैं। इस विरोधाभास की व्याख्या कैसे हो? सांख्य दर्शन की सहायता से इसे समझा जा सकता है, जो 'योगसूत्र' का आधार है।

सांख्य अस्तित्व और जीव को पुरुष और प्रकृति के दो पक्षों में विभाजित करता है। स्मरण रहे कि यह भी अन्य दर्शनों के समान ही एक दर्शन है, जो सत्य की यथार्थ प्रस्तुति नहीं कर सकता है। जब पुरुष और प्रकृति का संयोग होता है तब अस्तित्व और जीव उत्पन्न होते है। पुरुष का अर्थ द्रष्टा और प्रकृति का दृश्य है। पुरुष अनात्म तत्त्व है और प्रकृति आत्मगत तत्त्व है।

योग की प्रक्रिया और अभ्यास का सम्बन्ध वियोग, पुरुष और प्रकृति को अलग करने, द्रष्टा को दृश्य से अलग करने, और शरीर-मन रूपी यंत्र

के साथ तादात्म्य से चेतना को अलग करने से है। सजगता और शरीर-मन के वियोग और अन्तर को व्यक्तिगत अनुभव से ही समझा जा सकता है। कितना भी अध्ययन और कितनी भी वार्ता इस अन्तर की वास्तविकता और सत्य को व्यक्ति के मन में बिठा नहीं सकती। केवल व्यक्तिगत, अभिभूत और विचलित करने वाले अनुभव से ऐसा संभव होता है। व्यक्तिगत अनुभव मनुष्य का जीवन बदल सकता है। यह एक ऐसा आधार देता है जहाँ पर अपने जीवन को समझा और उसका पुनर्मूल्यांकन किया जा सकता है। मनुष्य अपने जीवन के नये आयाम को, जिसका उसने कभी अनुमान भी नहीं किया होगा, देख सकता है।

योग प्रक्रिया का उद्देश्य वियोग, द्रष्टा और दृश्य का पार्थक्य है; इसकी परिणति योग में, संयोग में होती है। पहले पुरुष और प्रकृति को पृथक् करना है, और जब यह हो जाता है, तब वे एक ही मालूम पड़ते हैं। वियोग (योग का अभ्यास) उच्चतर स्तर पर योग तक पहुँचाता है।

अन्य शब्दों में, शुद्ध चेतना (पुरुष) भ्रामक तादात्म्य के द्वारा सजगता के स्तर पर मन और शरीर के साथ बंध जाती है। योग का उद्देश्य पुरुष को प्रकृति से मुक्त करना है। स्वामी सत्यानन्द जी योग को पारिभाषित करते हुए कहते हैं –

'एक विधि जो चेतना को मन की उलझन तथा व्यक्त जगत् से वियुक्त करती है। योग उसका परिणाम है।'

शुद्ध चेतना की, मन और शरीर की पकड़ से मुक्ति के अनुभव द्वारा, साधक को सभी वस्तुओं में एक आधारभूत एकता का ज्ञान होता है। समस्त योगमार्ग और योग की विधियाँ शरीर और मन की सीमाओं को मिटाने की प्रक्रिया का उपयोग करती हैं जिससे अनुभवेतर ज्ञान अपनी संपूर्ण आभा में प्रकाशित होता है। मन की पूर्णता शुद्ध चेतना का स्वाभाविक प्रकाश प्रकट करती है।

## मन का स्वभाव

आधुनिक मनोविज्ञान मन को सजगता और चेतना का स्रोत मानता है। महर्षि पतंजलि स्पष्ट रूप से यौगिक दृष्टिकोण प्रकट करते हैं कि मन चेतना का स्रोत नहीं हो सकता है, क्योंकि इसे भी एक वस्तु के समान देखा जा सकता है (4:19) मन स्वप्रकाशित नहीं होता।

आधुनिक विज्ञान मन और चेतना, दोनों को पदार्थ की अभिव्यक्ति मानता है। दूसरी ओर योग की मान्यता है कि पदार्थ मन का स्थूल और अभिव्यक्त रूप

है। पदार्थ मन से नियंत्रित होता है, मन पदार्थ से नहीं। हम अपने चारों ओर जिस भौतिक जगत् को देखते हैं वह वस्तुतः सत्ता के अधिक सूक्ष्म मानसिक पक्ष की अभिव्यक्ति है।

इन दो बुनियादी अंतरों को छोड़कर मन से संबंधित अन्य अनेक बिन्दुओं पर योग और आधुनिक विचारधारा में सहमति है। मनोवैज्ञानिक युंग मन के तीन पक्ष मानते हैं – चेतन, अवचेतन तथा अचेतन। योग की शब्दावली में इसका निम्नलिखित ढंग से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है –

1. **चेतन मन** – स्थूल, जाग्रत।
   सतही विचार और स्थूल जगत् का बोध।
2. **अवचेतन मन** – सूक्ष्म, स्वप्न।
   वैयक्तिक स्मृति, संस्कार।
3. **अचेतन मन** – कारण, सुषुप्ति।
   ब्रह्माण्ड के सामूहिक संस्कार तथा स्मृति।

मन के इन क्षेत्रों में मनुष्य के अन्तर्जात, बौद्धिक, मानसिक और अन्तर्प्रज्ञात्मक पक्ष निहित हैं। पातंजल योग का प्रयोजन मन के उपर्युक्त पक्षों का अन्वेषण कर उन्हें जानना है। उसका लक्ष्य चेतन से अवचेतन और अवचेतन से अचेतन में पहुँचना है।

कुछ ही लोग मन की अतल गहराई को जानते और समझ पाते हैं। किसी आधुनिक मनोवैज्ञानिक पद्धति ने इसकी विषय-वस्तु को बताने का प्रयास भी नहीं किया है। परन्तु आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व पातंजल योगसूत्र के भाष्यकार वेदव्यास ने अवचेतन और अचेतन मन को सात भागों में विभक्त किया था, जो निम्नानुसार है –

1. दमित संस्कार (व्यक्ति द्वारा मन के दमन से उत्पन्न संस्कार)
2. ऐसे संस्कार जो मनुष्य को एक निर्धारित ढंग से कार्य के लिये प्रेरित करते हैं। ये पूर्व जन्म की स्मृतियाँ हैं, जो व्यक्ति के कार्यों, रोगों, प्रतिभा आदि को नियत करती हैं। यह मनुष्य के वंशानुक्रम से सम्बन्धित होता है।
3. पूर्व कृत्यों की सुप्त, अनभिव्यक्त स्मृतियाँ। ये स्मृतियाँ व्यक्तिगत चेतना की सामान्य सीमा के परे समष्टि चेतना में छुपी और संचित रहती हैं।
4. भौतिक और प्राणिक शरीर के प्रवृत्तिजन्य कार्यों को नियंत्रित करने वाली सहज क्रियाएँ हैं। हमें किसी से भोजन पचाना सीखना नहीं पड़ता। यह क्षमता व्यक्ति के मन में पहले से ही निर्धारित रहती है।

5. हमारा मन चाहे कितना भी सूक्ष्म अथवा स्थूल हो, प्राणों से बना है। प्राण ही मन के साधन हैं जो विचारों के अनुरूप कार्य कराते हैं।
6. मन की स्वाभाविक वृत्तियाँ – मन अपनी प्रकृति के अनुरूप ब्रह्माण्डीय लय के साथ बदलता रहता है।
7. सिद्धियाँ – ये परासामान्य शक्तियाँ सामूहिक अचेतन अथवा ब्रह्माण्डीय मन के क्षेत्र में घटित होती हैं।

यह एक व्यापक सूची है और निश्चित रूप से विचारों को प्रेरित करने वाली है। यह मन की प्रकृति और उसके विस्तार का संकेत देती है। योगमार्ग में ये एक के बाद एक प्रकट होती हैं।

ब्रह्माण्ड के समस्त रहस्य हमारे मन में हैं। वर्तमान में जितने ज्ञान विद्यमान हैं, भूतकाल में जितने थे और भविष्य में जितने होंगे, वे सभी हमारे मन में हैं। मन में अति सूक्ष्म से लेकर अति स्थूल तक अभिव्यक्तियों की परतें भरी पड़ी हैं। महर्षि पतंजलि के योग का उद्देश्य धीरे-धीरे वैयक्तिक मन की वर्जनाओं और मल के आवरणों को दूर करना है, उसमें निहित संभावनाओं का अन्वेषण और विकास करना है तथा धीरे-धीरे उसे सामूहिक मन को अभिव्यक्त करने का माध्यम बनाना है, क्योंकि वैयक्तिक मन सामूहिक मन का ही अंश है। पातंजल योग तथा अन्य योगमार्गों का उद्देश्य मन की सीमा से आगे जाना और अ-मन (नो माइंड), अर्थात् परमचेतना की गहरी खाई में छलांग लगाना है।

## सिद्धियाँ अथवा परासामान्य शक्तियाँ

सिद्धियों में विचार सम्प्रेषण, दूरश्रवण, अतीन्द्रिय दृष्टि, अघटित घटनाओं का पूर्वानुमान जैसी अन्य कम ज्ञात शक्तियाँ सम्मिलित हैं। ये मन के परावैयक्तिक क्षेत्रों के माध्यम से प्रकट होती हैं। सिद्धियों का उदय समष्टि-अचेतन मन में होता है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक वैयक्तिक मन, और सभी चीजें अन्य चीजों से घनिष्ठ रूप से जुड़ी रहती हैं। सिद्धियाँ भूत, भविष्य अथवा देशकाल से परे क्षेत्रों में भी घटित हो सकती हैं। वे कितनी ही आश्चर्यजनक क्यों न लगें, पर वे मन के भीतर होने वाली मात्र अभिव्यक्तियाँ ही कही जाती हैं। हाल ही के वर्षों में रूस तथा अन्य देशों में वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा इन विभिन्न मानसिक घटनाओं को मापा गया। पर इन वैज्ञानिक जाँच पड़तालों की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है; क्योंकि व्यक्ति योग मार्ग में व्यक्तिगत रूप से इनमें से कुछ को प्राप्त कर सकता है।

'योग सूत्र' के अनेक सूत्रों में अनेक ज्ञात और अज्ञात सिद्धियों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। परन्तु उनमें साधकों को बार-बार सचेत किया गया है कि सिद्धियों के चक्कर में पड़ने या उनसे खेलने का प्रयास न करें। यदि उनका व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिये प्रयोग किया जाता है तो प्रयोगकर्ता और जिनके लिये उनका उपयोग किया जाता है, दोनों के लिए वे खतरनाक हो सकती हैं। योग का लक्ष्य सिद्धियों की प्राप्ति नहीं, अपितु अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार है। ये गुजर जाने वाली दृश्यावलियाँ हैं। जैसे-जैसे साधक का मन शुद्ध एवं एकाग्र होगा, ये निश्चित रूप से प्रकट होंगी। इसलिये साधक को इनके प्रति एकदम निष्ठुर रूप से उदासीन रहना चाहिये।

योग मार्ग में प्रलोभन अधिकाधिक सूक्ष्म होते जाते हैं। उनसे खेलने के प्रलोभन से दूर रहना बड़ा कठिन होता है। फिर भी यदि आप उनसे खेलने लगें तो आपको अपने इस अविवेकपूर्ण कार्य की कीमत चुकानी होगी। सभी महान् संतों, योगियों आदि ने प्रलोभन के विरुद्ध अपने संघर्ष का उल्लेख किया है, महात्मा बुद्ध और ईसा मसीह भी उनमें सम्मिलित हैं। अहंकारी मन में सिद्धियों का प्राय: उदय नहीं होता। यदि कभी ऐसा हो जाये तो मन में और उसके अधिक सूक्ष्म क्षेत्रों में पूर्ण अराजकता उत्पन्न होती है। इसलिये कभी भी सिद्धियों के लिये योगाभ्यास न करें। सबसे पहले अपनी कामनाओं की तृप्ति सुरक्षित भौतिक जगत् में ही कर लें।

## उत्कृष्ट मनोचिकित्सकीय पद्धति

अत्याधुनिक मनोचिकित्सकीय पद्धतियों का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को 'सामान्य' बना देना होता है, अब इस शब्द का जो भी अर्थ होता हो। पातंजल योग भी यही करने का प्रयास करता है। परन्तु वह इससे भी आगे जाता है। वह साधक को एक ऐसा सामर्थ्य प्रदान करना चाहता है जिससे वह अपने मन की सभी परतों का अन्वेषण कर आत्म-साक्षात्कार तथा मुक्ति प्राप्त कर सके। अस्तु पातंजल योग को आधुनिक मनोचिकित्सकीय पद्धति की परिणति कह सकते हैं, जिसकी ओर अन्तत: मार्गदर्शन के लिये सभी आशाभरी निगाहों से देखते हैं। इसमें दो सौ से भी कम सूत्र हैं और यह दो हजार वर्ष पूर्व लिखा गया था।

जैसे-जैसे आप टीका सहित इन सूत्रों का अध्ययन करते जायेंगे, वे विधियाँ प्रकट होती जायेंगी जिनसे मन की गुत्थियों को सुलझाया जा सकता है। निम्नलिखित कुछ उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं–

महर्षि पतंजलि ने संक्षेप में उन तकनीकों का उल्लेख किया है जिनका उपयोग मनोचिकित्सा के क्षेत्र में किया जाता है। इनका उल्लेख 1:32 – 39 सूत्रों में है। सूत्र 32 कहता है कि किसी भी एक वस्तु में गहरी दिलचस्पी लेनी चाहिये, चाहे वह किसी प्रकार का शौक हो या काम, इसे व्यावसायिक चिकित्सा भी कहा जाता है। सूत्र 33 कहता है कि दूसरों के प्रति सकारात्मक मनोवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिये। इसमें आत्मनिर्देश का भी समावेश होता है, जो मनोचिकित्सक अपने मरीजों को देता है। सूत्र 34 श्वास-प्रश्वास के नियंत्रण की बात कहता है। यह सर्वविदित है कि अनियंत्रित श्वास-प्रश्वास और अशान्त मन में सम्बन्ध है और गहरी श्वास का उपयोग मन में शान्ति लाने के लिए होता है।

सूत्र 35 तथा 36 कहते हैं कि व्यक्ति को इंद्रियों द्वारा होने वाली अनुभूतियों पर मन एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिये। इसमें संगीत चिकित्सा तथा मालिश आदि से मन को शांत किया जा सकता है। सूत्र 37 कहता है कि उस व्यक्ति पर मनन-चिन्तन करना चाहिये जिसे उच्च चेतना की उपलब्धि हो चुकी है। ऐसे व्यक्ति से उनका तात्पर्य योगी अथवा अपने गुरु से है, वह मनोचिकित्सक भी हो सकता है। वस्तुत: अन्यान्य चिकित्सा पद्धतियाँ चिकित्सक पर रोगी की पूर्ण आस्था पर ही निर्भर करती हैं। इस विश्वास के अभाव में सफल चिकित्सा कभी हो नहीं सकती है। सूत्र 38 स्वप्न चिकित्सा की बात करता है, जो प्राय: आधुनिक चिकित्सा विधियों का आधार है। अंत में सूत्र 39 ध्यान योग की बात कहता है। अभी हाल के वर्षों में आधुनिक मनोचिकित्सा ने ध्यानाभ्यास के उपचारात्मक महत्त्व को स्वीकारा है। उपर्युक्त सभी युक्तियाँ मन का शुद्धिकरण तो करती ही हैं, उसकी अतल गहराइयों में छुपी स्मृतियों को सतह पर लाकर उन्हें नि:शेष करती हैं।

सूत्र 1:31 में मानसिक अशान्ति के लक्षण गिनाए गए हैं। इनमें व्याधि, विषाद, निरुत्साह और भारी तथा लयहीन श्वास-प्रश्वास शामिल हैं।

मनुष्य की एक सार्वभौम समस्या दु:ख है। कुछ पैने सारगर्भित सूत्रों में महर्षि पतंजलि दु:ख के कारण तथा उनके निराकरण का उपाय सुझाते हैं। आज तक हजारों नये और पुराने ग्रंथ, दर्शन और मनोवैज्ञानिक पद्धतियाँ जिस बात को पूर्ण सफलता के साथ प्रतिपादित नहीं कर सकी हैं, उसे महर्षि पतंजलि ने बड़ी स्पष्टतापूर्वक अनावश्यक विस्तार में गए बिना कम-से-कम शब्दों में समझा दिया है। ये सूत्र अत्यंत स्पष्ट, व्यापक तथा तर्कपूर्ण हैं, यहाँ हम संक्षेप में इन पर चर्चा करेंगे। हालाँकि टीका में इन पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है।

सूत्रों के महत्त्व को बनाए रखने के उद्‌देश्य से हमने उनके अनुवाद में थोड़ा बहुत अन्तर किया है। सर्वप्रथम तो महर्षि पतंजलि कहते हैं –

*"अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष तथा मृत्यु का भय कुछ मूलभूत मानसिक तनाव हैं (जो हमें दु:खी करते रहते हैं)।"* (2:3)

यह सूत्र हमारे समस्त दु:खों के कारणों को हमारे समक्ष रख देता है। इसके आगे के सूत्र इन तनावों के निहितार्थ पर प्रकाश डालते हैं।

*"यथार्थ का अज्ञान मूल तनाव है जिससे अन्य तनाव उत्पन्न होते हैं। ये तनाव प्रसुप्त, हल्के, विच्छिन्न या अभिव्यक्त अथवा उदार हो सकते हैं।"* (2:4)

महर्षि पतंजलि कहते हैं कि अपने असली स्वभाव का अज्ञान ही चेतन या अवचेतन तनावों का मूल कारण होता है। जब तक व्यक्ति अपने सही स्वरूप को नहीं जान लेता, तनाव और दु:ख सदा किसी-न-किसी रूप में रहेंगे।

व्यक्तित्व के विभिन्न तलों पर काम करने वाले तनावों की व्याख्या कुछ इस तरह करते हैं –

1. **प्रसुप्त** – अवचेतन मन में मूलबद्ध रहते हैं तथा हमें इनकी जानकारी भी नहीं रहती। जैसे-जैसे हमारा योगाभ्यास गहराता है, हमें इनके दर्शन होने लगते हैं।
2. **हल्के** (तनु) – गौण, नगण्य।
3. **विच्छिन्न** – जो जीवन में स्नायु-रोग, भीति और विषाद उत्पन्न करते हैं। योगाभ्यास आत्म-स्वीकृति लाकर तथा प्रवृत्तियों को सन्तुलित कर अन्तत: इन तनावों को समाप्त करता है।
4. **व्यक्त अथवा उदार** – चेतन तनाव जिन्हें हम दैनिक जीवन में देख तथा अनुभव कर सकते हैं ।

उपर्युक्त तनाव स्थूल से लेकर अत्यन्त सूक्ष्म तक, सभी प्रकार के होते हैं। समस्त तनावों का मूल कारण, जो महर्षि पतंजलि के अनुसार अज्ञान है, वह क्या है? अपने अगले सूत्र में वे प्रकाश डालते हैं –

*"विनाशी को अविनाशी, अपवित्र को पवित्र, दु:ख को सुख तथा अनात्मा को आत्मा मान बैठना ही अज्ञान है।"* (2:5)

स्वरूप के ज्ञान का अभाव ही अज्ञान कहा जाता है और यही तमाम दु:खों की जड़ है। नियमित एवं निरंतर योगाभ्यास से प्राप्त होने वाले ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान का धीरे-धीरे नाश होता है। अज्ञान का स्रोत तो स्वयं हमारा मन है, क्योंकि वह विभेदीकरण और भिन्नता के सिद्धान्त पर कार्य करता है। मन की प्रकृति के अधिक ज्ञान और अन्तत: उसके अतिक्रमण द्वारा अज्ञान को धीरे-धीरे दूर किया जा सकता है। मन के कारण चेतना का मन-शरीर के साथ भ्रामक तादात्म्य होता है। जब चेतना का मन और शरीर से विच्छेद होता है तो वह वियोग की अवस्था होती है और उस अवस्था में साधक मूल अज्ञान के नाश की ओर बढ़ता है और फिर दु:ख के गौण कारणों का नाश होता है। अज्ञान अहंकार को जन्म देता है जिसे अगले सूत्र में समझाते हैं–

*"शरीर और मन से द्रष्टा (पुरुष) का भ्रामक तादात्म्य ही अहंकार है।"* (2:6)

लोग स्वयं का शरीर और मन से मिथ्या तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं जिससे अहम् की गहन अनुभूति होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने सीमित स्वार्थों की पूर्ति के लिये अपनी इच्छा दूसरों पर थोपने की कोशिश करता है। वह हर कीमत पर अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति करना चाहता है। इसकी कीमत दु:ख और हताशा होती है, क्योंकि अहम् कभी भी पूरी तरह संतुष्ट नहीं होता।

अहंकार ही सांसारिक वस्तुओं से राग-द्वेष उत्पन्न करता है।

*"संसार के सुखों में तल्लीन होना ही राग है। इसके विपरीत उनके प्रति विकर्षण ही द्वेष है।"* (2:7-8)

राग-द्वेष और रुचि-अरुचि, ये दो तनाव जीवन में संघर्ष और दु:ख उत्पन्न करते हैं, क्योंकि वास्तविक जीवन में व्यक्ति की आवश्यकतायें और अपेक्षायें शायद ही कभी पूरी होती हैं।

राग-द्वेष से मृत्यु का भय उत्पन्न होता है, क्योंकि व्यक्ति अपने सुख और अपनी वैयक्तिकता को यथावत् रखना चाहता है। महर्षि पतंजलि कहते हैं–

*"सभी लोगों में मृत्यु का भय जन्मजात एवं प्रबल शक्ति के रूप में होता है, यहाँ तक कि उन लोगों में भी जो बड़े विद्वान् हैं।"* (2:9)

तनाव और दु:ख की यह कारणात्मक शृंखला तर्कसम्मत होती है। अज्ञान अस्मिता को जन्म देता है; अस्मिता राग-द्वेष उत्पन्न करती है और इनसे मृत्यु

का भय उत्पन्न होता है। इस मौलिक अज्ञान और अन्य तनावों की समाप्ति से पूर्ण सुख की प्राप्ति हो सकती है। इसे किस प्रकार किया जाये?

*"दुःख के इन कारणों का समूल निराकरण कर और ध्यान के द्वारा उससे सम्बन्धित मानसिक अवस्थाओं को समाप्त कर किया जा सकता है।"* (2:10-11)

इस प्रकार ध्यान की विधियों के द्वारा मन की जाँच कर तनाव समाप्त किया जा सकता है।

ये कुछ सूत्र हैं जो मानसिक समस्याओं, तनावों तथा दुःखों की प्रकृति के सार को तथा उन्हें समाप्त करने की विधि को प्रस्तुत करते हैं। इन सूत्रों पर प्रकाश डालने में एक विश्वकोश तैयार हो सकता है। इन सूत्रों के आधार पर सम्पूर्ण मनोचिकित्सा पद्धति का विकास किया जा सकता है। पातंजल योग मनुष्य के असन्तोष को मिटाने का एक सफल प्रयास करता है; जबकि अन्य पद्धतियाँ मानव दुःखों की सतह से नीचे नहीं जा पाती हैं। महर्षि पतंजलि दुःख के मूल कारण तक जाने की अन्तर्दृष्टि देते हैं; इसके अभाव में दुःख कैसे दूर हो सकते हैं? अतः सूत्र सर्वप्रथम कारणों को स्पष्ट करते हैं तथा उसके बाद उसे दूर करने की युक्ति प्रदान करते हैं। केवल इसी प्रकार व्यक्ति वह सुख प्राप्त कर सकता है जो उसके स्वप्न की पहुँच से भी बाहर है।

कुछ सहस्र शब्दों में महर्षि पतंजलि ने ज्ञान के भंडार को समेट दिया है। जहाँ तक हमारा विचार है, इसे मनोचिकित्सकों का संदर्भ-ग्रंथ होना चाहिए। इसे मनोविज्ञान और मनोचिकित्सा का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ होना चाहिए। व्यावहारिक ज्ञान के इस अनुपमेय ग्रंथ के प्रति हमारा यह श्रद्धाभाव है।

## इस भाष्य की आवश्यकता

महर्षि पतंजलि अथवा जिस किसी ने भी योगसूत्र का सृजन किया, वह मनीषी रहा होगा। वह आज के महानतम वैज्ञानिकों से महान् वैज्ञानिक तथा अधिकतम तार्किकों से अधिक तार्किक रहा होगा। उन्होंने अत्यन्त मितव्ययिता के साथ शब्दों का प्रयोग किया है। शब्दों की पुनरुक्ति से वे अछूते थे। कहीं-कहीं उनके वाक्य विन्यास में अधूरापन है, परन्तु प्रत्येक शब्द अत्यन्त सारगर्भित और महत्त्वपूर्ण हैं, कुछ स्पष्ट हैं तो कुछ गुप्त। सूत्रों के वास्तविक अभिप्राय को नहीं समझ पाने अथवा गलत समझ लेने की सम्भावना रहती है। उनके निहितार्थ

का सही प्रतिपादन कोई वर्तमान योगी ही कर सकता है; इसके अतिरिक्त इन सूत्रों की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए कि वह आधुनिक मानवों के लिए बोधगम्य हो। यही कारण है कि आधुनिक मनीषी एवं हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने अपने अभ्यास और व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर इस भाष्य का प्रतिपादन किया।

प्रथम सोपान

# समाधि पाद

**(51 सूत्र)**

## सूत्र 1 – योग परिचय

*अथ योगानुशासनम् ॥1॥*

अत: अब योग सम्बन्धी सम्पूर्ण शिक्षा (दी जा रही है)।

'अथ' – सर्वप्रथम हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि शास्त्रकार ने अथ शब्द का प्रयोग क्यों किया है। वे अत्र *योगानुशासनम्* भी लिख सकते थे, जिसका अर्थ होता 'यहाँ योग की सम्पूर्ण शिक्षा दी जा रही है', फिर भी उन्होंने 'अथ' शब्द का ही प्रयोग किया। 'अथ' का अर्थ है 'अब, यहाँ से' जिसका तात्पर्य है – योग सम्बन्धी इस सम्पूर्ण शिक्षा का सम्बन्ध पूर्व में दी गई कुछ शिक्षा से है। 'अथ' का प्रयोग यहाँ यह बताने के लिए किया गया है कि साधक स्वयं को कर्मयोग द्वारा निर्मल एवं मनोवृत्तियों को भक्तियोग द्वारा एकाग्र कर लेने के पश्चात् योग सम्बन्धी निर्देश प्राप्त कर रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि योग की जो शिक्षा दी जाने वाली है, वह उनके लिए ही बोधगम्य, फलवती एवं रुचिकर होगी जिन्होंने अपना हृदय निर्मल और मन शान्त कर लिया है, अन्यथा नहीं। जिनका मन मलिन तथा मनोवृत्तियाँ चंचल हैं वे उन अभ्यासों को नहीं कर सकेंगे जिनकी शिक्षा इस शास्त्र में दी गयी है। अत: यहाँ 'अथ' शब्द का प्रयोग स्वयं को कर्मयोग, भक्तियोग एवं अन्य प्रारंभिक अभ्यासों के योग्य बनाने की आवश्यकता पर बल देने के लिए किया गया है।

*'योग'* – योग का अर्थ बाद के सूत्र में दिया गया है।

'अनुशासनम्' – मूल शब्द 'शासन' है, 'अनु' उपसर्ग है जो इसकी पूर्णता का बोध कराता है। शासन का अर्थ होता है – व्यवस्था प्रदान करना, आज्ञा, आदेश, निर्देश देना। शास्त्र शब्द भी उसी धातु से बना है जिससे शासन। शास्त्र का शाब्दिक अर्थ ग्रन्थ नहीं होता। शास्त्र का शाब्दिक अर्थ होता है – निर्देश और व्यवस्था की प्रक्रिया। ईश्वर शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी धातु से हुई है। ईश्वर का अर्थ है – शासक, नियंता, नायक। सामान्य रूप ईश्वर के लिए इन्हीं शब्दों का प्रयोग होता है।

अत: आप समझ जायेंगे कि अनुशासन का अर्थ 'शिक्षा' होता है। आपने योग सूत्र पर अन्य टीकायें भी पढ़ी होंगी, जिनमें अनुशासन शब्द का अनुवाद पुनराभिव्यक्ति, विवरण, व्याख्या के रूप में किया गया है। यदि आप इस

शब्द का समुचित रूप से विश्लेषण करें तो आपको लगेगा ये अनुवाद सर्वथा असंगत हैं। ये योग सूत्र के संदर्भ में सुसंगत नहीं प्रतीत होते, क्योंकि योग सूत्र स्वयं में इतना सरल, संक्षिप्त और अल्प शब्दों वाला है कि उसकी न तो व्याख्या हो सकती है और न उसका विस्तार किया जा सकता है। वे केवल निर्देश ही हो सकते हैं।

यही योग है; इसी प्रकार आप योग का अभ्यास करते हैं; ये मन की अवस्थाएँ हैं; इसी प्रकार व्यक्ति प्रयोग करता है; योग में ईश्वर का यही स्थान है – ऐसे तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों की चर्चा इस पुस्तक में की गई है। व्यास, भोज, विज्ञानभिक्षु जैसे मनीषियों और अन्य लोगों के विवेचनाएँ, लघु टिप्पणियाँ, व्याख्याएँ, टीकाएँ, आलोचनाएँ आदि इनमें दी गयी हैं। अन्ततः हम ऐसा कह सकते हैं कि अनुशासनम् का अभिप्राय सम्पूर्ण शिक्षा से है।

## सूत्र 2 – योग क्या है?

*योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ॥ 2 ॥*

चित्त वृतियों का निरोध ही योग है।

इस सूत्र में चार शब्द आये हैं – योग, चित्त, वृत्ति और निरोधः। योग शब्द की व्याख्या हम यहाँ नहीं करेंगे, क्योंकि इसकी उपयुक्त जानकारी इन 195 सूत्रों के अध्ययन से हो जायेगी।

चित्त की व्युत्पति चित् धातु से हुई है, जिसका अर्थ होता है – देखना, सजग होना, चैतन्य होना। अतः चित्त का अर्थ हुआ वैयक्तिक चेतना, जिसमें मन की चेतन, अवचेतन और अचेतन तीनों अवस्थाएँ समाविष्ट हैं। वैयक्तिक मन की ये तीनों अवस्थाएँ अपनी समग्रता के साथ चित्त शब्द द्वारा प्रकट होती हैं। वेदान्त में चित्त शब्द भिन्न अर्थ में लिया गया है, परन्तु यहाँ चित्त को समग्र वैयक्तिक चेतना के रूप में लिया गया है, जिसमें तीन अवस्थाएँ हैं – वस्तुनिष्ठ चेतना का भाव, विषयगत या सूक्ष्म चेतना और अचेतन या सुषुप्त संभावनाओं की मानसिक अवस्था। चेतना की इन तीन शुद्ध अवस्थाओं को इस सूत्र में चित्त शब्द से समझना चाहिए।

माण्डुक्य उपनिषद् में चेतना के चार आयामों की चर्चा बड़े रोचक ढंग से की गई है। यदि आप इस उपनिषद् को या इसकी कोई टीका पढ़ें तो आपको अपनी व्यक्तिगत चेतना की जानकारी एकदम स्पष्ट हो जायेगी। इस सूत्र में चित्त चेतना के चार आयामों का प्रतिनिधित्व करता है, परन्तु वास्तव में यह चेतना के तीन आयामों का ही प्रतीक है। चेतना के तीन आयामों को चित्त कहते हैं और चौथे आयाम को आत्मा कहा जाता है। संक्षेप में आत्मा और चित्त का योग जीवात्मा कहलाता है, अर्थात् व्यक्ति सजगता; जीवात्मा से चित्त को निकाल दें तो आत्मा रह जाती है। यह शब्दों की अप्रत्यक्ष व्याख्या मात्र है।

निरोध का अर्थ क्या है? क्या इसका तात्पर्य अपने विचारों, दृष्टि, श्वसन, कामनाओं और व्यक्तित्व की कुण्ठाओं को अवरुद्ध करने और रोकने से है? यदि ऐसा है तो, इसका अर्थ यह हुआ कि महर्षि पतंजलि दमन को प्रवेश दे रहे हैं। यह तभी तक सत्य हो सकता है जब तक चित्त को सामान्य ज्ञान के

उपकरण, मन के संदर्भ में देखा जाये, परन्तु यदि चित्त को व्यक्ति की समग्र चेतना के रूप में देखा जाता है, जिससे मानसिक एवं खगोलीय क्षेत्रों में अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियाँ होती हैं, तब दमनात्मक क्रिया सम्बन्धी सभी भ्रम समाप्त हो जाते हैं।

इस सूत्र में ऊपरी तौर पर निरोध का अर्थ अवरोध की प्रक्रिया प्रतीत होता है, पर इसे सजगता के मूल तत्त्व को रोकने की क्रिया नहीं मानना चाहिए। वस्तुत: इस सूत्र में यह स्पष्ट है कि यहाँ सजगता के प्रतिरूपों को अवरुद्ध किया जा रहा है, सजगता को नहीं। एक योगाभ्यासी के रूप में आप निश्चित रूप से इस सूत्र में कही गयी इस उपयुक्त कथन से सहमत होंगे कि यौगिक ध्यान की अवस्था में सजगता का प्रतिरूप अवरुद्ध हो जाता है। इस अध्याय में आगे चलकर आप चित्त की मौलिक संरचना, प्रकृति, क्रिया और प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में और अधिक जानकारी प्राप्त करेंगे, पर इस सूत्र में यह संकेत दिया जा रहा है कि चेतना के प्रवाह को अवरुद्ध कर चेतना की एक भिन्न तथा मौलिक अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है।

जब आप रात्रि में बिस्तर पर जाते हैं और सजगता की अचेतन अवस्था में प्रवेश करते हैं, तो आपकी इन्द्रियगत सजगता, आपके शरीर और मस्तिष्क का क्या होता है? क्या उन सब की मृत्यु हो जाती है अथवा यह इन्द्रिय और मानसिक सजगता के प्रवाह को रोकने की प्रक्रिया है? निश्चित रूप से यह ऐसी अवस्था है जिसमें वैयक्तिक सजगता के क्षेत्र से मनोवैज्ञानिक कार्य अलग हो जाते हैं। उस समय वृत्तियों का प्रवाह बदल जाता है, इसलिए आपको एक भिन्न धरातल, भिन्न वस्तुओं, घटनाओं, व्यक्तियों, स्थानों और प्रक्रियाओं का अनुभव होता है। उन सभी वृत्तियों का सम्बन्ध सामान्य वृत्तियों के निरोध की प्रक्रिया के कारण सजगता की भिन्न अवस्था से होता है। यदि आप उन सभी अवस्थाओं का विश्लेषण करते हैं जहाँ वैयक्तिक सजगता विभिन्न विधियों, रूपों और आयामों में प्रकट होती है तो आप इस तथ्य से अवगत हो जायेंगे कि वृत्तियों की प्रक्रिया सजगता से भिन्न है तथा वृत्तियों के इस प्रवाह को रोका जा सकता है, सजगता की सीमाओं के परे जाया जा सकता है या वृत्तियों निरन्तर उत्पन्न होने वाले प्रवाहों को पूरी तरह समाप्त कर दिया जा सकता है।

यह पुन: हमारे समक्ष उस तथ्य को प्रस्तुत कर देता है कि एक ऐसी सुनिश्चित प्रक्रिया है जो उन सबसे असम्बद्ध और भिन्न है जिसका सम्बन्ध शरीर, मन, इन्द्रियों तथा प्राण से होता है। यह वह सजगता है जो विभिन्न अवस्थाओं में

बदलती रहती है। यह चेतना की प्रक्रिया है, सजगता की सतत् रहने वाली और अविच्छिन्न अवस्था।

हम सभी में चेतना का अस्तित्व है, जो इस शरीर से निरपेक्ष है; जो शरीर के साथ है, यह शरीर के बिना भी रह सकती है या उसके बाहर भी रह सकती है। इसे ही अवरुद्ध करना है। ये सामान्य विचार नहीं हैं, जिन्हें दमित करना है। ये विचार कुछ भी नहीं हैं, केवल हमारी सजगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चेतना का एक अद्‌भुत क्षेत्र है जो अकल्पनीय, इस शरीर के साथ, कभी उसके परे, तो कभी इस शरीर के बाहर होता है, और यह असीमित है। हम इसे अनन्त कहते हैं। अत: अगले अध्याय में हम उन अभ्यासों को सीखेंगे, जिनके द्वारा एक ऐसी घटना घट सकती है, और घटेगी जिसमें चेतना की इस अदृश्य प्रक्रिया को अवरुद्ध किया जा सकता है।

इसे सही ढंग से समझ लेना चाहिए। चेतना के जिस प्रवाह की चर्चा हम कर रहे हैं, वह आपके मन और विचारों का प्रवाह नहीं हैं; यह आपकी भावनाओं, मनोवेगों और इच्छाओं का प्रवाह नहीं है; यह आपकी भावनाओं और अनुभवों का भंडार भी नहीं है। समग्रता के साथ चित्त शब्द का अर्थ चेतना है, शरीर के अन्दर और बाहर भी, उसके साथ और उसके बिना भी। संक्षेप में, चेतना एक धागे के समान है जो अनेक जीवन और जन्मों को जोड़ती है। अत: निरोध का तात्पर्य विचारों, कामनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं, मनोभावों आदि को रोकना नहीं है, वरन् चेतना की उस प्रक्रिया को अवरुद्ध करने की क्रिया या क्रियाओं से है जो बार-बार प्रकट होने के लिए उत्तरदायी हैं।

वृत्त का अर्थ परिधि और वृत्ति का गोल होता है। जब आप किसी तालाब में एक पत्थर फेंकते हैं तब जल में बाहर की ओर फैलने वाली वृत्ताकार तरंगें उत्पन्न होती हैं। उसी प्रकार चेतना के भी वृत्ताकार प्रतिरूप होते हैं; जो न तो क्षैतिज होते हैं और न लम्बवत्, बल्कि वृत्ताकार होते हैं, इसलिए यह हमेशा वृत्ताकार रूप में गतिमान होते हैं। इसलिए चित्त के व्यवहार, मन के स्वरूपों को चित्तवृत्ति कहते हैं।

निरोध संस्कृत के रोध धातु से बना है जिसका अर्थ होता है रोकना। इसी धातु से रोध, अवरोध, निरोध, विरोध शब्दों का विकास हुआ है। अवरोध का अर्थ है बाधा, निरोध का अर्थ है रोकना, विरोध का अर्थ है प्रतिरोध। इस प्रकार निरोध का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। अब अंतिम बिन्दु पर आते हैं – योग क्या है? इस सूत्र में कहा गया है कि चेतना के सभी आयामों में उभरने वाले प्रतिरूपों को

रोकना ही योग है। इसका अर्थ केवल अपने उन सभी बाह्य अनुभवों को रोक देना नहीं है, जो दिनभर आते रहते हैं, अपितु यह गहन ध्यान और उच्चतर समाधि की अवस्था में आने वाले सभी दृश्यों को स्वयं से अलग करना है। जब वैयक्तिक चेतना के विभिन्न धरातलों में उभरने वाली अभिव्यक्तियों को पार कर लिया जाता है, तब योग की अवस्था का आती है। यही आपकी चेतना के विकास का अनुक्रम या पूर्वापरता है।

## मानसिक अवस्थाएँ एवं कुण्डलिनी योग

मनुष्य में चेतना के विकास को पाँच अवस्थाओं के अनुसार विभक्त किया गया है। मानव चेतना अन्ततः अपना विकास तभी करेगी जब वह प्रकृति की पकड़ से, अथवा तीनों गुणों से मुक्त हो जायेगी। दूसरे अध्याय में इस पर विस्तार से विचार किया जायेगा। जब हम इन पाँचों अवस्थाओं की तुलना कुण्डलिनी जागरण से करते हैं, तो हम निरापद रूप से कह सकते है कि मन की मूढ़ अवस्था मूलाधार चक्र से सम्बन्धित है, जहाँ व्यष्टि चेतना सुप्त अथवा निष्क्रिय पड़ी रहती है। संस्कृत में कहा गया है – कुण्डलिनी निष्क्रिय है, कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है। जब आप कुछ निश्चित अभ्यास कर लेते हैं तब यह शक्ति सक्रिय होकर मणिपुर चक्र तक पहुँच जाती है। मन की इस अवस्था को क्षिप्त अवस्था कहते हैं।

आध्यात्मिक साधक के मणिपुर चक्र से मूलाधार में वापस नीचे गिरने की अधिक संभावना रहती है यह मूलाधार से जाग्रत होकर स्वाधिष्ठान तक जाती है, तत्पश्चात् मणिपुर पहुँचती है, किन्तु यह पुनः मूलाधार में लौट आती है, क्योंकि चेतना की यही मूल प्रकृति है। हालाँकि जब चेतना मणिपुर पहुँचती है और कुछ समय तक वहाँ ठहर कर उसे पार कर जाती है तब चेतना इस अर्थ में स्थिर हो जाती है कि विक्षिप्त अवस्था आज्ञा चक्र तक जाती है, और आज्ञा से आगे एकाग्रता की अवस्था आ जाती है। उच्चतम चक्र सहस्रार निरोध का स्थान है एवं तीनों गुणों से परे, अर्थात् त्रिगुणातीत है।

शरीर, मन और संसार के सभी कार्यकलाप तीनों गुणों की परस्पर क्रियाओं पर निर्भर हैं। गुणों के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। परन्तु इसकी सबसे सुन्दर व्याख्या सांख्य दर्शन में मिलती है। चूँकि ब्रह्माण्डीय प्रकृति का स्वभाव त्रिगुणात्मक है; इसके अनुसार प्रत्येक क्रिया, विचार तथा घटना इन तीनों गुणों की परस्पर क्रियाओं के फलस्वरूप ही संभव होती है।

मन भी इनकी पस्पर क्रियाओं से अत्यधिक प्रभावित होता है। जब सत्त्व गुण प्रबल होता है तब मन शान्त रहता है, वृत्तियाँ एकाग्र रहती हैं और किसी भी कारण से व्यवधान उपस्थित नहीं होता है। जब तमोगुण की प्रधानता रहती है तब संसार में ऐसा कुछ भी ऐसा नहीं जो आपको सक्रिय, आध्यात्मिक या आनन्दित रख सके; आपका मन सदा सुस्त, निष्क्रिय और तनावग्रस्त रहेगा। चेतना पर तमस् का ऐसा प्रभाव होता है।

केवल एक गुण व्यक्तित्व को प्रभावित नहीं करता है। सदा तीनों गुणों का सम्मिलित प्रभाव रहता है। जब तमोगुण प्रबल रहता है और वह अन्य दो गुणों को दबा कर रखता है तब मन निष्क्रिय अवस्था में प्रवेश करता है। इसके परिणामस्वरूप सोचने-समझने की क्रिया मंद पड़ जाती है; कभी-कभी चिन्तन की प्रक्रिया थम जाती है। जब यह अवस्था गहनतम हो जाती है तब गम्भीर स्नायु रोग के रूप में प्रकट होकर मानसिक निष्क्रियता चरम सीमा पर पहुँच जाती है। यह मन की कुण्ठित अवस्था है, जिसे चित्त की मूढ़ अवस्था कहते हैं।

जब रजोगुण की प्रबलता के साथ सत्त्व और तमस् दमित रहते हैं तब मानसिक स्थिति में बिखराव आ जाता है और वह खण्डित हो जाती है; तथा आत्महत्या की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, हत्या करने का प्रयास होने लगता है और व्यक्तित्व विखंडित हो जाता है, अर्थात् स्प्लिट पर्सनालिटि का विकास हो जाता है। यह मन की क्षिप्त अवस्था है।

मन की विक्षिप्त अवस्था मन की दोलायमान अवस्था की परिचायक है। मन की इस विशेष अवस्था में वैयक्तिक चेतना स्थिरता और उद्विग्नता के बीच क्रियाशील रहती है। सभी आध्यात्मिक साधक जब पूजा, ध्यान, एकाग्रता एवं अंतर्मौन के लिए बैठते हैं तब सामान्य रूप से ऐसी मानसिक अवस्था होती है। एक मेधावी छात्र की भी ऐसी मानसिक स्थिति हो जाती है; यद्यपि वह लगन और गम्भीरता के साथ अध्ययन करता है, फिर भी गुणों की परस्पर क्रिया के कारण वह क्षणिक अस्थिरता का शिकार हो जाता है। जब सतोगुण से उत्पन्न एकाग्रता का प्रवाह रजोगुण द्वारा उत्पन्न चंचलता से बाधित होता है तब मन की इस अवस्था को चित्त की विक्षिप्त अवस्था कहते हैं।

चेतना की इस अवस्था में व्यक्ति अन्तर्दृश्य देखता है। साधक अत्यंत संवेदनशील, चिड़चिड़ा और मनोभावों से प्रभावित हो जाता है। कभी आप उसे घंटों ध्यान में बैठा पायेंगे तो कभी अचानक कई दिनों के लिए सब कुछ

छोड़ देता है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवस्था है; यहीं से योग प्रारम्भ होता है। यहाँ सभी गुण स्वयं को व्यक्त करने के लिए पूर्णत: स्वतंत्र रहते हैं।

जब सत्त्व मुक्त रूप से अभिव्यक्त होता है तब एकाग्रता आती है, जब रजस् का प्राबल्य होता है तब मन बिखरा हुआ रहता है। जब तमस् प्रबल होता है तब न एकाग्रता रहती है, न बिखराव; केवल जड़ता और निष्क्रियता रहती है।

आध्यात्मिक साधक के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि वह तीनों गुणों की प्रबलता का विश्लेषण करता रहे और क्षणविशेष में जो गुण विशेष रूप से प्रबल है उसका पता करने का प्रयास करे। ऐसा विरले ही होता है जब तीनों गुणों का समान प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। यद्यपि अन्य गुणों को भी क्रियाशील होने के समान अवसर मिलते हैं फिर भी सदा एक गुण का अन्य गुणों पर वर्चस्व रहता है। उदाहरण के लिए, जब रजस् प्रबल रहता है तब अन्य गुणों की प्रतिकूल गतिविधियाँ होती रहती हैं जिसके परिणामस्वरूप एकाग्रता और चंचलता की अवस्था एक के बाद एक आती-जाती रहती है। अत: साधक को यह समझना चाहिए कि कौन सा गुण उस क्षणविशेष में प्रबल है और किस प्रकार की प्रतिकूल गतिविधियाँ चल रही हैं। यदि मन अधिक चंचल और एकाग्रता कम हो गयी हो, तो रजस् प्रबल है। एकाग्रता और चंचलता, दोनों कम हों, लेकिन नींद और खर्राटे में वृद्धि हो गयी हो तब इसका अर्थ है कि तमस् प्रबल है। यदि एकाग्रता अधिक हो एवं चंचलता तथा निद्रा कम हो, तो इसका अर्थ है कि सत्त्व प्रबल है।

चेतना पर तीनों गुणों के प्रभाव का विश्लेषण करने के पश्चात् साधक को गुणविशेष के नकारात्मक प्रभाव को समाप्त करने तथा सकारात्मक गुण के प्रभाव को विकसित करने के उपायों को खोजना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि विचारों के अवलोकन और विश्लेषण करने के पश्चात् आपको पता चलता है कि ध्यानावस्था में तमस् का अधिक प्रभाव है तो आपको उस प्रभाव को कम करने और उसके विपरीत गुण को किसी समुचित विधि द्वारा विकसित करने का उपाय खोजना चाहिए। गुण के नकारात्मक प्रभाव को दबाने के प्रयास की अपेक्षा सकारात्मक प्रभाव को विकसित करने की विधि अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस संदर्भ में साधक को आसन, प्राणायाम एवं हठयोग की कुछ विधियों का अभ्यास करना चाहिए। इसका महत्त्व नहीं है कि तमस् स्वाभाविक है अथवा मानसिक, आदतन है या किसी शारीरिक परिवर्तन के कारण है, आसन और हठयोग तमस के पर्याप्त प्रभाव को दूर कर देते हैं। शारीरिक श्रम भी एक ऐसी

शक्ति है जो तमस् के अस्तित्व को न केवल ध्यान के अभ्यास से, वरन् जीवन की मौलिक संरचना से मिटा देती है।

यदि विशेष रूप से आपका ध्यान और सामान्य रूप से आपका दैनिक जीवन रजस् से इतना अधिक प्रभावित हो गया है कि मानसिक कष्टों, संस्कारों, वासनाओं, जीवन की समस्याओं एवं अवसाद के कारण स्वयं को किसी भी कार्य में एकाग्रचित नहीं कर पा रहे हैं तो आपको स्वयं से लड़ना छोड़ देना चाहिए तथा अपनी दैनिक चर्या में उन अभ्यासों को सम्मिलित करना चाहिए जो रजस् को जीवन के धरातल से उखाड़ फेंके। भक्ति एवं जप योग कुछ ऐसे ही अभ्यास हैं। कर्मयोग अवश्य किया जाना चाहिए; शारीरिक कार्य भी करना चाहिए, सिर्फ इसलिए नहीं कि आपको इसकी आवश्यकता है, बल्कि यह आपके आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक है।

मान लीजिये, आप पाते हैं कि ध्यान के समय रजोगुण अधिक प्रबल है जिसके परिणामस्वरूप आप अपने मन को एकाग्र नहीं कर पा रहे हैं और कुछ देर बाद आप सो जाते हैं, परन्तु तब आपका मन चंचल हो जाता है, बहुत-सी बातों के विषय में सोचने लगता है; आप उसको नियंत्रित नहीं कर पाते हैं। आपको क्या करना चाहिए? इस समय आपको ऐसे अभ्यासों को करना चाहिए जिसके द्वारा आप रजोगुण को कम कर सकें। कृपया यह स्मरण रखें कि भक्ति और जपयोग का एकरस अभ्यास रजोगुण को कम कर देता है।

कभी-कभी आप पाते हैं कि सतोगुण प्रबल है फिर भी अन्य गुण उसके साथ बारी-बारी से कार्यरत रहते हैं। निश्चित रूप से आपको सतोगुण को हटाना नहीं है, बल्कि इसे और अधिक शक्ति प्रदान करनी है, क्योंकि सतोगुण वांछनीय है। तमोगुण अवांछनीय होता है, और आपको उसे कम करना होगा। रजोगुण भी अवांछनीय है, उसे भी कम करना होगा। जब तमोगुण प्रबल हो तो उसे कम करना है; जब रजोगुण प्रबल हो तो उसे कम करना है, पर जब सतोगुण प्रबल है, और साथ ही रजस और तमस भी उपस्थित हैं, तब आपको सतोगुण की शक्ति को योग शास्त्रों में लिखित विभिन्न विधियों के द्वारा बढ़ाना होगा। आप को स्वयं सोचना होगा कि कौन-सी विधि आपके सतोगुण की शक्ति में वृद्धि कर सकती है – धारणा अथवा सत्संग से, या पुस्तकों को पढ़ने से या अपने आहार को थोड़ा व्यवस्थित करने से ऐसा हो सकता है।

प्रत्येक आध्यात्मिक साधक को चौबीस घंटों में से कुछ समय तीनों गुणों के प्रभाव का विश्लेषण करने के लिए निकालना है। अत: जब आप पाते हैं

कि पूरे एक महीने तक आपका मन एकाग्रता से भरा हुआ था और बीच-बीच में थोड़ा विचलन था जो मन की दोलायमान या विक्षिप्त अवस्था थी। अब, उदाहरण के लिए, आपका मन अस्थिर है। आपने उसे अभी स्थिर नहीं किया है, लेकिन अभी कर रहे हैं। कौन-सा गुण अधिक प्रबल है? यदि तमोगुण अधिक शक्तिशाली है तो आप प्रगति नहीं कर पायेंगे, आपकी साधना में कमी आ जायेगी। यदि सतोगुण प्रबल है तो आप एकाग्र होंगे और ध्यान कर पायेंगे। इस प्रकार सामान्य रूप से आपको ध्यान में अपनी अवस्था को देखना होगा और तदनुसार विधियों का प्रयोग करना होगा।

ऐसा कहा जाता है कि मन की विक्षिप्त अवस्था के आने पर योग का प्रारम्भ होता है। इसके पूर्व की मूढ़ और क्षिप्त, दो अवस्थाएँ यौगिक नहीं हैं। इन्हें मन की सांसारिक अवस्था कहते हैं। योग की किसी भी अवधारणा से मूढ़ का कोई सम्बन्ध नहीं है।

अब हम एकाग्रता शब्द पर आते हैं। एकाग्रता का अर्थ है मन का एक बिन्दु पर स्थिर हो जाना। उस समय रजोगुण और तमोगुण अनुपस्थित रहते हैं, केवल सतोगुण ही उपस्थित रहता है। जब मन एकाग्रता की अवस्था में आ जाता है तब उस समय रजस् और तमस् दोनों पूर्णतया अनुपस्थित रहते हैं, केवल सत्त्व अकेले प्रबल रहता है। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है तब जो अन्तिम अवस्था प्राप्त करनी होती है, वह है निरोध, पूर्ण अन्त। इसमें न तमस्, न रजस्, और न ही सत्त्व कार्य करता है। मन की यह अवस्था त्रिगुणातीत कहलाती है, इसमें तीनों गुणों से परे चेतना तीनों गुणों के चंगुल से पूर्णरूपेण मुक्त रहती है। जब आपकी व्यक्तिगत चेतना तीनों गुणों के चंगुल से पूर्णरूपेण मुक्त रहती है, जब आपकी चेतना बिना इन तीन गुणों की मित्रता या सहयोग के अकेली रह जाती है, तब चेतना की वह अवस्था निरोध कहलाती है।

यह कुण्डलिनी चेतना के जागरण एवं यौगिक शब्दावली का तुलनात्मक विवरण है।

## सूत्र 3 – योग की पराकाष्ठा

*तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ 3 ॥*

तब द्रष्टा अपने मूल स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

आत्मसाक्षात्कार केवल तभी होता है जब चित्त की वृत्तियाँ अपना कार्य करना बन्द कर देती हैं, मन या चित्त तीनों गुणों एवं परिवर्तनशील मनोभावों की गतिविधियों से अप्रभावित रहता है और वस्तुनिष्ठ-जगत् से उसकी किसी प्रकार की एकात्मता नहीं रह जाती है। हम अपनी सीमित समझ से कैवल्य यानि आत्मसाक्षात्कार को नहीं समझ पाते हैं, यहाँ तक कि समाधि में प्रकट होने वाली चेतना की उच्चतर अवस्था को भी समझना प्रारम्भ नहीं कर पाते। आत्मज्ञान अंदर से प्रकट होता है और इसे मन की सजगता के वर्तमान स्तर के द्वारा नहीं समझा जा सकता है, जो पसन्द-नापसन्दों, गलत विश्वासों, भ्रान्त अवधारणाओं, अवास्तविक विचारों आदि से प्रभावित एवं अनुकूलित रहती है। ये हमारे विचारों के सामान्य स्वरूप हैं एवं अहं या अस्मिता से संबंधित हैं।

योग के परम् लक्ष्य कैवल्य या आत्मज्ञान को प्राप्त करने के लिए मन की निर्मलता, पूर्ण इन्द्रिय-निग्रह, एवं आकांक्षा रहित होना आदि आवश्यक शर्तें हैं। अवस्थानम् शब्द का तात्पर्य अपनी मूल अवस्था की पुनःप्राप्ति से है। इसकी चर्चा चौथे अध्याय में की जायेगी।

## सूत्र 4 – अन्यथा पुरुष की अवस्था क्या होती है?

*वृत्ति सारूप्यमितरत्र ॥ 4 ॥*

अन्यथा चित्त की रूपांतरित अवस्था के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

जब पुरुष या आत्मा अपने मूल स्वरूप में स्थित नहीं होती है तब उसकी क्या स्थिति होती है, इसका विवरण यहाँ दिया गया है। जब चित्तवृत्तियाँ निरोध की अवस्था में नहीं रहतीं है तब उसके प्रतिरूप पुरुष पर अध्यारोपित हो जाते हैं।

हम सब ऐसे त्रुटिपूर्ण तादात्म्य से परिचित हैं। जब हम कोई सिनेमा या नाटक देखते हैं तो उस समय जो कुछ परदे या मंच पर घटित होता है उससे स्वयं को जोड़ लेते हैं, और तदनुकूल भावनाएँ – दुःख, आनंद, भय, पसन्द-नापसन्द आदि का अनुभव करने लगते हैं। यद्यपि अभिनेता केवल एक भूमिका निभा रहा होता है, परन्तु हम स्वयं को उससे जोड़ लेते हैं और यह भूल जाते हैं कि वहाँ जो कुछ हो रहा है उसे हम केवल एक दर्शक के रूप में देख रहे हैं। इसी प्रकार पुरुष भी केवल द्रष्टा चेतना है, किन्तु वह अपना मूल स्वरूप भूल गया है और इसने स्वयं को चित्त एवं उसकी वृत्तियों के साथ इस सीमा तक जोड़ लिया है कि उसमें से स्वयं को अलग करना अत्यन्त कठिन जान पड़ता है।

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योग विज्ञान भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले सभी व्यक्तियों के लिए अलग-अलग विधियाँ प्रदान करता है, ताकि चित्त निरोध की अवस्था में आ जाये। उस अवस्था में पुरुष अपने मूल स्वभाव के प्रति सजग हो जाता है।

## सूत्र 5 – वृत्तियाँ – मुख्य वर्गीकरण

*वृत्तय: पञ्चतय्य: क्लिष्टाक्लिष्टा: ॥ 5 ॥*

वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं; वे सुखदायक या दु:खदायक होती हैं।

यह पूरा सूत्र चार शब्दों के मेल से बना है। आप वृत्ति शब्द को जान चुके हैं, फिर भी इसकी एक विशद व्याख्या की जरूरत है। इस सूत्र से इसकी विस्तृत व्याख्या आरम्भ होती है। यह सूत्र कहता है कि मन की वृत्तियाँ अथवा प्रतिरूप पाँच प्रकार के होते हैं जो या तो सुखदायक होते हैं या दु:खदायक। इसका अर्थ यह हुआ कि कुल मिलाकर इनकी संख्या दस है – पाँच सुखदायक और पाँच दु:खदायक। इसको एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। मान लीजिए, आपका मन आँखों की सहायता से एक फूल को देखता है और इसकी आकृति को ग्रहण कर उसे पसंद करने लगता है। इसे अक्लिष्ट या सुखदायक अनुभव कहते हैं। तत्पश्चात् आपका मन गाड़ी द्वारा कुचले एक कुत्ते के क्षतविक्षत शरीर को देखता है और दु:खी हो जाता है। इसे क्लिष्ट या दु:खदायक अनुभव कहते हैं। अत: फूल के विषय में मन की वृत्ति सुखद थी तथा मृत कुत्ते के लिए दु:खद। वृत्ति एक ही थी परन्तु मन ने आँखों द्वारा जिन वस्तुओं को ग्रहण और अनुभव किया वे दो प्रकार की थीं – क्लिष्ट और अक्लिष्ट, सुखदायक व दु:खदायक।

इसी प्रकार मन की भी पाँच वृत्तियाँ या अभिव्यक्तियाँ होती हैं। ये पाँच वृत्तियाँ क्या हैं? इसकी व्याख्या आगे के सूत्रों में की जायेगी, परन्तु इसके पूर्व आपको बहुत सावधानीपूर्वक समझना है कि इनके द्वारा महर्षि पतंजलि क्या कहना चाहते हैं। यह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मन की अभिव्यक्तियाँ हैं। जब आप किसी वृक्ष, व्यक्ति या प्राकृतिक दृश्य को देखते हैं तब आप यह अपनी आँखों के द्वारा ही देखते हैं, परन्तु यह आपके मन की एक वृत्ति है। जब आप किसी संगीत या व्याख्यान को सुनते हैं या आँखें बंद कर भूत, वर्तमान या भविष्य, अपने संबंधों, मित्रों या शत्रुओं के बारे में सोचते हैं तो यह भी एक प्रकार की मन की वृत्ति होती है। जब आप परेशान, चिन्तित, क्रोधित या भावावेश में होते हैं अथवा शोक, ईर्ष्या, करुणा, अपने साथियों या ईश्वर के प्रति प्रेम से भरे होते हैं तब यह भी आपके मन की एक प्रकार की वृत्ति होती है। ये सभी वृत्तियाँ कहलाती हैं।

योग पद्धति के अनुसार ज्ञान का प्रत्येक आयाम, प्रत्येक विचार, एवं सजगता का प्रत्येक क्षेत्र मन की वृत्तियाँ है। यहाँ तक कि योग में निद्रा को भी मन की एक अवस्था माना गया है। यह एक मानसिक अवस्था है, मानसिक स्थिति है। स्वप्न भी एक मानसिक स्थिति है। इसी प्रकार संशय, भ्रम, त्रुटिपूर्ण विचार (जैसे, रस्सी को साँप समझ लेना) भी मन की अवस्थाएँ या वृत्तियाँ हैं।

संस्कृत में, और विशेष रूप से योग और वेदान्त के ग्रन्थों में वृत्ति शब्द बार-बार आता है। यह एक ऐसा भ्रामक शब्द है जिसकी समुचित व्याख्या कभी-कभी दार्शनिक और चिन्तक भी नहीं कर पाये हैं। सातवीं शताब्दी में एक महान् मनीषी हुए थे जिनका नाम गौड़पादाचार्य था। वे आदि शंकराचार्य के गुरु के गुरु थे। उन्होंने एक छोट-से उपनिषद्, जिसका नाम माण्डुक्य उपनिषद् है, पर विस्तृत भाष्य लिखा। अपने भाष्य में उस मनीषी ने लिखा है – "यह सारा जगत् उस परम चेतना की मानसिक वृत्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ प्रतीत नहीं होता है।"

न केवल यह पृथ्वी, वरन् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही अवास्तविक हो सकता है; यह केवल आपके मानसिक चिन्तन की एक अभिव्यक्ति हो सकता है, परमात्मा का मानसिक चिन्तन, एक ब्रह्माण्डीय चिन्तनशील शक्ति हो सकता है। अत: जब हम मानसिक वृत्ति शब्द प्रयोग करते हैं तब हमारा तात्पर्य मन के विभिन्न प्रतिरूपों अथवा व्यक्तित्व, व्यक्तित्व की विभिन्न अवस्थाओं, क्षेत्र या आयाम से होता है।

एक नाटक में एक ही व्यक्ति मंच पर भिक्षु, राजा, डाकू, संन्यासी, पुरुष या स्त्री आदि की विभिन्न भूमिकाओं में आ सकता है; उसी प्रकार मनुष्य की सजगता या चेतना एक ही पदार्थ है, जो जाग्रत, स्वप्न, निद्रा, विचार, रुचि या अरुचि के रूप में अभिव्यक्त होती हुई प्रतीत होती है। यह एक ही चेतना है जो विभिन्न भूमिकायें निभाती हुई प्रतीत होती है, और ये सब उसकी भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ हैं।

## सूत्र 6 – पाँच प्रकार की वृत्तियाँ

*प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृत्यः ॥ 6 ॥*

मन की पाँच वृत्तियाँ सम्यक् ज्ञान, भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान, कल्पना, निद्रा और स्मृति हैं।

विगत तीन सूत्रों में हम वृत्ति शब्द पर चर्चा करते रहे हैं। एक योग विद्यार्थी के लिए इस शब्द को भलीभाँति समझ लेना आवश्यक है। पर्याप्त चिन्तन के बाद आप यह अनुभव करेंगे कि योग का अन्तिम लक्ष्य चेतना की अभिव्यक्ति के प्रतिरूपों को पूर्णतया नष्ट करने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ – मिट्टी से विभिन्न प्रकार की मूर्तियाँ या अन्य वस्तुएँ बनायी जा सकती हैं और उन्हें नष्ट करने पर वे पुनः मिट्टी में परिवर्तित हो जाती हैं, उसी प्रकार एक स्वर्णकार सोने से अनेक प्रकार के आभूषण बनाता है, जिनके अलग-अलग नाम और रूप होते हैं, पर जब उन आभूषणों को तोड़ा या गला दिया जाता है तो वे अन्त में पुनः सोना बन जाते हैं। ठीक उसी प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुएँ या आकृतियाँ मन से उत्पन्न हुईं और प्रकृति की ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया में उनको अलग-अलग नाम दिया गया। मन या चेतना को उसके सभी रूपों वंचित करना होगा ताकि चेतना नाम और रूप विहीन रहे, योग का यही अन्तिम लक्ष्य है।

केवल संसार का अन्त ही योग का अंग नहीं है, यह एक ऐसा बिन्दु है जिसके विषय में अनेक साधकों में भ्रान्तियाँ हैं। वे अपने आँख-कान को बंद कर, सारे बाह्य दृश्यों को भूल कर अपने अंतरतम् में अलौकिक दृश्यों को देखते रहते हैं और समझते हैं कि योग के चरम बिन्दु पर पहुँच गये। परन्तु इस अनुभव को भी समाप्त करना होगा। प्रत्येक वस्तु जो मन की प्रकृति से उत्पन्न होती है उसे मन के साथ ही नष्ट करना होगा। अतः योगाभ्यास प्रारंभ करने के पूर्व आपको यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि आप जो करने जा रहे हैं उसकी सार्थकता क्या है, और यहीं पर पतंजलि आपकी सहायता करते हैं।

कभी-कभी हमें अपनी चेतना का प्रत्याहार करने को कहा जाता है, पर वास्तव में चेतना है क्या? आप अपनी चेतना को बाह्य ध्वनियों से तो अन्दर की

ओर खींच लेते हैं, पर क्या आप निद्रा से उसे खींच सकते हैं? नहीं, क्योंकि आप तो यह मानते ही नहीं कि निद्रा एक मानसिक अवस्था है। योग कहता है कि निद्रा एक मानसिक अवस्था है। पतंजलि आगे के सूत्रों में कहते हैं कि समाधि भी एक मानसिक अवस्था है, जिसे निकाल बाहर करना है। निम्न सविकल्प समाधि भी मन की एक वृत्ति है, अत: उसका भी अतिक्रमण करना है।

योग का परम लक्ष्य परिशोधन प्रक्रिया है और उसके लिए पतंजलि हमारी सहायता कर रहे हैं। पाँच प्रकार की वृत्तियों का बड़ी सावधानी से वर्गीकरण किया गया है। जो भी आप देखते, सुनते और अनुभव करते हैं, जो भी मन और इन्द्रियों के माध्यम से वृत्तियाँ कर रही हैं, उन्हें पाँच समूहों – सम्यक् ज्ञान, भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान, कल्पना, निद्रा और स्मृति में वर्गीकृत किया गया है।

ये पाँच वृत्तियाँ मन की चेतना का निर्माण करती हैं। वे वैयक्तिक चेतना के तीनों आयामों का निर्माण करती हैं। वे ही मनुष्य का मानसिक कारखाना हैं। प्रत्येक मानसिक अवस्था, यथा – स्वप्न, जागृति, देखना, बोलना, स्पर्श करना, मारना, रोना, अनुभव करना, भावना, कर्म, विचार पंचवृत्तियों में आ जाते हैं। वस्तुत: सब इन पाँचों में सम्मिलित हैं।

## सूत्र 7 (i) प्रमाण – सम्यक् ज्ञान के स्त्रोत

*प्रत्यक्षानुमानागमा: प्रमाणानि ॥7॥*

प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुमान एवं प्रमाण ज्ञान के स्त्रोत हैं।

इस सूत्र में ऋषि सम्यक् ज्ञान, प्रमाण को समझाने का प्रयास कर रहे हैं। इसे मन की अभिव्यक्ति के रूप में पूर्व सूत्र में सम्मिलित किया जा चुका है। मन सदैव सम्यक् ज्ञान को ग्रहण नहीं करता, कभी-कभी यह भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान के रूप में भी अभिव्यक्त होता है। यह सूत्र स्पष्ट करता है कि सम्यक् ज्ञान वस्तुत: क्या है। सम्यक् ज्ञान तीन स्त्रोतों से प्राप्त हो सकता है – इन्द्रिय साक्ष्य, अनुमान और प्रमाण। जब ज्ञानेन्द्रिय का सम्पर्क किसी वस्तु से होता है, तब जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रमाण इन्द्रिय साक्ष्य कहलाता है। उदाहरण के लिए – हम एक फूल को देखते हैं, उसे सूँघते हैं, किसी का रोना सुनते हैं, आदि।

यदि आपकी ज्ञानेनिद्रय अक्षत हैं, उनमें से कोई भी दोषयुक्त नहीं हैं तब इन्द्रिय साक्ष्य सम्यक् ज्ञान के स्त्रोतों में से एक है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सम्यक् ज्ञान का यही एकमात्र स्त्रोत नहीं है, क्योंकि कभी-कभी हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ भी धोखा दे देती हैं, उदाहरणार्थ – मरुभूमि में गर्म हवा के कारण उत्पन्न मृग मरीचिका। वस्तुत: वहाँ पानी नहीं होता, पर हमारी आँखें जल के आभास को वास्तविकता समझ लेती हैं। इस मामले में इन्द्रिय साक्ष्य से सम्यक् ज्ञान नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि जब हम उस पानी को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं तब हमारा भ्रम स्पष्ट होता है।

अनुमान तब सम्यक् ज्ञान का स्त्रोत होता है जब यह ठोस तर्क पर आधारित होता है। हम दूर पहाड़ पर धुआँ देखते हैं और तुरन्त अनुमान लगा लेते है कि वहाँ पर अवश्य आग लगी होगी। हमारा यह अनुमान ऐसे अनुभव पर आधारित है जो कभी गलत नहीं हुआ है। यह सर्वविदित है कि जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग अवश्य होती है। इसे निरपवाद सहवर्तिता कहा जाता है। अर्थात् जब दो चीजें या घटनाएँ सदा एक साथ पायी जाती हैं तब उनमें से एक की उपस्थिति द्वारा दूसरे की उपस्थिति का अनुमान लगा सकते हैं।

आगम का अर्थ होता प्रमाण होता है। यह ऐसी परिस्थितियों में उपयोगी होता है जब न तो इन्द्रिय साक्ष्य उपलब्ध होते हैं और न अनुमान लगाने के पर्याप्त

आधार मौजूद होते हैं। इसमें हमें दूसरे जो कहते हैं उस पर निर्भर होना पड़ता है, परन्तु इसके लिए एक महत्त्वपूर्ण शर्त है। जिस व्यक्ति को सम्यक् ज्ञान का पर्याप्त स्रोत माना जा रहा है और जिसे आप्त कहा जाता है, उसे दो शर्तों को पूरा करना चाहिए। प्रथम यह है कि उसे सम्यक् ज्ञान प्राप्त हुआ हो और द्वितीय, वह उस ज्ञान को दोष रहित ढंग से दूसरों को प्रदान करने में सक्षम हो। जब ये दोनों शर्तें पूरी हो जाती हैं, तब हम आगम को सम्यक् ज्ञान के स्रोत के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

योग में गुरु होते हैं। वे अपने शिष्य को जो कुछ प्रदान करते हैं वह केवल विश्वास पर आधारित होता है, और वह सम्यक् ज्ञान होता है, क्योंकि गुरु ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनके पास सम्यक् ज्ञान होता है। शास्त्रों को आगम कहते हैं, क्योंकि उनमें ऋषियों द्वारा अनुभूत ज्ञान संकलित रहता है, जिसकी यहाँ चर्चा की जा रही है। इसके अतिरिक्त शास्त्रों में वर्णित बातें इन्द्रिय साक्ष्य और अनुमान के अधीन नहीं होती हैं।

## सूत्र 8 (ii) विपर्यय – भ्रान्ति

*विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ 8 ॥*

भ्रान्ति मिथ्या ज्ञान है जो अपने वास्तविक स्वरूप पर आधारित नहीं है।

ऋषि पतंजलि यहाँ दूसरी चित्त वृत्ति विपर्यय की चर्चा कर रहे हैं जिसका निरोध करना है। वे विपर्यय को मिथ्या ज्ञान कहते हैं, जो अपने वास्तविक स्वरूप पर आधारित नहीं है या उसके सदृश नहीं है। यह सम्यक् ज्ञान के विपरीत है। सम्यक् ज्ञान वस्तु और उसके विषय में हमारे ज्ञान के साम्य पर आधारित होता है। जैसे, हम एक फूल का रंग देखते हैं, उसको सूँघते हैं, उसकी पंखुड़ियों की कोमलता को महसूस करते हैं, और तब हमारे मन में ज्ञान उत्पन्न होता है कि हम जिस वस्तु को देख रहे हैं वह फूल है। यह सम्यक् ज्ञान है, क्योंकि यह तद्रूपप्रतिष्ठित, अर्थात् एक वास्तविक वस्तु है, जिस पर हमारा ज्ञान आधारित है। विपर्यय की स्थिति में वस्तुतः वस्तु का अस्तित्व नहीं रहता है जिस पर ज्ञान आधारित हो सके, इसलिए इसे अतद्रूपप्रतिष्ठितम् कहते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम एक रस्सी को साँप समझ लेते हैं तब हमारा ज्ञान गलत होता है, क्योंकि जो वस्तु हमारे समक्ष है, वह वास्तव में साँप नहीं, बल्कि एक रस्सी है। परिस्थिति का निर्माण कर इस मिथ्या ज्ञान को सुधारा जा सकता है पर्याप्त प्रकाश उत्पन्न कर, ताकि सम्यक् ज्ञान उत्पन्न हो सके।

विपर्यय को अविद्या भी कहते हैं, क्योंकि हमारा ज्ञान पुरुष और प्रकृति के वास्तविक स्वरूप को ठीक से नहीं समझ पाने के कारण मिथ्या और त्रुटिपूर्ण है। अंततः विवेक द्वारा मिथ्या ज्ञान को दूर किया जाता है जिसमें पुरुष और प्रकृति के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान सम्मिलित होता है।

## सूत्र 9 (iii) विकल्प – निराधार विश्वास

*शब्दज्ञानानुपाति वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ 9॥*

वस्तुरहित शब्दों के माध्यम से ज्ञान का अनुसरण करना कल्पना है।

बिना किसी वस्तु के आधार के कल्पना करना विकल्प है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इसमें वस्तु होती ही नहीं, पर जिस वस्तु का उल्लेख कथन में किया जा रहा है, उसका कोई अस्तित्व नहीं है। उदाहरणार्थ – जब हम परीलोक की कथाएँ या गलीवर के यात्रा वृत्तान्त में लिलिपुट के विषय में पढ़ते हैं तो हम ऐसे शब्द पाते हैं जिनका वाक्यों में तो समुचित ढंग से प्रयोग हो सकता है, परन्तु उनके अनुरूप कोई वास्तविक वस्तु नहीं होती। यद्यपि विकल्प हमारे मन की उपज है, तथापि यह पूर्णतः अनुभवरहित नहीं होता। हम अपने अनुभवों से प्रत्यय लेते हैं और उन्हें आपस में मिला देते हैं ताकि एक बिल्कुल नई वस्तु साकार हो सके जिसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं होता।

हममें से अनेक लोगों के सामने ही नहीं, बल्कि आध्यात्मिक साधकों के सामने भी ऐसी समस्या आती है कि कभी-कभी मन कल्पना और आदर्श से भर जाता है। विश्वभर में ऐसे अनेक आध्यात्मिक साधकगण हैं जो काल्पनिक लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं। वे अपने विचार-जगत् में खोये रहते हैं, जो विकल्प के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

कभी-कभी ध्यान के दौरान कल्पना में विचरण होने लगता है। वह अत्यन्त आनन्ददायक और रोचक होता है तथा ध्यानस्थ मन को सुख व संतोष प्रदान करता है, परन्तु पतंजलि के अनुसार इस प्रकार के विकल्प का भी त्याग कर दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार भारत में काल्पनिक ध्यान की एक शाखा है जिसे चेतन दिवास्वप्न कहते हैं। यह स्वयं में एक पृथक् साधना है, किन्तु महर्षि पतंजलि के अनुसार यह मन की सुस्त अवस्था है जिसे सम्यक् ज्ञान द्वारा दूर किया जाना चाहिए। प्रारंभिक साधकों के लिए यह साधना बहुत सहायक है, क्योंकि यह उनको एकाग्रता की गहराई में ले जाती है। हालाँकि यह स्मरण रखना चाहिए कि यह साधना प्रारम्भिक साधकों के लिए सहायक है, फिर भी बाद में उन्हें इसका त्याग कर देना चाहिए।

धारणा, अन्तर्मौन और ध्यान की अवस्थाओं में साधक कतिपय वस्तुओं और गुणों की कल्पना करता है। अन्तिम विश्लेषण में वे अवास्तविक और काल्पनिक प्रतीत हो सकते हैं, पर प्रारम्भ में वे अत्यन्त सहायक होती हैं और योग के विद्यार्थी को उनकी सहायता तब तक लेनी चाहिए जब तक वह गहरी अवस्था को प्राप्त न करने में सक्षम न हो जाये। अनेक महान् चिन्तकों द्वारा कहा गया है कि निर्विकल्प समाधि तक साधक जिन विभिन्न अनुभवों से गुजरता है वे सब उसकी मानसिक चेतना के विभिन्न स्तरों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं।

सम्यक् ज्ञान, मिथ्या ज्ञान और विकल्प समान रूप से चेतना की प्रक्रियाएँ हैं, पर उनमें इतना ही अन्तर है कि सम्यक् ज्ञान में वास्तविक वस्तु होती है, मिथ्या ज्ञान में मिथ्या वस्तु होती है और विकल्प में वस्तु होती ही नहीं। इस अन्तर को सावधानीपूर्वक समझ लिया जाना चाहिए।

## सूत्र 10 (iv) – निद्रा

*अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ 10॥*

निद्रा एक ऐसी वृत्ति है जिसमें मानसिक तत्त्वों के आधार का अभाव होता है।

यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र है। पूर्व वर्णित तीन वृत्तियों से इसकी तुलना करने पर इस वृत्ति में यह विशेषता पायी जाती है कि इसमें सजगता, चेतनता या अचेतनता नहीं होती है। निद्रा भी मन की एक अवस्था है। इसे समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यदि हम निद्रावस्था का विश्लेषण करने में सक्षम हो जाते हैं, तो समाधि की अवस्था को आसानी से समझ सकेंगे। निद्रा मन की वह अवस्था है जो बाह्य जगत् के ज्ञान को छुपाती है। माण्डुक्य उपनिषद् में कहा गया है कि निद्रा में व्यक्ति न किसी वस्तु की इच्छा रखता हैं, न वहाँ स्वप्न होता है और न ही कोई अन्य अवधारणा होती है। मन की सारी वृत्तियाँ एकत्र हो जाती हैं और ऊर्जा प्रक्रियाएँ आपस में मिलकर एक हो जाती हैं। सहज बोध की क्षमता अन्तर्मुखी हो जाती है; बाह्य वस्तुएँ न दिखाई पड़ती हैं, न सुनाई देती हैं, न ही कोई अन्य अनुभूति रह जाती है। यह मन की अचेतन अवस्था है।

यह बिल्कुल वही विचार है जिस पर इस सूत्र में पतंजलि बल देना चाहते हैं। वे कहते हैं कि निद्रावस्था में मन के समक्ष कोई वस्तु नहीं होती, न वह देखता है, न सुनता है, और न उसे कोई स्पर्शानुभव होता है। मन की समस्त क्रियाएँ एवं ज्ञान के प्रत्येक स्वरूप शांत हो जाते हैं।

जब हमें किसी वस्तु की मानसिक अनुभूति होती है, तो उस अनुभूति को प्रत्यय कहते हैं। इन्द्रियों और वस्तु के सम्पर्क में आने अथवा न आने पर भी प्रत्यय उत्पन्न हो सकता है। उदाहरण के लिए, हम अपने मन के अन्दर दृश्य रूप में, स्वप्न या कल्पना में एक गुलाब को देख सकते हैं। इन सभी अवस्थाओं में मन की अन्तर्वस्तु को प्रत्यय कहा जाता है।

जब किसी निश्चित प्रक्रिया के द्वारा वस्तु का यथार्थ भाव, मन की यथार्थ अन्तर्वस्तु हटा दी जाती है तब मन आधारहीन हो जाता है। निद्रा एक वृत्ति है, जिसमें मन की अन्तर्वस्तु उपस्थित नहीं रहती। उस अवस्था में विचार तो रहते

हैं, पर वे मन के समक्ष उपस्थित नहीं होते, अत: मन न तो देखता है, न स्पर्श का अनुभव करता है, न विचार करता है, न सुनता है या उसे न ही उसे कोई मानसिक या इन्द्रिय अनुभव होता है। मनोवैज्ञानिक रूप से मस्तिष्क और मन का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और विचार अस्थायी रूप से दब जाते हैं। इसी प्रकार जब ध्यान में मन के समस्त कार्यकलाप रुक जाते हैं तब हम कभी-कभी अचेतन हो जाते हैं।

निद्रा और समाधि में इस अर्थ में तुलना की जा सकती है कि दोनों अवस्थाओं में बाह्य जगत् की चेतना का लोप हो जाता है। अंतर केवल इतना रहता है कि समाधि में एक सीमा तक 'मैं' का बोध बना रहता है, जबकि निद्रा में उसका भी लोप हो जाता है। यद्यपि समाधि की अवस्था में पृथक् अस्तित्व, जैसे, नाम, रूप, नागरिकता आदि तथा गुणों का बोध नहीं रहता, तथापि एक विशेष प्रकार की चेतना विद्यमान रहती है जो बाह्य जगत् की समस्त विशिष्टिताओं से रहित होती है। जाग्रत अवस्था की चेतना भी समाधि की तरह ही होती है। दोनों में अन्तर केवल इतना होता है कि समाधि में सजगता मौजूद रहती है, अन्य वस्तुएँ नहीं। इस बात को लेकर अनेक भ्रांतियाँ तथा गलत व्याख्याएँ मौजूद हैं। ऐसा माना जाता है कि समाधि एकदम अचेतनता की अवस्था है, जबकि सत्य इसके एकदम विपरीत है।

## सूत्र 11 (v) – स्मृति

*अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ 11 ॥*

अनुभूत वस्तुओं को मन से न हटने देना ही स्मृति है।

स्मृति मन की पाँचवीं वृत्ति है। यह दो प्रकार की होती है – चेतन स्मृति और अवचेतन स्मृति। अनुभूत विषयों या अतीत के अनुभवों को स्मरण करना चेतन स्मृति है। स्वप्न अवचेतन स्मृति है। उस अवस्था में व्यक्ति चेतन रूप से नहीं, बल्कि अचेतन रूप से स्मरण करता है। यह स्मृति भी दो प्रकार की होती है – काल्पनिक और वास्तविक। कभी-कभी स्वप्न में ऐसे विचित्र अनुभव होते हैं जिनका वास्तविक जीवन से कोई सरोकार नहीं होता। व्यक्ति स्वयं को रेलगाड़ी के पहियों के नीचे दो टुकड़ों में कटा हुआ या स्वयं को मरते हुए देख सकता है। वस्तुतः यह मन की एक कल्पना है, इसलिए इसे काल्पनिक अवचेतन स्मृति कहते हैं। तथापि हमें स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक स्वप्न का कुछ आधार होता है। कोई भी स्वप्न निराधार नहीं होता। कभी-कभी स्वप्न में व्यक्ति अतीत में घटित घटनाओं को हू-ब-हू उसी रूप में देखता है जिस रूप में वे घटित हुईं थी। वह स्मृति जो पूर्व-चेतन प्रभावों को चेतन स्तर पर प्रकट करती है, वह हमारी चेतना की एक क्षमता है। यह चेतना का एक रूपान्तरण है और इसीलिए इसे वृत्ति की श्रेणी में रखा जाता है।

अनुभव की वस्तुएँ पाँच प्रकार की होती हैं, जिन्हें हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों – आँख, कान, त्वचा, जिह्वा और नासिका द्वारा अनुभव कर सकते हैं। जब हम इन वस्तुओं का अनुभव करते हैं तब हमारा मन इन्द्रियों के माध्यम से उनके सम्पर्क में आता है। फिर बाद में जब कभी समान सम्पर्क होता है तब अतीत का वह अनुभव प्रकट हो जाता है, यदि उस अनुभव को मन से पलायन नहीं करने दिया गया है। यदि अनुभव पलायन कर गया है तब स्मृति विफल हो जाती है। इसलिए महर्षि पतंजलि ने असम्प्रमोष शब्द का प्रयोग मन से अनुभव को पलायन नहीं करने देने के तथ्य पर बल देने के लिए किया है। इसका शाब्दिक अर्थ होता है, 'पलायन नहीं करने देना'।

इस प्रकार हम महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित पाँच वृत्तियों को संक्षेप में इस प्रकार समझ सकते हैं – प्रथम वृत्ति का सम्बन्ध सम्यक् ज्ञान से है, दूसरी

का मिथ्या ज्ञान से, तीसरी का काल्पनिक ज्ञान से, चौथी में कोई ज्ञान नहीं होता और पाँचवीं और अन्तिम का अतीत ज्ञान से है। यह सम्पूर्ण चेतना के क्षेत्र को सम्मिलित कर लेता है। योग की व्याख्या करते समय पंतजलि ने पूर्व में ही कहा है कि योग का सार सभी वृत्तियों का निरोध करना या रोकना है। अगले सूत्र में उन्होंने इस उद्देश्य के लिए प्रयोग किये जाने वाले साधनों का वर्णन किया है।

## सूत्र 12 – अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता

*अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ 12 ॥*

अभ्यास और वैराग्य द्वारा उनका (पाँचों वृत्तियों का) निरोध किया जाता है।

चित्त वृत्तियों के प्रवाह के निरोध के लिए पतंजलि इस सूत्र में दो विधियों का वर्णन कर रहे हैं। ये हैं – अभ्यास और वैराग्य। अभ्यास का अर्थ है – बार-बार करना। वैराग्य एक बड़ा विवादास्पद शब्द है। विभिन्न कालों में, विभिन्न देशों में, विभिन्न मस्तिष्कों में इसके अर्थ बदलते रहे हैं। हम कह सकते हैं कि यह अनासक्ति की मानसिक अवस्था है, जो राग-द्वेष, आकर्षण-विकर्षण से मुक्त है। जब मन इन सबसे पूर्णतः मुक्त हो जाता है तब वह अवस्था वैराग्य कहलाती है। भारत में परम्परागत रूप से वैराग्य का अर्थ संन्यास होता है। पतंजलि ने राग-द्वेष की व्याख्या आगे के अध्याय में की है। अपनी पसन्द की वस्तु को पसन्द करने के भाव को ही राग कह सकते हैं। दूसरी ओर द्वेष मन का वह भाव है जिसका सम्बन्ध किसी वस्तु की नापसन्दगी से होता है। इन दोनों से पूर्णतः मुक्ति वैराग्य कहलाता है।

ऐसे अनेक आध्यात्मिक साधक हैं जो बिना अभ्यास और वैराग्य के, बिना राग-द्वेष को जीते ध्यान करने का प्रयास करते हैं। मन को अशांत करने वाले तत्त्वों – राग और द्वेष को दूर किये बिना मन को शांत करने का प्रयास करना निरर्थक है, क्योंकि वे मन को अस्थिर कर देते हैं। महर्षि पतंजलि कहते हैं कि अभ्यास और वैराग्य वे साधन हैं जिन्हें सर्वप्रथम सिद्ध करना चाहिए, ताकि ध्यान सरलतापूर्वक लगने लगे।

## सूत्र 13 – अभ्यास का अर्थ है सतत् प्रयत्न

*तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास: ॥13॥*

दोनों में से (पूर्व सूत्र में उल्लिखित) 'प्रयत्न में स्थित होना' अभ्यास है।

इस सूत्र में महर्षि पतंजलि अभ्यास की व्याख्या कर रहे हैं। तत्र का शाब्दिक अर्थ वहाँ होता है, पर इस सूत्र के संदर्भ में तत्र का तात्पर्य दोनों से है। अभ्यास का अर्थ आध्यात्मिक साधना में पूर्णतया स्थिर हो जाना है। यहाँ प्रयत्न का तात्पर्य चित्तवृत्तियों के निरोध से है। इसमें ध्यान, कर्मयोग, भक्तियोग या आत्मान्वेषण आदि अन्य अभ्यास भी आ सकते हैं। यह स्मरण रहे कि किसी काम को थोड़े समय तक करना अभ्यास नहीं है। अभ्यास का तात्पर्य निरंतर प्रयत्न से है; इसे आप कभी छोड़ नहीं सकते। वह आपके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग हो जाता है, आपके व्यक्तिगत स्वभाव का अनिवार्य हिस्सा हो जाता है। इस पर बल देने के लिए महर्षि ने यहाँ पर 'स्थितौ' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ अटल रूप से या दृढ़तापूर्वक स्थित हो जाना होता है।

दूसरा शब्द है यत्न या प्रयास, अर्थात् सम्पूर्ण प्रयास; चाहे वह क्रियायोग हो, हठयोग हो, या ध्यान हो। अभ्यास के सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण बात है, जिसे अवश्य समझ लेना चाहिए। जब अभ्यास स्वाभाविक, दृढ़ व अचल तथा पूर्ण हो जाता है तब वह समाधि की प्राप्ति करा देता है। अत: सभी साधकों को नियमित और सतत् अभ्यास पर अधिक-से-अधिक ध्यान देना चाहिए। जब वे ऐसा करने में सक्षम जायेंगे तब चित्त की समस्त वृत्तियों का पूर्णत: निरोध हो जायेगा।

## सूत्र 14 – अभ्यास का आधार

*स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ॥14॥*

श्रद्धा के साथ दीर्घकाल तक निरंतर करते रहने से व्यक्ति अभ्यास में दृढ़ आधार को प्राप्त कर लेता है।

अभ्यास की तीन शर्तें हैं – 1. पूरी निष्ठा के साथ श्रद्धापूर्वक किया जाना चाहिए, 2. उसमें निरंतरता होनी चाहिए, और 3. उसे दीर्घकाल तक करते रहना चाहिए। जब ये तीनों शर्तें पूरी हो जाती हैं तब अभ्यास न केवल दृढ़ होता है, अपितु वह व्यक्ति के स्वभाव का अंग बन जाता है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि साधक प्रारंभ में तो बहुत उत्साहित रहते हैं, किन्तु बाद में जैसे-जैसे समय बीतता है उनका विश्वास डगमगाने लगता है। ऐसी स्थिति एक योग साधक के सामने कभी नहीं आनी चाहिए, जो इस जीवन में योग के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है। जब तक कोई ठोस व महत्त्वपूर्ण उपलब्धि न हो जाये, साधक को अपनी साधना निरंतर करनी चाहिए। किन्तु ऐसा विरले साधक ही कर पाते हैं।

नैरन्तर्य, अर्थात् बिना रुकावट के सतत् अभ्यास। अन्तर का मतलब भेद होता है और इस भेद के अभाव को नैरन्तर्य कहते हैं, अर्थात् सतत्, लगातार। साधना में निरंतरता अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यदि अभ्यास में जब-तब बाधा आती रहेगी तो विद्यार्थी को उसका समुचित लाभ नहीं मिल पायेगा, अर्थात् आध्यात्मिक परिपक्वता नहीं आ पायेगी। अतः साधक जब कभी अभ्यास आरंभ करे तो उसे लंबे समय तक अपनी साधना जारी रखनी चाहिए।

कई साधकों को यह भ्रांति है कि मात्र कुछ महीनों के अभ्यास द्वारा आध्यात्मिक विकास की अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु यह एकदम गलत धारणा है। उस अवस्था को प्राप्त करने में कई जन्म लग सकते हैं। साधक को न तो अपना धैर्य खोना चाहिए और न ही किसी प्रकार से शीघ्रता करनी चाहिए। हमारे प्राचीन साहित्य में ऐसे अनेक उद्धरण मिलते हैं जिनमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि योग के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने में कई जन्म लग सकते हैं। साधना में समय की अवधि उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी कि अभ्यास की निरन्तरता। साधक जब तक अपने लक्ष्य को प्राप्त न

कर ले तब तक निर्बाध रूप से उसे अपना अभ्यास जारी रखना चाहिए। इसमें चाहे जितना समय लग जाये। साधक को अपनी हिम्मत नहीं हारनी चाहिए, बल्कि निष्ठापूर्वक अभ्यास जारी रखना चाहिए। अब यहाँ पर श्रद्धा सबसे अनिवार्य हो जाती है, क्योंकि सिर्फ यही वह तत्त्व है जिसके बल पर साधक जीवन की विषम परिस्थितियों में भी अभ्यास को जारी रखने के प्रति धैर्य और ऊर्जा प्राप्त करता रहता है। यदि साधक में अपने अभ्यास के प्रति पूर्ण श्रद्धा है कि इसके द्वारा वह अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त कर लेगा तो लक्ष्य को प्राप्त करने के बाद अन्य सारी चीजें कोई मायने नहीं रखती।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि साधक को अपनी साधना अत्यन्त प्रिय होनी चाहिए। जिस प्रकार एक माता अपने बच्चे के समय पर घर न लौटने से चिंतित और परेशान हो जाती है ठीक उसी प्रकार जब साधक अपनी साधना निरंतर न कर पाये तो उसे चिंतित और परेशान होना चाहिए। उसे अपने शरीर से जितना लगाव होता है उतना ही लगाव उसे अपनी साधना से होना चाहिए। जिस प्रकार साधक अपने प्रिय मिष्टान्न के प्रति लालायित हो उठता है, ठीक उसी प्रकार उसे अपनी साधना के प्रति आकर्षित होना चाहिए। अभ्यास को जब पूर्ण निष्ठा, प्रेम और आकर्षण के साथ किया जाता है तब वह वांछित फल प्रदान करता है। उसमें किसी प्रकार की बाध्यता नहीं होनी चाहिए बल्कि स्वेच्छा होनी चाहिए। सत्कार शब्द का यही अर्थ होता है। इसका तात्पर्य अभ्यास के प्रति पूर्ण निष्ठा, उत्साह और सम्मान है। यदि साधक में ये तीनों गुण विद्यमान हैं तो वांछित परिणाम अवश्य प्राप्त होंगे। निरंतर आत्म-निरीक्षण एवं सत्संग के द्वारा अभ्यास के प्रति लगाव उत्पन्न किया जा सकता है।

महर्षि पतंजलि कहते हैं कि यदि श्रद्धा, विश्वास और लगन के साथ दीर्घकाल तक अभ्यास किया जाये तो निश्चित रूप से मन की पाँचों वृत्तियों का निरोध हो जायेगा।

## सूत्र 15 – वैराग्य का निम्न स्वरूप

*दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णास्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥15॥*

व्यक्ति जिन इन्द्रियगत वस्तुओं का अनुभव कर चुका है और जिनका उसने अनुश्रवण किया है, अर्थात् जिनके विषय में उसने सुना है, उनकी लालसा से मुक्त हो जाता है, तब चेतना की यह अवस्था वैराग्य कहलाती है।

जब व्यक्ति उन सभी सुखद वस्तुओं के प्रति लालसारहित, तृष्णारहित, वासनारहित हो जाता है जिन्हें उसने अपने जीवन में स्वयं देखा है या जिनके विषय में सुना है तब मन की उस अवस्था को वैराग्य कहते हैं। इन्द्रियों के माध्यम से सुखद वस्तुओं के सुख का अनुभव प्राप्त होना दृष्ट के अन्तर्गत आता है। ऐसे सभी अनुभव जो व्यक्तिगत ज्ञानेन्द्रियों की परिधि में आते हैं, दृष्ट कहलाते हैं। अनुश्रविक वस्तुएँ वे हैं जिनका अनुभव व्यक्ति ने स्वयं नहीं किया है, बल्कि जिनके विषय में दूसरे लोगों से सुना अथवा पुस्तकों में पढ़ा है, अनुश्रविक वस्तुएँ हैं। अत: वैराग्य पूर्णतया बुद्धि की एक प्रक्रिया है, यह अपने आप में कोई पन्थ नहीं है। यदि कोई ऐसा सोचता है कि वैराग्य के अभ्यास के लिए उसे अपना जीवन बदलना पड़ेगा, तो वह भ्रम में है। वैराग्य व्यक्ति के जीवन के सभी अनुभूतियों का अंतिम लेखा-जोखा है।

पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करते हुए भी वैराग्य उत्पन्न हो सकता है। इसके लिए अपने कर्त्तव्यों एवं विभिन्न कर्मों का त्याग आवश्यक नहीं है, बल्कि जरूरत है राग और द्वेष को छोड़ने की, जो व्यक्ति के अवचेतन की पीड़ा के मुख्य कारक हैं। गीता में यह स्पष्ट कहा गया है कि व्यक्ति इसी जीवन में अपने सभी कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए मुक्त हो सकता है, बशर्ते वह अपने कर्मों के अच्छे या बुरे प्रभावों से स्वयं को अलग कर ले, अर्थात् अनासक्त हो जाये। ध्यान के लिए व्यक्ति के बाह्य जीवन के कार्य-कलाप उतना महत्त्व नहीं रखते जितना कि आंतरिक जीवन। उसका आंतरिक जीवन कुंठाओं, दमन, जटिलताओं, मानसिक एवं आत्मिक भूलों से भरा होता है तथा ध्यान में इनकी निर्णायक भूमिका होती है। अत: इनका सामना करने के लिए वैराग्य अत्यंत आवश्यक है तभी व्यक्ति में समुचित भाव उत्पन्न हो सकते हैं।

वैराग्य सदा व्यक्ति के अंतरतम से प्रकट होता है। आप किस प्रकार के कपड़े पहनते हैं अथवा किन लोगों के साथ रहते हैं, यह महत्त्व नहीं रखता, बल्कि अपने जीवन में आने वाली विभिन्न वस्तुओं, व्यक्तियों और घटनाओं के प्रति किस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाते हैं, वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। वैराग्य के द्वारा एक संतुलित व समन्वित दृष्टि विकसित होती है। व्यक्ति सभी के प्रति प्रेम एवं करुणा का अनुभव करता है, जबकि अनासक्त भाव भी विद्यमान रहता है। वैराग्य व्यक्ति के स्वच्छ मन तथा शांति की अभिव्यक्ति है। यह साधक को अपार सुख और शान्ति प्रदान करता है जो सदा निर्बाध एवं अपरिवर्तित रहती है। भले ही साधक के जीवन में प्रिय अथवा अप्रिय घटना घटे, उसे कोई फर्क नहीं पड़ता।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है। ऐसा तर्क दिया जा सकता है कि बिना वैराग्य का अभ्यास किये साधक अपने मन को स्वच्छ तथा समाधि की अवस्था में शांत रख सकता है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि योग की अन्य विधियाँ, जैसे, प्राणायाम, ध्यान आदि साधक को उच्च अवस्था में पहुँचाने के लिए पर्याप्त हैं। परन्तु यह एक गलत धारणा है। अगर आप अपने मन का निष्पक्ष भाव से अवलोकन करें, तो पायेंगे कि चेतना के गहनतम तलों एवं अवचेतन मन की गहरायी में अनेक इच्छाएँ, वासनाएँ, महत्त्वाकांक्षाएँ आदि छुपी रहती हैं जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति पूरा करना चाहता है। ये अतृप्त इच्छाएँ, वासनाएँ द्वन्द्व और तनाव की जननी हैं। अपने दैनिक जीवन में भले ही हम इन द्वन्द्वों और तनावों से अनभिज्ञ हों, पर एक साधक के लिए, जो नियमित ध्यान करना चाहता है, सर्वप्रथम चेतना की गहनतम परतों में छुपे इन तनावों से मुक्ति पाना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा अपने मन को स्थिर रख पाने में उसे कठिनाई महसूस होगी।

आगे के एक अध्याय में महर्षि पतंजलि इसको और अच्छी तरह स्पष्ट करेंगे। प्रवृत्तियाँ मूलत: पाँच होती हैं जिन्हें अवचेतन की पीड़ा या क्लेश कहा जा सकता है। इनसे मुक्त होना आवश्यक है, अन्यथा साधक समाधि में अपने मन को स्थिर नहीं रख पायेगा और इसके लिए वैराग्य एकमात्र उपाय है, जिसके द्वारा अवचेतन के क्लेशों को समाप्त किया जा सकता है।

वैराग्य की तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहली अवस्था में संसार की वस्तुओं के प्रति रुचि और अरुचि मन में सक्रिय रहती है। मन में स्वाभाविक वासनाओं और लालसाओं, जैसे, घृणा, प्रेम आदि को नियंत्रित करने का प्रयास होता

रहता है। यह अवस्था राग और द्वेष के प्रभावों पर विजय पाने के संघर्ष के रूप में जानी जाती है। दूसरी अवस्था में राग और द्वेष के कुछ अंश मन के नियंत्रण में आ जाते हैं। तीसरी अवस्था में, राग और द्वेष का चेतन पक्ष उजागर हो जाता है और मन पूर्णतः मुक्त हो जाता है। अतः इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम अवस्था में प्रयास के बावजूद अपेक्षित सफलता नहीं मिलती। द्वितीय अवस्था में आंशिक सफलता मिलती है, और अंततः तीसरी अवस्था में साधक राग और द्वेष को बहिष्कृत करने में पूर्णरूपेण सफल हो जाता है, भले ही उसकी जड़ें शेष रह जायें।

## सूत्र 16 – वैराग्य का उच्चतर स्वरूप

*तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥16॥*

वैराग्य की उच्चतम अवस्था वह है जिसमें पुरुष का ज्ञान प्राप्त होने के कारण गुणों के प्रति वितृष्णा हो जाती है।

वैराग्य दो प्रकार का होता है, एक वैराग्य की निम्नतर अवस्था है और दूसरा वैराग्य की उच्चतर अवस्था है। निम्नतर वैराग्य में साधक इन्द्रियानुभूति के आकर्षण को पार कर चुका होता है, फिर भी सूक्ष्म रूप में वे विद्यमान रहती हैं। भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वैराग्य की निम्न अवस्था का संबंध इन्द्रियों की दमन प्रक्रिया से है, किन्तु सत्संग एवं धार्मिक चेतना के विकास द्वारा विवेक की प्राप्ति होती है तथा इन्द्रियाँ नियंत्रण में आ जाती हैं। उन पर मन का चेतन नियंत्रण बना रहता है तथा इच्छाएँ एवं लालसाएँ नियन्त्रण में रहती हैं। परावैराग्य का सम्बन्ध न केवल भोगों के त्याग से होता है, वरन् उन भोगों से जो सुख मिलता है उनके त्याग से भी है। निम्नतर वैराग्य की अवस्था में पीछे लौटने की संभावना रहती है पर जब व्यक्ति परावैराग्य को प्राप्त कर लेता है तब वासनाओं और तृष्णाओं से भरे जीवन में पुनः लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता। परावैराग्य में सभी प्रकार की कामनाओं का अभाव होता है। जब पुरुष के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है तब सुख, भोग, आनंद, ज्ञान आदि सब पीछे छूट जाते हैं। यहाँ तक कि निद्रा की इच्छा भी शेष नहीं रहती। ध्यान अथवा समाधि की अवस्था में साधक अपने अन्दर स्थित पुरुष यानि आत्मा के प्रति सजग हो जाता है। उसमें अपनी आत्मा को पहचानने का सहजानुभूत ज्ञान विकसित हो जाता है जो उसे परावैराग्य की ओर उन्मुख करता है। परावैराग्य की अवस्था में साधक समस्त विषयों, प्रलोभनों आदि पर विजय प्राप्त कर लेता है और तटस्थ बना रहता है। यदि उसके सामने संसार का समस्त सुख रख दिये जाये तब भी वह विचलित नहीं होता।

कठोपनिषद् में एक कथा में वर्णित है कि नचिकेता यह जानने को उत्सुक था कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा का क्या होता है। उसने अपने इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए मृत्यु के देवता, यमराज द्वारा दिये गये समस्त सांसारिक सुखों के प्रलोभनों को ठुकरा दिया था। अन्ततोगत्वा उसे सम्यक् ज्ञान प्राप्त हुआ,

क्योंकि सांसारिक सुखों को अस्वीकार कर उसने उच्चतम ज्ञान प्राप्त करने की अपनी पात्रता को सिद्ध कर दिया था। परावैराग्य की ऐसी उच्च अवस्था मात्र पुस्तकें पढ़ने, सत्संग अथवा किसी अभ्यास से नहीं आती, बल्कि इसका अवतरण तब होता है जब साधक में अपने अन्दर स्थित पुरुष (आत्मा) को पहचानने के सहजानुभूत ज्ञान का विकास होता है।

हमें इस सूत्र में प्रयुक्त *पुरुषख्याते:* शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। पुरुष शब्द दो शब्दों के मेल से बना है जिसमें पुरी का अर्थ नगर तथा ष का अर्थ निद्रा होता है। दर्शन की भाषा में हमारे भौतिक शरीर को नौ द्वारों वाला तथा मनोमय शरीर को चार द्वारों वाला नगर कहा गया है। एक तीसरे प्रकार का शरीर भी है जिसे प्राणिक शरीर कहते हैं। ऐसा माना जाता है कि जगत् में जो चेतना कार्यरत है वह सूक्ष्म शरीर की ही प्रणाली है। पुरुष चेतना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो इस शरीर में निष्क्रिय है, छुपी हुई है। जब पुरुष का प्रकृति से संपर्क होता है तब यह सृष्टि अस्तित्व में आती है। प्रकृति पाँच तत्त्वों (पंच महाभूतों), पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, मन के चार कर्म (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार),पाँच प्राण, तीन शरीर और पाँच इन्द्रिय सुख के विषयों से मिलकर बना है। सांख्य दर्शन के अनुसार ये सभी मिलकर मुख्य तत्त्व का निर्माण करते हैं। ये सभी प्रकृति के घटक हैं तथा इस जगत् का निर्माण पुरुष और प्रकृति के संसर्ग से हुआ है। योग मतानुसार पुरुष चेतन तत्त्व है जो मन के विषयों से रहित है। यह चेतना की अभिव्यक्ति है जो पाँच वृत्तियों से रहित है।

योग में पुरुष को चेतना की उच्चतम अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाता है जो वृत्तियों तथा प्रकृति के बंधन से मुक्त रहती है। सामान्यत: हमारी चेतना इन्द्रियों, मन और बुद्धि के माध्यम से कार्य करती है। ध्यान में यह गहरे स्तर पर कार्यरत रहती है, परन्तु उस अवस्था में प्रत्यय या मन की अन्तर्वस्तु उपस्थित रहती है। हालाँकि एक बन्धन रहता है – 'अहम्' बोध, 'अहमस्मि' का भाव। अन्ततोगत्वा ध्यान के परे वह अहमस्मि भाव भी लुप्त हो जाता है, और जो शेष रह जाती है वह है चेतना, जिसे पुरुष कहते हैं। पुरुष की यह परम चेतना तीन गुणों से मुक्त करती है, जिन्हें सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण कहते हैं। सत्त्व का अर्थ है – ज्ञान, शान्ति, प्रकाश; रजोगुण का अर्थ है लालच, क्रोध, तनाव; और तमोगुण का अर्थ होता है प्रमाद, आलस्य, मूढ़ता आदि। गुणों से मुक्ति का अर्थ यह है कि जब पुरुष का ज्ञान होता है तब मन इन तीन गुणों से अप्रभावित रहता है।

## सूत्र 17 – सम्प्रज्ञात समााधि की परिभाषा

*वितर्क विचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञात: ॥17॥*

सम्प्रज्ञात योग में क्रमश: वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता का भाव बना रहता है।

योग का लक्ष्य समाधि है। समाधि योग के सकारात्मक पक्ष को प्रस्तुत करता है जबकि चित्तवृत्ति निरोध नकारात्मक पक्ष को। समाधि के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ व्याप्त हैं। समाधि को पारिभाषित करते हुए हम कह सकते हैं कि उस अवस्था में साधक शून्यावस्था में पहुँच जाता है, जिसके परे कोई चेतना शेष नहीं रहती, अर्थात् चेतना की वह गहनतम अवस्था जहाँ 'मैं' का भाव भी काम नहीं करता। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने समाधि को सजगता की उस उच्चतर अवस्था के रूप में समझाया है जहाँ मनोमय शरीर भी सक्रिय नहीं रहता। उस अवस्था में केवल आत्मा कार्यरत रहती है। ज्ञान किसी प्रत्यय या आधार की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भौतिक क्षेत्र से चेतना की मुक्ति के पश्चात् ही समाधि की शुरुआत होती है। शुद्ध मानसिक चेतना वहाँ से प्रारम्भ होती है जहाँ पर इन्द्रिय जगत् या माया की सीमा समाप्त हो जाती है। यदि साधक शारीरिक और प्राणिक चेतना को प्रत्याहृत कर ले एवं साथ-ही-साथ मानसिक चेतना के प्रति सजग रहे तो यह समाधि का आरम्भ है। इस प्रकार की समाधि तब आरम्भ होती है जब चेतना मनोमय शरीर की गहराई तक प्रवेश कर जाती है, अर्थात् उस समय प्राणिक अथवा शारीरिक चेतना का कोई अवशेष नहीं रहता। यहाँ पर हम मन के तीन तलों का उल्लेख कर सकते हैं – मनोमय, विज्ञानमय एवं आनंदमय कोश। आत्मा इन सभी से सूक्ष्मतम् एवं उत्कृष्ट होती है। यह किसी तल से सम्बन्धित नहीं, वरन् विशुद्ध चेतना है।

चेतना के कुल पाँच क्षेत्र हैं जिनमें से तीन का उल्लेख हम कर चुके हैं। अन्य दो हैं – अन्नमय कोश, जो स्थूल शरीर है और प्राणमय कोश, जो अन्नमय कोश से सूक्ष्म है। इसके बाद हैं मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश जो सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हैं। आनन्दमय कोश चेतना का सूक्ष्मतम क्षेत्र है जहाँ आनन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं। कोई भौतिक पदार्थ नहीं होता है। चेतना

के इन पाँच क्षेत्रों के परे परम चेतना है, जिसे पुरुष के रूप में जाना जाता है। समाधि तब उपलब्ध होती है जब चेतना गहन से गहनतर तल पर उतरती जाती है एवं वस्तु, गति, विचार, सहज वृत्ति के क्षेत्रों का अतिक्रमण कर अन्ततः चेतना के क्षेत्र में पहुँच जाती है। इस प्रक्रिया में चेतना शारीरिक, प्राणिक और अन्य क्षेत्रों से अपने को मुक्त कर लेती है। चेतना के पाँचों क्षेत्र प्रकृति से बन्धे रहते हैं, पर जब चेतना आनन्दमय कोश में पहुँचती है तब वहाँ वह प्रकृति के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त हो जाती है।

समाधि पूरा क्षेत्र दो श्रेणियों में विभक्त है – सबीज और निर्बीज। सबीज निम्न अवस्था है और निर्बीज सूक्ष्मतर अवस्था। सबीज समाधि में एक आधार, अन्तर्वस्तु, एक केन्द्र अथवा एक प्रतीक होता है। सबीज समाधि में मन एक प्रतीक पर स्थिर रहता है, जो स्थूल अथवा सूक्ष्म हो सकता है एवं वहाँ एक प्रत्यय होता है जो मन में प्रतीक की अन्तर्वस्तु होता है। नये साधक को मन को स्थिर करने हेतु किसी आधार का सहारा लेना पड़ता है। ये आधार चार प्रकार के होते हैं, जिनके अनुसार समाधि के भी चार प्रकार माने गये हैं। समाधि की अवस्था को समझने के लिए प्रत्यय को जानना एवं समझना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्यय के विषय में बहुत भ्रम हैं। कुछ इसके पक्ष में बोलते हैं, तो कुछ विपक्ष में, परन्तु ये दोनों ही विचार आंशिक हैं, पूर्ण नहीं।

योग दर्शन ऐसा मानता है कि प्रत्यय तीन गुणों पर निर्भर होते हैं, तदनुसार ये सात्त्विक, राजसिक और तामसिक होते हैं। अतः समाधि एक विशेष आयाम है जिसमें आध्यात्मिक साधक न्यूनतम वस्तुओं, न्यूनतम प्रत्यय से प्रारम्भ करता है। वह जैसे-जैसे चेतना के गहन तलों में क्रमशः उतरता जाता है वहाँ एक समय ऐसा आता है जब वह चेतना के अन्तिम आधार, अर्थात् प्रत्यय को भी, जिन पर मन निर्भर करता है, छोड़ देता है और मन प्रत्यय मुक्त हो जाता है। प्रारम्भ में ध्यान के लिए प्रत्यय के रूप में जप-मंत्र या रूप रहता है, पर बाद में इसे छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार साधक चक्र, कमल, ध्वनि, मुद्रा, प्राणायाम, गंध, मूलाधार में स्पन्दन, भ्रूमध्य में ज्योति अथवा अपने गुरु को प्रत्यय के रूप में अपना सकता है। पर अंततः जब चेतना के परिष्करण द्वारा प्रत्यय छूट जाता है तब साधक समाधि की अवस्था में पहुँचता है।

## सूत्र 18 – असम्प्रज्ञात समाधि की परिभाषा

*विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥18॥*

असम्प्रज्ञात समाधि की उपलब्धि के पूर्व मन के प्रत्यय को रोकने का अनवरत अभ्यास चलता रहता है। इस अवस्था में संस्कारों का अवशेष बचा रहता है।

इस प्रकार की समाधि के विषय में बुद्धिजीवियों द्वारा भ्रम उत्पन्न कर दिया गया है। हमें स्पष्ट रूप से स्मरण रखना चाहिए कि सम्प्रज्ञात समाधि की प्रत्येक गहन अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था के साथ मिली रहती है और असम्प्रज्ञात समाधि निर्बीज समाधि नहीं होती है। असम्प्रज्ञात समाधि सबीज समाधि की श्रेणी में आती है। निर्बीज समाधि उच्चतम समाधि है, अतः सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात सबीज समाधि के दो प्रकार हैं।

जब आध्यात्मिक साधक ध्यान के क्षेत्र से बाहर निकल कर समाधि में प्रवेश करता है तब वह अवस्था वितर्क सम्प्रज्ञात के रूप में जानी जाती है। जब यह सिद्ध हो जाता है तब उसके पश्चात् असम्प्रज्ञात आती है। अगली अवस्था है विचार सम्प्रज्ञात की, जिसके पश्चात् पुनः असम्प्रज्ञात का आगमन होता है। ऐसा ही आनन्द और अस्मिता समाधियों के बाद होता है। अन्ततः अस्मिता सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा निर्बीज समाधि के रूप में होती है।

इस सूत्र में विराम का अर्थ होता है ठहराव या पूर्ण विराम। प्रत्यय मन की अन्तर्वस्तु है। एकाग्रता के दौरान हमारी चेतना को रुकने के लिए एक आधार की आवश्यकता होती है। वह आधार या तो एक प्रतीक हो सकता है, या एक विचार, स्थूल अथवा सूक्ष्म, जिसे प्रत्यय कहते हैं। जब आप ॐ पर ध्यान करते हैं, तो ॐ का जो रूप है वह मन के लिए प्रत्यय है; ऐसा अन्य प्रतीकों के साथ भी होता है। कभी-कभी ऐसा तर्क दिया जाता है कि किसी प्रतीक की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि परमात्मा निराकार है, पर यह कुछ ब्रह्मविज्ञानियों तथा दार्शनिकों द्वारा फैलाया गया भ्रम है। यह सत्य है कि ईश्वर या उस परम ब्रह्मस्वरूप परमात्मा का कोई रूप या आकार नहीं होता, परन्तु ध्यान की प्रक्रिया में साधक के मन को स्थिर रखने के लिए किसी आधार की आवश्यकता होती है। इसलिए महर्षि पतंजलि ने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात के अन्तर को स्पष्ट कर दिया है।

असम्प्रज्ञात समाधि में किसी प्रतीक की सजगता नहीं रहती, इसे विराम प्रत्यय कहते हैं। परन्तु मात्र प्रतीक की सजगता के अभाव का अर्थ असम्प्रज्ञात नहीं होता। असम्प्रज्ञात की पृष्ठभूमि में चेतना की एक सक्रिय अवस्था होती है। लय की यह अवस्था जो वितर्क और विचार, विचार और आनन्द आदि के मध्य आती है, संस्कार शून्य नहीं रहती। यद्यपि वहाँ चेतना गतिशील है, किन्तु प्रतीक का अभाव रहता है। लय की अवस्था में भी एक प्रच्छन्न सक्रियता होती है जिसे संस्कार कहते हैं। जब संस्कार पूर्णतया नष्ट हो जाता है तब चेतना पूर्णत: विलीन हो जाती है, और जो अवस्था शेष रहती है वह निर्बीज समाधि है, क्योंकि चेतना की आवश्यकता नहीं रह जाती। अत: असम्प्रज्ञात में दो स्पष्ट लक्षण या विशेषतायें हैं, प्रथम–प्रत्यय की समाप्ति, और द्वितीय–संस्कार की उपस्थिति।

यह अवस्था साधना के बाद की है। साधना में वितर्क, विचार आदि आते हैं। वितर्क समाधि में साधक केवल वस्तु के प्रति सजग रहता है, वहाँ अन्य किसी भी वस्तु की सजगता नहीं रहती है। जब यह साधना जारी रहती है तब प्रतीक, प्रत्यय की चेतना समाप्त हो जाती है और वह लय की अवस्था होती है। लय की इस अवस्था से या तो साधक अगली उच्च अवस्था में उछाल दिया जाता है या पुन: प्रतीक की सजगता की अवस्था में लौट आता है। ऐसा भी हो सकता है कि साधक ध्यान या धारणा की अवस्था में लौट जाये। असम्प्रज्ञात की अवस्था निरोधावस्था के समान है। यहाँ से व्यक्ति या तो चेतना की गहरी अवस्था में आरोहण करता है या पुन: स्थूलावस्था में लौट सकता है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जब व्यक्ति वितर्क अवस्था में प्रवेश करता है तब व्यक्तिगत चेतन संकल्पशक्ति काम करना बन्द कर देती है एवं समस्त क्रिया क्षेत्र का नियंत्रण संस्कार अथवा सक्रिय चेतना करती है जो साधक को आगे ले जाती है। यह वही सक्रिय चेतना है जो साधक को ध्यान, धारणा या विक्षेप की अवस्था में पुन: वापस ला देती है।

संस्कार चेतना का बीज है, जो सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था तक रहता है। इस अवस्था के पश्चात् वह समाप्त हो जाता है और निर्बीज समाधि का उदय होता है। निर्बीज समाधि कोई अवस्था नहीं हैं; यह चेतना विहीन, चेतना शून्य अवस्था है। योग के अनुसार चेतना या सजगता गति या स्पन्दन के रूप में रहती है, परन्तु निर्बीज समाधि गति या स्पन्दन की अवस्था नहीं है। इसमें

निश्चलता है। इस प्रकार इस सूत्र के अनुसार असम्प्रज्ञात समाधि तभी रहती है जब केवल संस्कार शेष रहते हैं और अभ्यास के कारण वस्तु की सजगता समाप्त हो जाती है।

समाधि के संदर्भ में विद्वानों के बीच एक भ्रांति व्याप्त है जिसको स्पष्ट कर देना आवश्यक है, क्योंकि उनका अनुभव बुद्धिजन्य है, अनुभवजन्य नहीं। वे इस धारणा में विश्वास करते हैं कि समाधि में वस्तुनिष्ठ चेतना, अर्थात् संस्कार अंततः समाप्त हो जाते हैं, पर वस्तुतः ऐसा होता नहीं। वस्तु की चेतना पूर्णतया विलुप्त नहीं होती, यह केवल हमारे विगत अनुभवों का स्तर बदल देती है। सामान्य रूप से हम प्रतीकों का अनुभव स्तरों के माध्यम से करते है, पर जब वे साधना द्वारा विलीन हो जाते हैं, तब वस्तु को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

जब साधक वितर्क से विचार आदि में जाता है तो ऐसा ही होता है। धारणा में वस्तु स्थूल चेतना का प्रतिपादित स्वरूप प्रतीत होता है; ध्यान में चेतना एकाग्रचित्त रहती है, वितर्क में चेतना सर्वोच्च अवस्था में रहती है, विचार में इसका चिन्तनशील स्वरूप होता है, आनन्द में इसका आनन्द स्वरूप रहता है, आदि। पर प्रत्यय अन्त तक रहता है। यह केवल बीच-बीच में लुप्त होता रहता है, तब उसे विराम प्रत्यय कहते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि में प्रत्यय या प्रतीक चेतना लुप्त हो जाती है, परन्तु अस्थायी रूप से। यह पुनः प्रकट होती है, पर उसी सजगता की अवस्था में नहीं। सजगता की अवस्था अब या तो और अधिक गहरी हो सकती है या और अधिक स्थूल। असम्प्रज्ञात समाधि एक स्थायी अवस्था नहीं है, यह केवल एक मध्यवर्त्ती अवस्था है, जिसमें चेतना एक अन्य धरातल की ओर आगे बढ़ना चाहती है। यह कार से उतर कर हवाई जहाज में चढ़ने के समान  है। यह एक अल्पकालीन अवधि है, एक धरातल से दूसरे धरातल पर जाने की।

ऐसा कहा जा सकता है कि हम सभी वितर्क तथा अन्य अवस्थाओं के साथ-साथ असम्प्रज्ञात अवस्था का भी अनुभव करते हैं, पर कठिनाई यह है कि ये अवस्थायें स्थिर नहीं रहती हैं, बदलती रहती हैं। अतः हमें वस्तु या प्रतीक को छोड़ना नहीं चाहिए चाहे वे जो भी हों – एक शिवलिंग हो या मूर्त्ति। हमें निरन्तर साधना के द्वारा गहराई में जाने का प्रयास तब तक करते रहना चाहिए जब तक अन्तिम असम्प्रज्ञात अवस्था तक नहीं पहुँच जाते, परन्तु निस्संदेह यह अत्यन्त कठिन है।

## सूत्र 19 – असम्प्रज्ञात समाधि के लिए पूर्व कर्मों की आवश्यकता

*भव प्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥19॥*

विदेह और प्रकृतिलय योगियों का जन्म असम्प्रज्ञात समाधि के कारण होता है।

सामान्यत: समाधि श्रद्धा, साहस, स्मृति और प्रज्ञा के द्वारा प्राप्य है। इन विभिन्न विधियों द्वारा साधकों को अपने आवेग की तीव्रता और साधना के अनुसार शीघ्र या विलम्ब से समाधि की प्राप्ति होती है। तथापि ऐसे अनेक व्यक्ति मिलते हैं, जिन्होंने कोई साधना नहीं की है, पर वे बड़ी सरलता से समाधि को प्राप्त कर लेते हैं। इसका कारण यह है कि उन्हें जन्म से ही पूर्व कर्मों के सभी अवशेष प्राप्त होते हैं। समाज में इस प्रकार के व्यक्ति हैं जिन्होंने बड़ी अल्पावस्था में निम्नतर चेतना के अवरोधों को पार कर लिया। उदाहरण के लिए, महान् संत ज्ञानेश्वर और अरुणाचल के महर्षि रमण, जिन्हें अपनी किशोरावस्था में ही समाधि प्राप्त हो गयी थी।

इस सूत्र में पतंजलि कहते हैं कि दो प्रकार के योगी होते हैं – एक जो विदेह हैं और दूसरे जो प्रकृतिलय हैं। ऐसे योगी जन्म से ही असम्प्रज्ञात समाधि को उपलब्ध होते हैं। उन्हें धारणा, ध्यान, वितर्क, विचार आदि जैसे प्रारम्भिक अभ्यास नहीं करने पड़ते हैं।

## सूत्र 20 – अन्यथा, असम्प्रज्ञात समाधि के लिए अन्य योग्यताओं की आवश्यकता होती है

*श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥20॥*

दूसरे योगी, जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधि के माध्यम से सम्प्रज्ञात समाधि से क्रमश: असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है।

जैसा कि हमने पहले देखा है, विदेह और प्रकृतिलय दो प्रकार के योगी जन्म से ही समाधि को उपलब्ध होते हैं, परन्तु ऐसे योगी विरले ही होते हैं। बहुसंख्यक साधकों को तो इस सूत्र में वर्णित विभिन्न विधियों के नियमित अभ्यास करने पड़ते हैं।

श्रद्धा की रचना दो पदों 'श्रत्' अर्थात् 'सत्य' और 'धा'– धारण करना, के मेल से हुई हैं। अत: श्रद्धा का अर्थ होता है – 'जो सत्य को धारण करता है।' विश्वास सामान्यतया अंधी तथा दृढ़ होती है जबकि श्रद्धा सत्य की समझ से उत्पन्न होती है। श्रद्धा सत्य के अनुभव से प्राप्त होती है, जबकि विश्वास दूसरों से सीखा जाता है, यह सत्य की अनुभूति का परिणाम नहीं है। श्रद्धा कभी धोखा नहीं देती, हमेशा खरी उतरती है। योगाभ्यासी के लिए पहला महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, श्रद्धा। यह सामान्य विश्वास से भिन्न है। श्रद्धा सत्य की झलक मिल जाने पर ही उत्पन्न होती है। जैसे स्वामी विवेकानन्द और स्वामी योगानन्द जब अपने गुरु के सम्पर्क में आये तो उन्हें सत्य की झलक मिली। फिर भी यह पूर्ण सत्य नहीं, वरन् उसकी झलक मात्र है। यह योग मार्ग का प्रारम्भ मात्र है। गुरु शक्तिपात द्वारा शिष्य में सत्य की या समाधि की अनुभूति उत्पन्न करते हैं। और इसप्रकार श्रद्धा उत्पन्न होती है।

दूसरी आवश्यक योग्यता वीर्य, अर्थात् ऊर्जा है, जिसका तात्पर्य शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जा, दोनों से है। समाधि के संदर्भ में इसे साहस कहेंगे, जिससे साधक योग मार्ग में आने वाली अनेक बाधाओं को पार कर सकते हैं। इसमें दृढ़ संकल्प और निश्चय सम्मिलित है। साधक को अपने मार्ग में आने वाली किसी भी बाधा से विचलित नहीं होना है, हर हाल में आगे बढ़ते रहना है। अपने मन को समुचित रूप से नियंत्रित रखना है, क्योंकि नियंत्रित मन ही

साहस, अर्थात् वीर्य से परिपूर्ण रहता है। वेदों में एक प्रार्थना मिलती है जिसमें ऋषि साहस और ऊर्जा के लिये ओज और वीर्य की याचना करते हैं।

तीसरा तत्त्व है स्मृति। यहाँ स्मृति शब्द का तात्पर्य ध्यान से है, जिसमें साधक प्रतीक का स्मरण रखता है। स्मृति के द्वारा हम चेतन क्षेत्र में चेतना की अनुभूति ला सकते हैं।

अगला है, समाधि प्रज्ञा। असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के लिए यह अत्यन्त अनिवार्य है। योग के अनुसार बुद्धि दो प्रकार की होती है। पहली, सांसारिक बुद्धि, जो दैनिक जीवन में सफलता के लिए आवश्यक है, और दूसरी, उच्चतर चेतना, जो सम्प्रज्ञात समाधि के परिणामस्वरूप विकसित होती है। ऐसी बुद्धि हममें से अधिकतर लोगों के पास नहीं होती है, पर यह नियमित साधना से विकसित हो सकती है। एक बार जब यह विकसित हो जाती है, तब साधक बहुत ही कम समय में आश्चर्यजनक प्रगति कर सकता है। इसको एक विशेष या अनुकूल दृष्टिकोण कहा जा सकता है। यह आध्यात्मिक बोध के लिये पूर्वापेक्षा है।

यह कहा जा सकता है कि स्वामी विवेकानन्द में यह क्षमता थी। इसीलिए उनके मन में धर्म, ईश्वर, मानव-प्रारब्ध आदि विषयों के विषय में अनेकानेक परस्पर विरोधी विचार रहने के बावजूद वे अत्यन्त तीव्र गति से आध्यात्मिक प्रगति कर सके। अत: समाधि प्रज्ञा एक अपूर्व, अलौकिक क्षमता है। यह एक आध्यात्मिक भाव या आध्यात्मिक दृष्टि है, जिसे साधक नियमित सत्संग और निरंतर आत्मशुद्धि द्वारा प्राप्त करता है।

## सूत्र 21 – उत्कंठा की तीव्रता से शीघ्र प्राप्ति

*तीव्र संवेगानामासन्नः ॥21॥*

जिनमें उत्कंठा तीव्र या प्रबल होती है, वे अतिशीघ्र असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त कर लेते हैं।

## सूत्र 22 – उत्कंठा की तीन कोटियाँ

*मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥22॥*

उत्कंठा की प्रबलता की क्रमशः सौम्य, मध्य और प्रबल अवस्थाओं के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि शीघ्रतर प्राप्त हो सकती है।

इस सूत्र का सामान्य अर्थ यह है कि प्रयास के द्वारा प्राप्त होने वाली समाधि उनके लिए अपेक्षाकृत सरल है जिनकी गति या उत्कंठा तीव्र है। ऐसा देखा गया है कि एक ही प्रकार की साधना कर रहे साधकों में कुछ तो लक्ष्य तक शीघ्र पहुँच जाते है, जबकि कुछ बीच में ही बहुत दिनों तक अटके रहते हैं। गति की तीव्रता व्यक्ति के गम्भीरता और इमानदारी पर निर्भर रहती है। गंभीरता एक मनोवृत्ति है। यह उतनी ही प्रबल होनी चाहिए जितनी भगवान विष्णु के महान् भक्त ध्रुव में थी। वे अपनी गंभीरता और प्रबल उत्कंठा के कारण ईश्वर तक पहुँच पाये थे। इसी प्रकार, एक साधक में ये मानसिक गुण होने चाहिए। गंभीरता का अर्थ कठोर और दुःसाध्य साधना नहीं है। सरल साधना भी आपको सिद्धि तक पहुँचा सकती है, बशर्ते आपका संवेग प्रबल हो। और गति की तीव्रता को व्यग्रता नहीं मान लेना चाहिए। यह प्रेरणा की उत्कंठा से बिल्कुल भिन्न है। पतंजलि कहते हैं कि जो गम्भीर हैं उनके लिए समाधि अत्यन्त निकट है।

अगले सूत्र में गंभीरता की क्रमशः बढ़ती तीव्रता का वर्णन किया गया है। उन्हें क्रमशः सौम्य, मध्य, या अति तीव्र कहते हैं। अनेक साधक प्रारम्भ में बड़े उत्साही प्रतीत होते हैं, किन्तु उनकी प्रेरणा अपेक्षाकृत कमजोर होती

है, अतः बहुत दिनों तक साधना करते रहने के बाद भी उनको उत्साहवर्द्धक परिणाम नहीं मिलते। समय के साथ उनकी रुचि क्षीण होती जाती है, और जिस साहस और ऊर्जा के साथ उन्होंने प्रारम्भ किया था, वह लुप्त हो जाती है। वे बिना किसी आशा के उस अवस्था को ढोते रह सकते हैं। ये लोग उत्कंठा की प्रबलता की सौम्य अवस्था के उदाहरण हैं। मध्यम प्रकार के साधक निस्संदेह गंभीर होते हैं, पर वे शीघ्रता से समााधि तक पहुँचने के लिए तीव्र साधना करने के लिए तत्पर नहीं होते। गम्भीरता की तीव्रता में अधिमात्र विरले ही होती है, पर यदि यह है, तो यह साधक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इतना एकाग्रचित्त बना देती है कि वह तब तक विश्राम नहीं करता जब तक लक्ष्य प्राप्त नहीं कर लेता।

इन तीन श्रेणी के साधकों की, अपनी उत्कंठा की तीव्रता के अनुसार तीन भिन्न-भिन्न साधनायें हैं। सामान्यतः गुरु जो आध्यात्मिक शिक्षा देते हैं, साधक की तीव्रता का अनुमान कर लेते हैं और तदनुसार उसका मार्गदर्शन करते हैं। एक अच्छे शिष्य को प्रारम्भ में उच्चतर साधना की मांग नहीं करनी चाहिए। उसे गंभीरतापूर्वक उस साधना का अभ्यास करना चाहिए जो उसे गुरु से प्राप्त हुई है, क्योंकि वस्तुतः प्रारम्भ में उच्चतर या निम्नतर साधना से कोई अन्तर नहीं पड़ता है। गंभीरता का ही अधिक महत्त्व होता है।

## सूत्र 23 – अथवा ईश्वर भक्ति द्वारा

*ईश्वर प्रणिधानाद्वा ॥23॥*

अथवा ईश्वर भक्ति के द्वारा (असम्प्रज्ञात समाधि) प्राप्य है।

ईश्वर का तात्पर्य किसी व्यक्ति से नहीं, बल्कि एक श्रेष्ठ आध्यात्मिक चेतना से है। ये न तो शारीरिक हैं न मानसिक, बल्कि विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक हैं। यदि साधक को ऐसा प्रतीत होता है कि वह श्रद्धा, ऊर्जा आदि की अवस्थाओं के द्वारा आगे बढ़ने में असमर्थ है तो वह उच्चतर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए दूसरा रास्ता अपना सकता है, जो ईश्वर के प्रति प्रबल भक्ति है। कुछ योगियों को जन्म से ही समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है, अन्य लोगों को लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयास करने पड़ते हैं, गहन तीव्रता वाले गम्भीर प्रयास। अनेक साधक ऐसे भी हैं जो वांछित अभ्यास नहीं कर पाते हैं, क्योंकि उनमें आवश्यक क्षमता का अभाव होता है। फिर भी, उनके लिए भी आशा है। पतंजलि लक्ष्य तक पहुँचने के लिए गहन ईश्वर भक्ति के एकरूप निश्चित मार्ग की अनुशंसा करते हैं।

इस सूत्र में 'वा' शब्द संकेत करता है कि एक वैकल्पिक विधि का वर्णन किया जा रहा है। प्रणिधान शब्द का अर्थ है – पूर्णतया, अप्रतिबन्धित और सम्यक् समर्पण। यह अपनी सजगता, अपने मन, अपने विचार, और चेतना को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना है।

यह सूत्र विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न प्रकार से समझाया गया है। उदाहरणार्थ, कहा गया है कि इस सूत्र का अर्थ है ईश्वर के प्रति समर्पण से समाधि की प्राप्ति होती है, या मन को ईश्वर में लगा देने पर समाधि प्राप्त हो जाती है। कुछ का कहना है कि यह अपनी सजगता को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना है। इस सूत्र को सही ढंग से समझने के लिए हमें ईश्वर की स्पष्ट धारणा होनी चाहिए। विभिन्न धर्मों में इस शब्द का उपयोग विभिन्न रूप में हुआ है। कुछ धर्म व्यक्तिगत ईश्वर में विश्वास करते हैं, कुछ उसे सृष्टि का नियंता या स्रष्टा मानते हैं। कुछ लोगों को ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर है ही नहीं, केवल सार्वभौम चेतना है। इस सम्बन्ध में हमें ध्यान देना चाहिए कि योग दर्शन सांख्य दर्शन की शाखा है, जो निरीश्वरवादी सिद्धान्त है। इसी प्रकार बौद्ध धर्म में भी ईश्वर नहीं है।

वास्तव में यह आश्चर्य की बात है कि पतंजलि, जिन्होंने अपने दार्शनिक विचार सांख्य से लिये, वे ईश्वर और उनके प्रति भक्ति की बातें करें। संभवतः उन्होंने मानव जाति के आध्यात्मिक कल्याण के लिए ईश्वर की अवधारणा को प्रस्तुत किया। हमें यह ध्यान रखना है कि एक योग शिक्षक भले ही स्वयं निरीश्वरवादी हो, उसे नास्तिकता की शिक्षा नहीं देनी चाहिए, क्योंकि विश्व के सभी देशों के सामान्य मनुष्य को ईश्वर के विचार से ही बड़ी शान्ति मिलती है। पतंजलि ने यह अच्छी तरह समझते हुए कि सांख्य का निरीश्वरवाद अनुकूल नहीं है, योग सूत्रों में ईश्वर की अवधारणा को लाया, क्योंकि वे जानते थे कि उनके योग का मुख्य उद्‌देश्य मानवता को जीवन का एक व्यावहारिक मार्ग देना था, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी आस्थाओं, सीमाओं और कल्पनाओं के अनुसार आध्यात्मिक मार्ग में प्रगति कर सके। वे यह अच्छी तरह समझते थे कि नये साधकों को शिक्षा देते समय आध्यात्मिक गुरु को अपने अनुभवों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, इसीलिए उन्होंने ईश्वर की अवधारणा को अपने दर्शन में स्थान दिया, जबकि सम्भवतः वे स्वयं निरीश्वरवादी थे।

ईश्वर के विषय में तीन अवधारणायें है। प्रथम, भारतीय दार्शनिक विचारक उसे मनुष्य से भिन्न नहीं मानते हैं, बल्कि उनका कहना है कि आत्मा ही परमात्मा है। द्वितीय, कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य के हृदय में रहते हैं, अतः उन्हें खोजने के लिए कहीं बाहर नहीं जाने की आवश्यकता नहीं। तृतीय, अधिकतर लोग ईश्वर और मनुष्य की द्वैत सत्ता में विश्वास करते हैं।

## सूत्र 24 – ईश्वर की परिभाषा

*क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥24॥*

ईश्वर वह विशिष्ट सत्ता है जो क्लेश, कर्म, उनके अवशेषों और परिणामों से अप्रभावित है।

इस सूत्र में ईश्वर की प्रकृति को स्पष्ट किया गया है। महर्षि पतंजलि व्यक्तिगत ईश्वर में विश्वास नहीं करते। ईश्वर की उनकी धारणा आध्यात्मिक चेतना के रूप में है, जो इतनी शुद्ध है कि कर्म और उसके प्रभावों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सूत्र को समझने के लिए भारतीय साधना के मूल को समझना आवश्यक है। भारतीय साधना में अनेक प्रकार के योग सम्मिलित हैं, जैसे – राजयोग, हठयोग, मंत्रयोग, कर्म योग, लय योग और तंत्र, परन्तु उनका मूल आधार परम सत्य के प्रति पूर्ण समर्पण है। यह तथ्य एक सामान्य व्यक्ति के लिए जितना सही है, उतना ही सही उत्कृष्ट बौद्धिक भारतीय दार्शनिकों के लिए भी है।

एक व्यक्ति ईश्वर के प्रति तभी समर्पित होता है, जब वह अपनी सीमाओं के प्रति सजग होता है। जब व्यक्ति अपनी सीमाओं को जानता है, तब वह भटकता नहीं है, और वह ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण कर सकता है। जब तक व्यक्ति यह समझता है कि उसमें कुछ विशेष गुण हैं, तब तक वह सच्चा भक्त नहीं हो सकता है। भक्ति तब प्रारम्भ होती है जब आप स्वयं को अच्छी तरह पहचानते हैं, अपनी प्रकृति को जानते हैं और उसके विषय में आश्वस्त हैं। जैसा कि हम जानते हैं, मनुष्य कमजोर होता है, पर अज्ञान के कारण वह स्वयं को शक्तिशाली और सक्षम समझता है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ केवल मन्दिर जाना नहीं है; बल्कि इसके लिए लम्बे समय तक आत्मविश्लेषण की सतत् चलने वाली प्रक्रिया द्वारा पूर्ण समर्पण की आवश्यकता होती है।

ईश्वर प्रणिधान के साथ-साथ साधक को अन्य साधना भी करनी चाहिए। ईश्वर के प्रति समर्पण शीघ्रता से आत्मज्ञान प्राप्त करने के साधनों में से एक है। ईश्वर एक विशेष पुरुष हैं जो पंच क्लेशों, तीन प्रकार के कर्मों, तीन प्रकार के कर्मफलों और कर्मों के बीजों से सर्वथा अप्रभावित रहते हैं। क्लेश पाँच हैं – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और मृत्यु का भय। ये क्लेश सभी के

मन में जड़ जमाये हुए हैं, पर ईश्वर इन सबसे मुक्त हैं। कर्म तीन प्रकार के होते हैं – शुभ, अशुभ, शुभाशुभ (मिश्रित)। उनके शुभ, अशुभ और मिश्रित परिणाम होते हैं, जैसे – आयु की लम्बाई, सुख और जन्म का प्रकार। ईश्वर इन पक्षों से भी मुक्त हैं।

अपने पूर्व कर्मों के कारण ही अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में हमारा जन्म होता है। हमारा स्वास्थ्य, आयु की लम्बाई, सुख, मानसिक विकास हमारे पूर्व कर्मों से प्रभावित होते हैं। इनके साथ ही हम जीवन में अपने कर्मों के अवशेष एकत्र करते जाते है। कर्मावशेषों का यह भंडार, जिसे हम कर्माशय कहते हैं, बढ़ता जाता है। अगले जन्म में इनके शुभ या अशुभ परिणाम भोगते हैं। ईश्वर इस कर्माशय से भी पूर्णतया मुक्त हैं।

सांख्य के अनुसार ब्रह्माण्ड में अनेक पुरुष हैं और ईश्वर उन सब में श्रेष्ठतम हैं। जिस प्रकार अन्य मनुष्यों के समान होने के बावजूद एक राजा की शासक होने के कारण एक विशेष प्रतिष्ठा होती है, उसी प्रकार ईश्वर एक विशेष पुरुष होते हैं, क्योंकि वे उन तत्त्वों से पूर्णतया मुक्त रहते हैं जो अन्य पुरुषों को बाँधे रखते हैं। अन्य पुरुष भी स्वाभाविक रूप से प्रकृति से मुक्त होते हैं, किन्तु वे प्रकृति के सम्पर्क में आते हैं और इस सम्पर्क के कारण उन्हें विभिन्न जन्मों और पुनर्जन्मों से गुजरना पड़ता है। ईश्वर सदा मुक्त रहते हैं। चेतना की वह विशेष अवस्था को 'पुरुषविशेष' कहते हैं जो ऊपर वर्णित तत्त्वों से परे होता है, फिर भी वह पृथ्वी पर प्रत्येक मनुष्य में अभिव्यक्त होता है। अत: पृथ्वी के प्रत्येक मनुष्य के लिए परमपुरुष को प्राप्त करना संभव है जो 'पुरुषविशेष' है। परन्तु इसके लिए व्यक्ति को ईश्वर की प्रत्यक्ष अवधारणा या उनका अनुभव होना चाहिए, क्योंकि वह बौद्धिक अवधारण जो प्राय: हम सब में होती है, पर्याप्त नहीं है।

### सूत्र 25 – ईश्वर के लक्षण

*तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥25॥*

ईश्वर में असीम सर्वज्ञता का बीज है।

### सूत्र 26 – ईश्वर जगत् गुरु हैं

*पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥26॥*

कालजयी होने के कारण वे पूर्व में आये सभी गुरुओं के गुरु हैं।

### सूत्र 27 – प्रणव ही ईश्वर है

*तस्य वाचकः प्रणवः ॥27॥*

ॐ शब्द ही ईश्वर को व्यक्त करता है।

### सूत्र 28 – ईश्वर प्राप्ति की साधना

*तज्जपस्तदर्थ भावनम् ॥28॥*

उस (ॐ) के अर्थ पर चिन्तन करते समय निरन्तर उसका जप करते रहना चाहिए।

ईश्वर की प्रकृति और ईश्वर प्रणिधान को इन चार सूत्रों में स्पष्ट कर दिया गया है। ईश्वर मनुष्य में अभिव्यक्त होने वाली उच्चतम चेतना हैं। उसमें सम्पूर्ण ज्ञान का बीज है। हमारे अन्दर ईश्वरीय चेतना की पराकाष्ठा समाधि है। हमने पहले देखा है कि विकास क्रम में पुरुष चेतना की अभिव्यक्ति है, और इस प्रक्रिया में असंख्य अवस्थायें आती हैं, क्योंकि सृष्टि में असंख्य पुरुष हैं। जब हम जीवन के विभिन्न अनुभवों का भोग करते हैं, तब बाह्य जगत् की हमारी

मानसिक चेतना को वैश्वानर पुरुष कहते हैं। स्वप्नावस्था की चेतना तेजोमय पुरुष कहलाती है। निद्रा में वह प्राज्ञ पुरुष कहलाती है। ईश्वर परमपुरुष है जो इन असंख्य पुरुषों का अधिपति है।

जैसा कि सामान्य रूप से समझा जाता है, वास्तव में पुरुष का अर्थ आत्मा नहीं होना चाहिए, बल्कि इसका अर्थ चेतना की विशेष अभिव्यक्ति होना चाहिए। परमपुरुष ही ईश्वर है। वह अभिव्यक्ति के क्षेत्र में नहीं है, बल्कि अव्यक्त क्षेत्र में आता है। उसे परब्रह्म कहते हैं। इस अन्दर असीम ज्ञान का बीज है। इसे सर्वज्ञ कहा जाता है, क्योंकि सृष्टि में ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसके क्षेत्र से परे हो।

विकास की उच्चतम अवस्था ज्ञान है जिसकी कोई सीमा नहीं। यह सभी वस्तुओं का ज्ञान है, पर ज्ञान बाहर से प्राप्त नहीं होता। ईश्वर उस ज्ञान को प्रकट करता है; एक साधक जिसने चेतना की उच्चतम अवस्था प्राप्त कर ली है, समस्त ज्ञान के सम्पर्क में रहता है, फिर भी यह आवश्यक नहीं कि वह समस्त ज्ञान को इन्द्रिय ज्ञान के स्तर पर उतारा जाये। सामान्य व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति उस ज्ञान के अंशमात्र को प्रदर्शित करता है।

ईश्वर प्राचीन गुरुओं का गुरु है, क्योंकि वह कालबद्ध नहीं है। यहाँ तक कि महान् ऋषिगण, मनीषीगण, पैगम्बर, और गुरुगण काल की दृष्टि से ईश्वर के बाद आते हैं। चेतना की वह अवस्था, जिसे उच्चतम समझा जाता है और जो अभी भी हममें है, वह हमारे शरीर की मृत्यु के साथ मरती नहीं है, वह कालातीत है।

मनुष्य और ईश्वर में यह अन्तर है कि मनुष्य चेतना की अभिव्यक्त अवस्था है, जबकि ईश्वर चेतना की उच्चतम अवस्था है। अभिव्यक्त अवस्था विभिन्न जन्मों में, विभिन्न अवतारों के रूप में विभिन्न शरीरों, जैसे – मानव, पशु आदि को माध्यम बना कर अभिव्यक्त होती रहती है। अन्ततोगत्वा जब वह विकास के उच्चतम बिन्दु पर पहुँच जाती है तब एक सूक्ष्मतर तथा उच्चतर शरीर ग्रहण कर लेती है। अत: ईश्वर जो जन्म-मृत्यु से असम्बद्ध हैं, कालातीत और अनादि हैं, उन्हें अतीत के पैगम्बरों और गुरुओं का भी गुरु कहा गया है।

ईश्वर परम चेतना के चरम बिन्दु हैं। केवल सोचने से उन तक पहुँचना संभव नहीं है। हम न तो वाणी, प्रवचन, बुद्धि से, और न ही मनीषियों से उनके विषय में जानकारी प्राप्त कर अथवा शास्त्रों के अध्ययन से उन तक पहुँच सकते हैं। सोचना और अनुभव करना दो भिन्न चीजें हैं। भारतीय दर्शन

की सम्पूर्ण रचना दो भागों में विभक्त है, तत्त्व चिन्तन और तत्त्व दर्शन। तत्त्व चिन्तन का अर्थ है परम चेतना पर मनन, चिन्तन और तत्त्व दर्शन का अर्थ है परम चेतना का ज्ञान। तत्त्व चिन्तन से भारतीय दर्शन के छ: सिद्धान्त उत्पन्न हुए। यह परम चेतना को बौद्धिक आधार पर समझने का एक तरीका है, पर वह अपूर्ण ही है। अत: तत्त्व दर्शन योग, भक्ति, रहस्यवादी और गुह्य साधनाओं आदि के माध्यम से विकसित हुआ। चिन्तन ज्ञान है, जबकि दर्शन अनुभूति है।

महर्षि पतंजलि ने ज्ञान की अवस्था से धारणा या अनुभव तक पहुँचने के लिए एक पद्धति का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि ॐ ऐसा शब्द है जो ईश्वर का सूचक है; ॐ ईश्वर का वर्णन करता है। हमने देखा है कि परम चेतना या ईश्वर निराकार हैं, उनका कोई स्वरूप नहीं है, पर एक ऐसा माध्यम होना चाहिए जो उन्हें अभिव्यक्त कर सके। यंत्र, मंत्र और तंत्र द्वारा इनकी व्याख्या की गयी है। जिस प्रकार गणित में विभिन्न प्रक्रियाओं को प्रदर्शित करने के लिए सूत्रों को विकसित किया गया है उसी प्रकार ये तीनों निराकार चेतना को अभिव्यक्त करती हैं। उदाहरण के लिए – $E=mc^2$ एक सूत्र है। यह समीकरण आइन्स्टाइन द्वारा प्रस्तुत किया गया था। यह ऊर्जा में पदार्थ की अभिव्यक्ति है जिसे हम देख नहीं सकते, पर यह प्रक्रिया के माध्यम से प्रकट हो जाती है। यही वाचक का अर्थ है। विज्ञान सूत्रों के समान हमारे यहाँ तंत्र शास्त्र में मंत्र और तंत्र के अतिरिक्त यंत्र भी हैं।

जिस प्रकार एक वैज्ञानिक ऊर्जा के सिद्धान्त को, जिसे वह अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा देखता या अनुभव करता है, एक नाम देता है, उसी प्रकार महर्षि पंतजलि ने भी ईश्वर की परम चेतना को एक संज्ञा दी है, एक नाम दिया है। वह मंत्र, यंत्र या तंत्र के रूप में हो सकता है। मंत्र का अर्थ है ध्वनि के रूप में एक नाम। परम चेतना का ध्वनि-सूत्र के रूप में उल्लेख किया गया। तंत्र में मानव या पशु आकृतियों का प्रतीक के रूप में प्रयोग किया जाता है, जैसे यह मानव आकृति या पशु आकृति हो सकती है। यंत्र अतीन्द्रिय प्रतीक है। ॐ मंत्र एवं यंत्र, दोनों है। यह तंत्र नहीं है, क्योंकि तंत्र में मानव प्रतीक होना चाहिए। विभिन्न देशों के लोगों ने सदा अपनी सूक्ष्मतर शक्तियों, जैसे – विचार, क्रोध, उत्साह, सूक्ष्मदृष्टि या परम ज्ञान को व्यक्त करने के लिए विशेष प्रतीकों का विकास किया है। ॐ एक मंत्र है और प्रत्येक मंत्र के दो रूप होते हैं – एक ध्वनि होती है और एक स्वरूप होता है। ॐ के स्वरूप को आँखों से देखा जा सकता है, और साथ ही उसकी एक ध्वनि भी है। अत: मंत्र ॐ देखा और सुना जा सकता है। यंत्र में भी

रेखाचित्र और ध्वनियाँ होती हैं, परन्तु तंत्र में कोई ध्वनि नहीं होती। इसे केवल देखा जा सकता है; सुना नहीं जा सकता। यंत्र में एक बीज मंत्र भी जोड़ दिया जाता है और बीज मंत्र के साथ यंत्र ध्वनि और रूप दोनों का मिश्रण हो जाता है।

हम ईश्वर को न आँखों से देख सकते हैं और न कानों से सुन सकते हैं, परन्तु मंत्र की सहायता से हम उसका अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। ॐ एक मंत्र ईश्वर को एक संज्ञा प्रदान करता है।

महर्षि पतंजलि कहते हैं कि ॐ मंत्र का जप करना चाहिए और उसके अर्थ पर मनन करना चाहिए। संभवत: यह सांख्य दर्शन से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि सांख्य दर्शन किसी परम सत्ता में विश्वास नहीं करता है। उसका मत है कि पचीस मूल तत्त्वों की सम्यक् समझ से परम ज्ञान प्राप्त हो सकता है। महर्षि पतंजलि ने निश्चित रूप से यह समझा होगा कि कुछ गिने-चुने अत्यंत विकसित लोगों के लिए ही यह संभव है, अत: उन्होंने ॐ मंत्र जप की साधना विकसित की। यह एक सर्वथा नया आयाम है, जो भक्ति के रूप में प्रतिपादित हुआ। सीधे एक निराकार वस्तु पर ध्यान करने के लिए कहने के स्थान पर उन्होंने ॐ के रूप में एक आधार प्रदान किया।

ॐ के सतत् जप के साथ उसके अर्थ पर ध्यान करने से ध्यान पूर्ण होता है। केवल जप पर्याप्त नहीं है। जप और ध्यान, दोनों को साथ चलना चाहिए। महर्षि पतंजलि कहते हैं कि ॐ का जप करते समय साधक को जप के प्रति भी सजग रहना चाहिए और अपने मन को उसका अर्थ को समझने में लगाना चाहिए। इसके लिए हमें ॐ का अर्थ समझ लेना चाहिए। माण्डुक्य उपनिषद् में हम इसका स्पष्ट उल्लेख पाते हैं। यह परब्रह्म की परम चेतना के रूप में व्यक्त किया गया है।

ॐ शब्द तीन वर्णों से मिलकर बना है अ, उ और म्। अ को इन्द्रिय, शरीर, वस्तुगत संसार के उपभोग और विश्व पुरुष के संदर्भ में समझना चाहिए। उ वर्ण को अवचेतन मन, आत्मनिष्ठ भोग या पुरुष की तेजस् अवस्था के संदर्भ में समझना चाहिए। उसी प्रकार म वर्ण को अचेतन, मन की अनुपस्थिति, भोग रहित या पुरुष की प्राज्ञ अवस्था के संदर्भ में समझना चाहिए। यह माण्डुक्य उपनिषद् की केवल एक झाँकी है। यह बतलाता है कि अ, उ, म् वर्णों को चेतना की अवस्था के संदर्भ में समझना चाहिए। इस प्रकार साधक व्यक्त चेतना की तीन अवस्थाओं को पार करता है और अन्तत: चतुर्थ अवस्था में, जिसे तुरीयावस्था कहते हैं, पहुँच जाता है, जो पुरुष की अव्यक्त, अश्रुत और अकथित अवस्था है।

## सूत्र 29 – इस साधना का परिणाम

*ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥29॥*

उस अभ्यास से चेतना अन्तर्मुखी हो जाती है और बाधायें समाप्त हो जाती हैं।

ॐ का जप करने के दो परिणाम होते हैं – चेतना या सजगता अन्तर्मुखी हो जाती है, और बाधायें विलुप्त हो जाती हैं। जब साधक योग के मार्ग पर आगे बढ़ने का प्रयास करता है, तब उसकी राह में अनेकानेक बाधायें आती हैं जो उसके मार्ग को अवरुद्ध कर देती हैं। महर्षि पतंजलि अगले सूत्र में इन बाधाओं की सूची देंगे। इस प्रकार सूत्र 23 से 29 तक सामान्य साधक के लिए हमें पूरी साधना का वर्णन मिलता है। यह साधना, जिसे ईश्वर प्रणिधान कहते हैं, उनके लिए है जो न विदेह हैं, और न प्रकृतिलय हैं, तथा जिनमें श्रद्धा, वीर्य आदि अन्य गुण भी नहीं हैं। यह उनके लिए है जिनका मन अस्थिर और चंचल है, जिनमें जीवन की निकृष्ट वस्तुओं के प्रति आसक्ति है। महर्षि पतंजलि ने अत्यन्त कृपापूर्वक 23 से 29 सूत्रों में प्रारम्भिक साधनाओं का वर्णन किया है। इसके अभ्यास के द्वारा साधारण मनुष्य अन्ततः कुशाग्र बुद्धि और मन का उत्साह प्राप्त कर लेता है, ताकि वह उच्चतर और गहन साधना कर सके और उच्चतर आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुँच सके।

## सूत्र 30 – योग मार्ग की बाधायें

*व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥30॥*

रोग, मन्दता, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषयासक्ति, भ्रान्ति दर्शन, सूक्ष्मतर अवस्थाओं की प्राप्ति में असमर्थता, और अस्थिरता बाधायें हैं।

हमने देखा है कि जप साधना मन को अन्तर्मुखी कर देती है और बाधायें समाप्त हो जाती हैं। इस सूत्र में उन बाधाओं की सूची दी गई है। चेतना को बाधित करने वाली ये नौ शक्तियाँ हैं। आध्यात्मिक साधक को इन्हें जप द्वारा दूर करने का उपाय जानना चाहिए, ताकि वह आध्यात्मिक मार्ग पर अबाध प्रगति कर सके। यह भी ध्यान देने वाली बात है कि ये बाधायें चेतना से भिन्न नहीं, बल्कि उसका ही अंग हैं। चेतना की संरचना में इनका निश्चित स्थान होता है।

एक गम्भीर आध्यात्मिक साधक को यह समझना चाहिए कि साधना के क्रम में ये बाधायें आयेंगी ही। कभी-न-कभी कोई बीमारी सामान्यतः पेट, मस्तिष्क या अन्य अंगों से सम्बन्धित गड़बड़ी के रूप में अवश्य आयेगी। ग्रन्थि स्राव विज्ञान की सहायता से हम जानते हैं कि जब चेतना अन्तर्मुखी होती है, तब चयापचय और शरीर के अन्य कार्य बदल जाते हैं और उनमें रूपान्तरण होता है। जब आप ध्यान करने के लिए बैठते हैं तो कभी-कभी आपको नींद आ जाती है। उसी प्रकार, जब साधना लम्बे समय तक चलती है तब कभी-कभी भ्रान्त दर्शन की अवस्था आती है।

ऐस देखा गयाा है कि आध्यात्मिक साधक अपने व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक कर्त्तव्यों और अन्य उत्तरदायित्वों के प्रति लापरवाह हो जाते हैं। मन में संशय उठता है कि जो साधना चल रही है वह सही है या क्या इससे वह अपने लक्ष्य तक पहुँच पायेगा। संशय का होना अवश्यंभावी है।

## सूत्र 31 – अन्य बाधायें

*दु:खदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुव: ॥31॥*

मानसिक विक्षेप के साथ आने वाले अन्य लक्षण हैं – पीड़ा, अवसाद, शरीर कम्प, लयहीन श्वास-प्रश्वास।

प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह आध्यात्मिक साधक हो अथवा नहीं, नौ बाधाओं और मनोविक्षेप के सहगामी लक्षणों से अवश्य प्रभावित होता है। कुछ लोगों के साथ ये अत्यन्त स्वाभाविक अवस्थायें बन जाती हैं। सजगता की आन्तरिक प्रक्रिया में विक्षेपों का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिए। व्यक्ति में यह समझने की क्षमता होनी चाहिए कि क्या ये बाधायें स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में आ रही हैं या ध्यान और अन्य अभ्यासों के कारण हैं। उदाहरणार्थ – ध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति भी संदहों, कल्पनाओं, आशंकाओं से ग्रस्त हो सकता है। रोग स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में या ध्यान की प्रक्रिया में जब व्यक्ति अन्तर्मुखी होने लगता है तब आ सकते हैं। सूत्र में कहा गया है कि यदि साधना के क्रम में पीड़ा, मानसिक अवसाद, या शरीर कम्पन हो, अथवा लयरहित श्वसन हो तो निश्चित रूप से यह चित्त विक्षेप की अवस्था है।

वे लक्षण जो विक्षेप के रूप में आते हैं और जिनकी वर्णन पिछले सूत्र में की गई है, वे मानसिक प्रक्रियायें नहीं हैं; ये सभी आत्मिक अभिव्यक्तियाँ हैं। ये सामान्य व्यक्ति या ध्यान में अन्तर्मुख हो जाने वाले साधक, दोनों के लिए समान हैं।

## सूत्र 32 – एकाग्रता द्वारा बाधाओं का निराकरण

*तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥32॥*

इनके (बाधाओं एवं उनके सहगामी लक्षणों के) निराकरण के लिए एक तत्त्व पर एकाग्रता का अभ्यास (करना चाहिए)।

हमने पहले ही देखा है कि पतंजलि ने उन साधकों के लिये श्रद्धा, वीर्य आदि चार गुणों की अनुशंसा की है, जिनमें अदम्य संकल्प शक्ति और साहस है। जो दुर्बल और अशक्त हैं, उनके लिए उन्होंने तीव्र भक्ति और ॐ के जप का सुझाव दिया है। इस सूत्र में वे बाधाओं एवं उनके सहगामी लक्षणों के निराकरण के लिए एक मार्ग बता रहे हैं। इसके अन्तर्गत एक तत्त्व पर मन की एकाग्रता का अभ्यास सम्मिलित है। हमें इसका अर्थ समझना चाहिए। यदि आप मंत्र का अभ्यास करते हैं तो वह एक ही मंत्र होना चाहिए। यदि आप ध्यान का अभ्यास करते हैं तो वह एक प्रतीक पर ही होना चाहिए। जो ध्यान की विधि, तकनीक, प्रतीक में जब-तब परिवर्तन करते रहते हैं उनके सम्मुख बाधायें आयेंगी ही। जो आत्मज्ञान के प्रति, चेतना की गहरी अवस्था की प्राप्ति के प्रति गंभीर हैं, उन्हें इस सूत्र को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। व्यक्ति को ध्यान का प्रतीक नहीं बदलना चाहिए, क्योंकि ध्यान का अभ्यास चेतना को गहनतर अवस्था में ले जाने का केवल एक आधार है। यदि आधार को बार-बार बदला जायेगा तो भ्रम होगा।

इसलिए महर्षि पतंजलि ने इस सूत्र में एक ही प्रकार की साधना पर बल दिया है। यदि आप इसे बदलते हैं तो निश्चित रूप से आपको दुःख होगा। हमने उन पन्थों में ऐसा पाया है जिनमें प्रतीकों की विविधता पर जोर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, तंत्र की साधना में इस एकतत्त्वाभ्यास के सिद्धान्त की उपेक्षा कर अनेक प्रतीकों का उपयोग किया जाता है, और हम उसके परिणामस्वरूप पाते हैं कि अनेक साधक कष्ट पा रहे हैं। प्राचीन बौद्ध धर्म में भी कुछ साधनाओं में हम ऐसा ही पाते हैं, जिसके कारण वह कभी भी उन्नति नहीं कर पाया, दोष यही था कि ध्यान के लिए अनेक प्रतीकों का उपयोग किया जाता था। सच्चे गुरु इस बात का ध्यान रखते हैं और शिष्य को एक बार जो मंत्र दे देते हैं, उसे कभी नहीं बदलते हैं, यहाँ तक कि यदि मंत्र किसी पूर्व गुरु के द्वारा दिया गया

हो, तब भी नहीं। यदि मंत्र बदला जाता है तो शिष्य के मन में भ्रम उत्पन्न हो सकता है। एक बुद्धिमान् गुरु कभी ऐसा नहीं होने देंगे। वे शिष्य की रुचि के अनुसार नहीं, बल्कि शिष्य की क्षमता के अनुसार साधना देते हैं।

विभिन्न प्रतीकों में कोई वास्तविक अन्तर नहीं होता है। व्यक्ति गणेश का, शिव का, काली या अन्य किसी का भी भक्त हो सकता है, वह यदि एक बार प्रतीक लेने के बाद भक्ति के प्रतीक को पुन: बदलता है तो उसे भ्रमित होना ही है। अत: भ्रम से बचने के लिए सबसे अच्छा उपाय है, एक प्रतीक पर स्थिर रहना; एकतत्त्वाभ्यास। यदि साधक अपने मन को इधर-उधर नहीं भागने देता है, और मन को एक तत्त्व पर स्थिर रखता है, तब चाहे कुछ भी हो, साधक के मार्ग की बाधायें समाप्त हो जायेंगी।

## सूत्र 33 (ii) – या विपरीत सद्‌गुणों के संवर्द्धन द्वारा (बाधायें समाप्त होती हैं)

*मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणं सुख दुःखपुण्यापुण्यविषयाणां*
*भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥33॥*

सुख, दुःख सद्‌गुण और दुर्गुण के प्रति मित्रता, करुणा, प्रसन्नता और उदासीनता का भाव विकसित करने से मन शुद्ध एवं शान्त रहता है।

एकाग्रता की साधना करना तब तक असंभव है जब तक मन शुद्ध नहीं हो जाता, अर्थात् स्वभावतः शान्त नहीं हो जाता। इसका सर्वोत्तम उपाय इस सूत्र में दिया जा रहा है। जिन व्यक्तियों और घटनाओं के कारण सुख, दुःख, सद्‌गुण, अवगुण उत्पन्न होते हैं उनके प्रति क्रमशः मैत्री, करुणा, प्रसन्नता और उदासीनता का भाव विकसित करना ही इसका उपाय है। ऐसा भाव धारण करने से, अर्थात् सुखी के साथ मैत्री, दुःखी के साथ करुणा, सद्‌गुणी के प्रति प्रसन्नता और दुर्गुणयुक्त व्यक्ति के प्रति उदासीनता का भाव धारण करने से साधक का मन अशान्त करने वाले प्रभावों से मुक्त रहता है, और परिणामस्वरूप व्यक्ति शान्त एवं अनुद्विग्न होता है। अन्तर्मुख होना आसान हो जाता है। मन तो स्वभाव से ही अशान्त रहता है, जैसे एक सरोवर पत्थरों, कंकड़ों के गिरने से अशान्त हो जाता है। अस्थिर मन सरलतापूर्वक एकाग्र नहीं होता है।

कठोपनिषद् में तथा अन्य स्थानों पर कहा गया है कि बाह्य जगत् की ओर आकृष्ट होना मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अन्दर की ओर देखना मन की प्रकृति नहीं है। अतः जब आप मन को अन्तर्मुख करना चाहते हैं तो पहले बाधाओं और अशुद्धियों को दूर करना पड़ेगा। ईर्ष्या, घृणा, प्रतिस्पर्धा की भावनायें मन को अशुद्धियों से भर देती हैं। जब हम एक सुखी और समृद्ध व्यक्ति को देखते है तो ईर्ष्या अनुभव करते हैं। यह अवचेतन मन में अशान्ति उत्पन्न करता है और मन को एकाग्र होने में बाधा उत्पन्न करता है। परिणामस्वरूप भयावह दृश्य आते हैं। जब हम किसी दुःखी व्यक्ति को देखते हैं, और यदि वह हमारा शत्रु है, तब हमें अच्छा लगता है। यह भी मन की अशुद्धियों में से एक है। हम सत्पुरुष की आलोचना करते हैं और दुष्ट व्यक्ति के कार्यों की

प्रशंसा करते हैं। ये सभी मन में अशान्ति उत्पन्न करते हैं और शान्ति एवं ध्यान के मार्ग को अवरुद्ध कर देते हैं।

पतंजलि ने इन उपद्रवों पर विजय प्राप्त करने का मार्ग बताया है। जिन चार भावों को विकसित करने का उन्होंने सुझाव दिया है वे अशान्त करने वाले तत्त्वों को हटाकर आन्तरिक शान्ति प्रदान करते हैं। ऐसा न केवल चेतन स्तर पर सही होता है, बल्कि अवचेतन के गहरे स्तरों में भी होता है।

## सूत्र 34 – अथवा प्राण नियंत्रण के द्वारा

*प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥34॥*

अथवा रेचक एवं कुम्भक के द्वारा (मन को नियंत्रित किया जा सकता है।)

सभी व्यक्तियों में ईश्वर के प्रति समर्पण करने की प्रवृत्ति नहीं होती। सम्भव है कि व्यक्ति ईश्वर में विश्वास रखता हो, फिर भी उसके लिए ईश्वर प्रणिधान करना संभव न हो। ऐसे लोगों के लिए महर्षि पतंजलि एक विधि बताते हैं जिससे मन को शुद्ध, नियंत्रित और स्थिर किया जा सकता है। हममें से कुछ लोग स्वभाव से ही क्रियाशील होते हैं, कुछ भावुक होते हैं, तो कुछ अन्य आध्यात्मिक और कुछ बौद्धिक होते हैं। अत: समग्र मानसिक संरचना को इन चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। सक्रिय लोगों के लिए कर्मयोग सर्वथा उपयुक्त होगा। जो भावुक हैं वे ईश्वर प्रणिधान कर सकते हैं। समाज में ऐसे लोगों की संख्या अधिक है। तीसरा, जो आध्यात्मिक समूह है वह राजयोग और उसी से सम्बन्धित हठयोग, स्वर योग, क्रिया योग, नाद योग और त्राटक के अभ्यासों की ओर प्रवृत्त होता है। चौथा समूह कुछ ज्ञानयोगियों का है वे उपनिषद, गीता आदि अध्ययन करना पसन्द करते हैं, जिनमें जीवन, ब्रह्माण्ड और ध्यान के गहन पक्षों का वर्णन रहता है। हममें से अधिकतर लोग चारों प्रवृत्तियों के मिश्रण होते हैं। अत: मिश्रित अभ्यासों का सुझाव दिया जाता है, और इसीलिए महर्षि पतंजलि ने विभिन्न अभ्यासों की अनुशंसा की है। हमें अपने लिए उपयुक्त साधना का चयन करना चाहिए।

विगत कुछ सूत्रों में महर्षि पतंजलि ने विदेह और प्रकृतिलय योगियों से लेकर विभिन्न प्रकार के साधकों के लिए विभिन्न प्रकार की साधना का उल्लेख किया है। इस सूत्र में वे प्राणायाम का वर्णन करते है। हमें प्रच्छर्दन और विधारण का अर्थ समझ लेना चाहिए। प्रच्छर्दन का अर्थ है रेचक और विधारण का अर्थ है बहिर्कुम्भक। यह महाबन्ध का निर्माण करता है जिसमें कुम्भक करते समय एक साथ तीनों बन्ध – जालन्धर, उड्डियान और मूलबन्ध लगाया जाता है। नये अभ्यासियों को महाबन्ध नहीं सिखाना चाहिए। उन्हें केवल रेचक करना चाहिए 21, 51 या 100 बार। इसे कपालभाति या अग्निसार कहा जा सकता है।

केवल रेचक, कुम्भक और तीनों बन्धों के अभ्यास से मन को स्थिर अवस्था में लाया जा सकता है। एक प्राचीन पुस्तक में कहा गया है कि चेतना के दो आधार होते है–प्राण और वासना। ये दो आधार हैं जिन पर मन टिकता है और जिन पर चेतना काम करती है। यदि इनमें से एक को हटा दिया जाय तो दूसरा स्वत: चला जाता है। प्राण स्थूल भी है और सूक्ष्म भी। सूक्ष्म प्राण ऊर्जा के रूप में होता है और स्थूल प्राण श्वास के रूप में।

प्राण मुख्यत: पाँच होते हैं–प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान। पाँच उप प्राण भी होते हैं, यथा–देवदत्त, नाग, कूर्म, कृकर और धनंजय। वे मानव शरीर की विभिन्न क्रियाओं के लिए उत्तरदायी हैं। प्राण पूरक के लिए, मुख तथा नाक के लिए उत्तरदायी है, यह भोजन को पचाता है, पचे हुए पदार्थों को अलग करता है, जल को पसीने एवं मूत्र में बदलता है तथा ग्रन्थि स्रावों को नियंत्रित करता है। इसका क्षेत्र नाक से हृदय तक है। अपान मल का उत्सर्जन करता है, अशुद्धियों को शरीर के बाहर निकालता है। इसका क्षेत्र नाभि से पैर के तलवों तक है। यह अधोमुखी गति उत्पन्न करता है। समान शरीर के अंगों और नाड़ियों में उत्पन्न होता है और हृदय से नाभि के बीच काम करता है। उदान पेशियों में शक्ति को कायम रखता है, और मृत्यु के समय स्थूल शरीर से कार्मिक शरीर को अलग करता है। उदान को नियन्त्रित कर योगी वायु में भ्रमण कर सकते हैं। यह कण्ठ से सिर तक काम करता है। इसके कारण रक्त संचार होता है तथा यह स्वयं तंत्रिकाओं में संचरण करता है। इसका वास गुदा-प्रदेश में है।

उप प्राणों में, नाग खाँसी और छींक लाता है, कूर्म के कारण संकुचन होता है, कृकर भूख और प्यास उत्पन्न करता है। देवदत्त तन्द्रा और निद्रा लाता है तथा धनंजय पोषण करता है।

इसके अतिरिक्त प्राण की पन्द्रह सूक्ष्म वाहिकायें होती हैं जिन्हें नाड़ी कहते हैं। नाड़ी का अर्थ तंत्रिका या ऊर्जा अथवा रक्त की धाराएँ होता है। वे मस्तिष्क से संवेगों को ले जाते और वापस लाते हैं। इनके नाम हैं–सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, गान्धारी, हस्ति, जिह्वा, पूषा, अश्विनी, शूरा, कुहू, सरस्वती, वारुणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी, शंखिनी और चित्रा। इस शरीर में कुल 72000 नाड़ियाँ हैं जो सूक्ष्मतर संवेदनाओं संवहन करती हैं। इनमें से तीन नाड़ियाँ–इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । योग में ये तीन नाड़ियाँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये उच्चतर ज्ञान के उच्चतर प्रवाह का संवहन करती हैं।

सुषुम्ना इन तीनों में महत्त्वपूर्ण है। मेरुदण्ड के मध्य में यह एक अत्यन्त सूक्ष्म मार्ग है। गुदा मूल से निकल कर आज्ञा चक्र या मेडुला ऑब्लौंगाटा तक जाती है। ये तीनों नाड़ियाँ मूलाधार से निकलती हैं, जिसे 'मुक्त त्रिवेणी' कहा जाता है। चेतना, संवेदनायें यहाँ मुक्त होती हैं, और वे एक हो जाती हैं। वे आज्ञा चक्र में मिलती हैं। त्रिवेणी भारत में वह स्थान है, जहाँ तीन नदियाँ– गंगा, यमुना और सरस्वती मिलती हैं। इसकी तुलना में आज्ञा चक्र को युक्त त्रिवेणी कहा जाता है। सुषुम्ना सीमा में दो और नाड़ियाँ हैं– बाहर वाली को वज्रनाड़ी और अन्दर वाली को चित्रानाड़ी कहते हैं । चित्रा के भीतर एक अत्यन्त पतली वाहिका होती है जिसे ब्रह्म नाड़ी कहते हैं।

श्वसन प्रक्रिया निश्चित समय के साथ चलती है; चन्द्रमा की गति स्वर या श्वास की गति को प्रभावित एवं नियंत्रित करती है। प्रत्येक व्यक्ति की क्रियाओं पर श्वास का सीधा प्रभाव पड़ता है। श्वास विचार प्रक्रिया के अतिरिक्त भूत, भविष्य और वर्त्तमान को भी नियंत्रित करता है। 24 घण्टों में व्यक्ति मुख्य रूप से दाहिनी नासिका के द्वारा एक घंटा श्वसन करता है, उसके पश्चात एक घंटा बायीं नासिका से, और बारी-बारी से 12 बार ऐसा होता है। बायीं नासिका को इड़ा या चन्द्र और दाहिनी नासिका को पिंगलाा या सूर्य कहते हैं। उसी प्रकार इड़ा को गंगा और पिंगला को यमुना भी कहते है। प्रत्येक घंटे के बाद नासिका में श्वास की स्थिति बदलती रहती है। इड़ा से पिंगला और पिंगला से इड़ा में बदलने के समय क्षणिक रूप में सुषुम्ना प्रवाहित होती है। यह हमें शिव स्वर योग नामक विज्ञान से पता चलता है। शुक्ल पक्ष के प्रथम तीन दिन सूर्योदय के समय बायीं नासिका प्रवाहित होती है और प्रत्येक घंटे पर नासिका बदल जाती है। अगले तीन दिनों तक दायीं नासिका सूर्योदय के बाद एक घंटे तक प्रवाहित होती है। कृष्ण पक्ष में प्रथम तीन दिनों तक दायीं नासिका एक घंटे तक प्रवाहित होती है। इस प्रकार प्रत्येक तीन दिन पर चक्र बदलता रहता है। बीमारी की अवस्था में यह क्रम बदल सकता है। स्वर योग की सहायता से बीमारी के विषय में पहले ही बताया जा सकता है।

जब पिंगला या सूर्य नाड़ी प्रवाहित हो रही हो तब उस समय भारी काम किया जा सकता है और जब इड़ा या चन्द्र नाड़ी प्रवाहित हो तो हल्के काम करने चाहिए। जब सुषुम्ना प्रवाहित हो तब ध्यान किया जाना चाहिए है। कुछ अभ्यासों द्वारा नासिका में प्रवाह को बदला जा सकता है। आँखें बन्द

कर बायीं नासिका पर ध्यान करने से उसे प्रवाहित किया जा सकता है, परन्तु यह एकाग्रता की गहराई पर निर्भर करता है। बायीं करवट लेट कर काँख को तकिये से दबाने पर दायीं नासिका प्रवाहित हो सकती है। किसी एक नासिका को प्रवाहित करने की एक दूसरी विधि यह है कि विपरीत नासिका को रुई से बन्द कर दिया जाये। इसके लिए और भी अनेक अभ्यास हैं।

प्राणायाम में श्वसन अत्यन्त धीमा होना चाहिए। ऐसा पाया गया है कि जो धीमी और लम्बी श्वास लेते हैं वे दीर्घजीवी होते हैं। खरगोश एक मिनट में 80 बार श्वसन करता है और मात्र 8 वर्षों तक जीता है। बन्दर प्रति मिनट 32 बार श्वसन करता है और 10 वर्षों तक जीता है। कुत्ता 12 वर्ष और घोड़ा 25 वर्ष तक जीता है। वे क्रमश: उन्नतीस बार और उन्नीस बार प्रति मिनट श्वास लेते हैं। मनुष्य प्रति मिनट तेरह बार श्वास लेता है और उसे 120 वर्ष जीना चाहिए। सर्प जो 1000 वर्ष जीता है, प्रति मिनट आठ बार श्वास लेता है। कछुआ प्रति मिनट केवल 8 बार श्वास लेता है और 3000 वर्षों तक जीता है।

इस सूत्र में जिस कुम्भक की चर्चा की गयी है वह बहिर्कुम्भक है जिसमें रेचक के उपरान्त श्वास को बाहर ही रोक कर रखा जाता है।

## सूत्र 35 (iv) – अथवा इन्द्रिय अनुभव के अवलोकन द्वारा

*विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥35॥*

अथवा मन को उन क्रियाओं में लगा कर स्थिर किया जा सकता है जिनसे इन्द्रियगत अनुभव प्राप्त होते हैं।

यह सूत्र उन लोगों के लिए एक अतिरिक्त विधि का वर्णन कर रहा है जो ईश्वर प्रणिधान, महाबन्ध या प्राणायाम नहीं कर सकते। यह सत्य है कि समुचित मार्गदर्शन के अभाव में, या समुचित पोषण की कमी के कारण, या अक्षमता के कारण कुछ लोगों के लिए प्राणायाम का अभ्यास कठिन हो जाता है। इस सूत्र में इन्द्रियगत अनुभव प्रदान करने वाले कार्यों में मन को प्रवृत्त कर उसे नियंत्रित करने की एक सरल विधि दी जा रही है। यहाँ मन को इन्द्रियगत बोध के समय स्वयं अपना अवलोकन करने के लिए प्रवृत्त किया जाता है; अर्थात् मन को दर्शन, श्रवण, घ्राण, स्वाद और स्पर्श की इन्द्रियों द्वारा बोध प्राप्त करने में लगाया जाता है। मनश्चेतना को इन्द्रियगत बोध में लीन करने से मन नियंत्रण में आ जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनश्चेतना को मंत्र जप, भजन, कीर्तन आदि द्वारा ध्वनि चेतना में लीन किया जा सकता है। एक सुविज्ञ व्यक्ति को इसमें रुचि नहीं हो सकती है, पर यह सत्य है कि जब व्यक्ति इसमें गहरे उतरता है तब वह मन को ध्वनि के प्रति सजग बनाकर नियंत्रित कर सकता है। यह नादयोग का एक सिद्धान्त है।

मन को त्राटक के द्वारा एक आकृति के प्रति सजग बना कर नियन्त्रित किया जा सकता है, इसके अन्तर्गत मन को एक विशेष आकृति पर एकाग्र किया जाता है। इसी प्रकार, स्पर्श एवं स्वाद की सजगता के साथ भी किया जा सकता है। स्पर्श की सजगता तब होती है जब गुरु शिष्य के सिर का स्पर्श करते हैं, और स्वाद की सजगता खेचरी मुद्रा के द्वारा आती है। मन को नासिकाग्र पर एकाग्र करने से एक सूक्ष्म या अतीन्द्रिय गंध का अनुभव होता है, जिसका उपयोग मन को नियंत्रित करने के लिए किया जा सकता है। जिह्वा के अग्रभाग पर मन को एकाग्र करने पर स्वाद की सजगता विकसित होती है। खेचरी मुद्रा में तालु पर मन को केन्द्रित करने से रंगीन दृश्य विकसित होते हैं। जिह्वा के मध्य भाग पर मन को केन्द्रित करने से अतीन्द्रिय स्पर्श का अनुभव होता है।

जिह्वा मूल पर ध्यान को एकाग्र करने से अतीन्द्रिय ध्वनि का विकास होता है। ये सभी अतीन्द्रिय प्रक्रियाएँ आत्मनियंत्रण का आधार बनती हैं। जब ये अतीन्द्रिय प्रक्रियाएँ विकसित होती हैं तब साधक उन पर ध्यान को केन्द्रित करना आरम्भ करता है। कुछ समय के बाद उसका मन उन्हें अतिक्रमित कर गहरे चला जाता है। वह पूर्ण मनोनियंत्रण की एक अवस्था है। धारणा और प्रत्याहार में इन्द्रियों का कार्य निहित होता है।

बौद्ध धर्म की कुछ शाखाओं में, भिक्खु एक नगाड़ा बजाता है और उसकी ध्वनि पर ध्यान करता है। यह अत्यन्त प्रारम्भिक साधना है पर हममें से अधिकतर के लिए उपयोगी है। भारत में भजन करना एक लोकप्रिय साधना है। गायक भजन की एक पंक्ति या एक ही गीत की ध्वनि के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं की ओर से आँखों और कानों को बन्द कर घंटों गा सकता है। यद्यपि यह प्रारम्भिक साधनाओं में एक है पर इसका महत्त्व इसमें है कि यह धारणा और ध्यान की ओर ले जा सकता है। कीर्तन भी एक सरल, किन्तु प्रभावकारी साधनाओं में से एक है। इसमें एक व्यक्ति गाता है और सभी उसे दुहराते हैं। अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग विधियाँ हैं। कभी-कभी तो यह चौबीस घंटे या उससे भी अधिक समय तक चलता है और श्रोताओं पर आश्चर्यजनक प्रभाव उत्पन्न करता है।

## सूत्र 36 (v) – अथवा अन्तर्ज्योति द्वारा

*विशोका वा ज्योतिष्मती ॥36॥*

अथवा शोकातीत आलोक की अवस्था मन को नियंत्रित कर सकती है।

नाद या भ्रूमध्य पर ध्यान केन्द्रित कर शान्त अन्तर्ज्योति की कल्पना करते हुए मन को स्थिर और नियंत्रित किया जा सकता है। अन्तर्ज्योति अत्यन्त शान्त, अविक्षुब्ध, निश्चल और प्रशान्त होती है, इसमें तीखा प्रकाश नहीं होता है। गहन ध्यान में इसका अनुभव किया जा सकता है। यह दो प्रकार का होता है। कभी-कभी निद्रावस्था में सहसा विस्फोट के रूप में प्रकाश उत्पन्न हो जाता है, जो अत्यन्त विक्षुब्ध करने वाला होता है। यहाँ महर्षि पतंजलि इसका उल्लेख नहीं कर रहे हैं; उनका तात्पर्य उस अन्तर्ज्योति से है, जो निश्चल होती है। उस निश्चल ज्योति के अनुभव द्वारा मन को नियंत्रण में लाया जा सकता है। ऐसी अनेक विधियाँ हैं जिनके द्वारा ज्योति का अनुभव किया जा सकता है। उनमें से एक है भ्रूमध्य पर ध्यान केन्द्रित करना, दूसरी है नाद (ध्वनि) पर ध्यान केन्द्रित करना।

## सूत्र 37 (v) – अथवा पदार्थ से अनासक्ति द्वारा

*वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥37॥*

अथवा वीतराग महान् आत्माओं पर मन को एकाग्र कर, उन्हें ध्यान का विषय बना कर मन को नियन्त्रित किया जा सकता है।

वीतराग मनुष्य वह है जिसने राग, अर्थात् मानवीय मनोविकारों को त्याग दिया है। ऐसे व्यक्ति पर मन को एकाग्र कर इसे स्थिर और नियंत्रित किया जा सकता है। अत: प्राचीन ध्यान परम्पराओं में इष्ट देवता या गुरु को प्रतीक बनाने का परामर्श दिया गया है, क्योंकि वे मानवीय वासनाओं का अतिक्रमण करने वाली किसी शक्ति के भाव के प्रतीक हैं या जिन्होंने अपनी साधना के द्वारा उस अवस्था को प्राप्त कर लिया है। मनोविकार या कोई भावना शुद्ध, अपरिष्कृत, अनियंत्रित ऊर्जा है, जो बोध की सामान्य अवस्था को नकारात्मक या सकारात्मक रूप में बदल सकती है। यह प्रमाणित हो चुका है कि अपरिष्कृत ऊर्जा के स्वरूप को परिवर्तित कर मन की बिखरी ऊर्जा को एकीकृत करना, ध्यान की वस्तु पर मन को केन्द्रित करना और लेजर किरण के समान उसे शक्तिशाली बनाना संभव है।

## सूत्र 38 – अथवा स्वप्न और निद्रा के ज्ञान द्वारा

*स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥38॥*

अथवा मन को स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का आधार प्रदान करने से उसे स्थिर किया जा सकता है।

चेतन निद्रा और चेतन स्वप्न की विधियों का विकास कर मन को नियंत्रित किया जा सकता है। चेतन निद्रा अन्तर्मौन की अन्तिम अवस्था है। चेतन रूप से स्वप्न देखना भी एक विधि है, परन्तु यह हानिकारक होता है तथा कुछ ही व्यक्ति इसका अभ्यास कर सकते हैं। जिनमें अतीन्द्रिय संवेदनशीलता होती है, उनके लिए यह विशेष रूप से लाभप्रद है। चेतन निद्रा या स्वप्न में व्यक्ति स्वप्नावस्था और निद्रावस्था की चेतना विकसित कर सकता है।

सामान्यत: हम अचेतन रूप से स्वप्न देखते हैं; उनका अनुभव तो होता है, किन्तु व्यक्ति उनका साक्षी नहीं हो सकता। उन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं होता, पर यहाँ जिस विधि का सुझाव दिया गया है, उसके द्वारा साधक चेतन रूप से उन्हें प्रारम्भ और नियन्त्रित कर सकता है। हम अपने विचारों को चेतन, अवचेतन या अचेतन रूप से नियन्त्रित कर सकते हैं। इस प्रक्रिया में न केवल चेतन क्रियाओं और बुद्धि का, बल्कि अवचेतन क्रियाओं का भी नियन्त्रण होता है। चेतन स्वप्न के दौरान व्यक्ति बाहर की किसी भी ध्वनि को नहीं सुनता है। चेतन निद्रा में व्यक्ति निद्रा की पुस्तक पढ़ता जाता है। दोनों अवस्थाओं की सजगता को आधार बना कर उस पर मन को एकाग्र किया जा सकता है। यह उन्हीं व्यक्तियों के लिए है जो अतीन्द्रिय रूप से संवेदनशील हैं।

## सूत्र 39 (vii) – अथवा इच्छानुसार ध्यान द्वारा

*यथाभिमत ध्यानाद्वा ॥39॥*

अथवा इच्छानुसार ध्यान द्वारा मन को स्थिर किया जा सकता है।

यहाँ पूर्ण स्वतंत्रता दी गयी है। चूँकि अपनी रुचि की वस्तु पर ध्यान, जैसे भक्ति के आधार पर ध्यान करने से मन निश्चित रूप से स्थिर, नियन्त्रित और शान्त हो जाता है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है कि व्यक्ति ध्यान के लिए किस वस्तु का चयन करता है। यह एक क्रॉस, स्वस्तिक, एक मूर्त्ति या केवल ॐ हो सकता है – जो भी रुचिकर (जैसा अभिमत) हो। साधक को स्वयं उस वस्तु का चुनाव करना चाहिए, जिस पर वह अपने मन को एकाग्र कर सकता है।

## सूत्र 40 – ध्यान के फल

*परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार: ॥40॥*

इस प्रकार योगी को सूक्ष्मतम अणु से लेकर अपरिमेय अनन्त पर ध्यान करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि विगत सूत्रों में जिन अभ्यासों का वर्णन किया गया है, क्या वे समाधि की अवस्था तक ले जाने में सक्षम हैं? उत्तर है– नहीं। व्यक्ति इन अभ्यासों से समाधि की अवस्था में नहीं पहुँच सकता, पर निश्चित रूप से उसे समाधि की सूक्ष्मतम अवस्थाओं के लिए आवश्यक अतीन्द्रिय या आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह उच्चतर माध्यमिक परीक्षा पास करने और कॉलेज में प्रवेश के लिए सक्षम बनने के समान है। अत: उल्लिखित विभिन्न साधनाओं का अभ्यास करने से साधक को सूक्ष्म अणु से अपरिमेय अनन्त पर दक्षता प्राप्त हो जाती है। वह सूक्ष्मतम से लेकर वृहत्तम शक्तियों का स्वामी हो जाता है। ये साधनायें उसे सर्वशक्तिमान की शक्ति प्रदान कर देती हैं। समाधि की सूक्ष्मतर अवस्थाओं की सूक्ष्मता के बोध में प्रगति करने के लिए ये साधनायें अत्यन्त आवश्यक हैं। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक पदार्थ और ऊर्जा की सूक्ष्मतर अवधारणाओं तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार एक योगी भी सूक्ष्म विचार और अनन्त पर ध्यान करने में समर्थ होता है।

ऐसे लोग भी हैं जो किसी वस्तु या बात का सूक्ष्म अर्थ ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि उनका अपने मन पर नियन्त्रण नहीं होता है। ध्यान के उपर्युक्त अभ्यास चेतना को अत्यन्त परिष्कृत कर देते हैं। मन इच्छानुसार अन्तर्मुखी हो सकता है। गणित या विज्ञान की समस्याओं के समाधान, या ध्यान के संदर्भ में यह समान रूप से देखा जा सकता है। प्रशिक्षण के द्वारा मन को समुचित रूप से एकाग्र किया जा सकता है। योग में पहली अतीन्द्रिय शक्ति इसमें स्वामीत्व की उपलब्धि के बाद प्राप्त होती है। उसके पश्चात् मन को स्थूल या सूक्ष्म, किसी भी वस्तु पर एकाग्र किया जा सकता है।

एक बड़ा रोचक दृष्टान्त है। जब स्वामी विवेकानन्द अमरीका में थे तो वे एक पुस्तकालय से प्रतिदिन कुछ पुस्तकें ले जाते थे और अगले दिन उन्हें लौटा देते थे। वहाँ का पुस्तकालयाध्यक्ष यह सोच कर विस्मित था कि क्या इतनी

पुस्तकें एक दिन में पढ़ी जा सकती हैं; उन्होंने स्वामी विवेकानन्द की परीक्षा लेनी चाही। परन्तु वह इस बात से आश्चर्यचकित रह गया कि स्वामीजी को पढ़ी हुई प्रत्येक पंक्ति और प्रत्येक शब्द स्मरण था। इस प्रकार सूक्ष्मतम और वृहत्तम पर योगी का नियन्त्रण रहता है।

एक व्यक्ति केवल तभी समाधि को प्राप्त कर सकता है, जब वह भावों और विचारों को भी देखने में समर्थ होता है। इसका कारण यह है कि समाधि की सूक्ष्म अवस्थाओं में व्यक्ति को गत्यात्मक चेतना का चयन करना और उसे रोक कर रखना होता है। समाधि की कुछ अवस्थायें ऐसी हैं जिनमें साधक को केवल अपने द्वारा किये जा रहे नियन्त्रण के प्रयास की सजगता रहती है। इस प्रयास को एक भाव के रूप में लाना होता है और तत्पश्चात् उसे निष्कासित कर देना होता है। इसे समझना अत्यन्त कठिन है। उस अवस्था में व्यक्ति निष्कासन के विचार के अतिरिक्त अन्य सभी विचारों का उन्मूलन कर देता है। यह तभी किया जा सकता है, जब उन चार प्रक्रियाओं में दक्षता प्राप्त हो जो चेतन विचार प्रक्रियाएँ नहीं हैं।

समाधि की सूक्ष्मतर अवस्थाओं में नाम, रूप, और नामित वस्तु पर स्वामित्व प्राप्त होना चाहिए; उदाहरणार्थ – नाम गाय, रूप गाय और वस्तु गाय। उनमें अन्तर ज्ञात होना चाहिए। प्रशिक्षण के बिना यह संभव नहीं है, क्योंकि आदतन हममें अपनी समझ से तीनों को एक साथ मिला देने की प्रवृत्ति होती है। जिस योगी को मन पर नियन्त्रण है वह तत्त्वों को अलग-अलग समझ पाता है। जब तक यह उपलब्धि न हो जाय, तब तक ध्यान में आगे बढ़ना असम्भव है। व्यक्ति को नाम और रूप के हस्तक्षेप के बिना वस्तु पर ध्यान का अभ्यास करने योग्य होना चाहिए।

## सूत्र 41 – चित्त और वस्तु में ऐक्य

*क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृगहणग्राह्येषु*
*तत्स्थतदंजनता समापत्तिः ॥41॥*

समापत्ति मन की पूर्ण तन्मयता की वह अवस्था है जो (तीन प्रकार की वस्तुओं, जैसे) द्रष्टा, दृश्य और इन्द्रियों की वृत्तियों से उसी प्रकार मुक्त है, जिस प्रकार गढ़ा हुआ स्फटिक उस वस्तु का रंग ग्रहण कर लेता है जिस पर उसे रखा जाता है ।

समापत्ति शब्द का अर्थ है पूर्ण स्वीकृति, बिल्कुल समुद्र के समान, जो नदियों द्वारा लाये गये सभी जल को पूर्णतः आत्मसात् कर लेता है। यह मन की ऐसी अवस्था है जो प्राणायाम, तप, और साधना द्वारा प्राप्त होती है। समाधि के अभ्यास के पूर्व यह तात्कालिक लक्ष्य की प्राप्ति है। जब तक समापत्ति की प्राप्ति न हो जाय, उच्चतर साधना की चर्चा नहीं की जा सकती है, किन्तु उच्चतर और निम्नतर साधनाओं का जो अर्थ होता है वह व्यक्ति की क्षमता पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए – उच्चतर चेतना वाले व्यक्ति को जप, या कीर्तन की आवश्यकता नहीं; वह तो आँखें बन्द करता है और मन की गहराइयों में चला जाता है। परन्तु जिनका मन विचारों से भरा हुआ है, उनके लिए यह अवस्था बड़ी ऊँची होगी। उच्चतर या निम्नतर शब्दों के स्थान पर हम सरल या कठिन साधन कह सकते हैं।

जब तक मन निर्मल न हो व्यक्ति ध्यान की अवस्था में प्रवेश नहीं कर सकता। यदि मन निर्मल है तो ध्यान की अवस्था इतनी आसानी से आ जाती है जैसे सामान्य व्यक्ति को नींद आती है। इसके लिए वृत्तियों को कम करना होता है। यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि वृत्तियों को पूर्णतया निर्मूल नहीं करना है, उन्हें केवल कम या दुर्बल करना है। यह ट्रेन में सोने जैसा है। इस अवस्था में ट्रेन के ठहरावों और आने-जाने वाले लोगों के प्रति सजगता बनी रहती है, परन्तु जाग्रत अवस्था की तरह पूर्ण सजगता नहीं रहती। इसमें सजगता कम हो जाती है। पूर्व सूत्रों में वर्णित मन को स्थिर करने वाली विभिन्न विधियों द्वारा इसे प्राप्त किया जा सकता है।

जब खंडित चेतना भी लुप्त हो जाती है, तब मन स्फटिक के समान शुद्ध और निर्मल हो जाता है। किसी भी वस्तु पर इसका पूर्णरूपेण प्रयोग

किया जा सकता है। यही समापत्ति है। उजले खड़िया का एक टुकड़ा किसी रंगीन कागज पर रखा जाये तो वह कागज का रंग ग्रहण नहीं करता, परन्तु यदि वहाँ एक स्फटिक रखा जाये तो वह कागज के रंग को प्रदर्शित करने लगेगा। स्फटिक के पूर्णतः शुद्ध होने के कारण ऐसा होता है। उसी प्रकार समापत्ति में स्थित मन और सामान्य मन में अन्तर होता है। जिस क्षण मन से वृत्तियाँ दूर होने लगती हैं, मन स्फटिक के समान कार्य करने लगता है। इसके परिणामस्वरूप जिस वस्तु पर मन को केन्द्रित किया जाता है उस वस्तु की शुद्ध चेतना जाग्रत हो जाती है।

जब आप शिवलिंग के समान किसी वस्तु पर त्राटक या ध्यान करते हैं तब वृत्तियाँ धीरे-धीरे क्षीण होने लगती हैं और अन्ततः जब मन पूर्णतया वस्तु में विलीन हो जाता है तब चेतना अचानक कौंध जाती है। वस्तु के तीनों पहलुओं, जैसे – नाम, रूप और अर्थ का अलग-अलग अनुभव हो सकता है। विलय छः प्रकार से होता है – सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, आनन्द और अस्मिता। जिस वस्तु पर आप ध्यान कर रहे हैं उसके संदर्भ में ये आपकी चेतना के विलय की अवस्थायें हैं। अन्ततः एक समय आता है जब वस्तु विलुप्त हो जाती है। इसे स्मरण रखना चाहिए कि जब वस्तु चेतना से विलुप्त हो जाती है तभी आप कुछ प्राप्त करते हैं।

जब विलय होता है तब चेतना की वृत्तियाँ चेतना से लुप्तप्राय हो जाती हैं। यह एकाग्रता है। उस अवस्था में ध्यान, ध्येय और उसकी चेतना, तीनों एक हो जाते हैं। जब तक व्यक्ति समापत्ति की यह अवस्था प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह उन तीनों के प्रति सजग रहता है। तीनों वृत्तियों की एक साथ सजगता बनी रहती है। समापत्ति में ये तीन प्रकार की सजगतायें एक चेतना में विलीन हो जाती हैं, ताकि आप स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख पायें। उस अवस्था में केवल ध्यान का स्वरूप दीप्तिमान होता है।

## सूत्र 42 – सवितर्क समाधि

*तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥42॥*

(समाधि की) उस अवस्था में शब्द, वास्तविक ज्ञान और इन्द्रिय बोध के बीच चेतना बारी-बारी से आती-जाती रहती है, जिसके कारण मन की उस मिश्रित अवस्था को सवितर्क समापत्ति के नाम से जाना जाता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि समापत्ति या समाधि कोई विशेष अवस्था नहीं है; इसमें सजगता का सम्पूर्ण क्षेत्र अन्तर्निहित होता है, जो परमचेतना के क्षेत्र के अंतर्गत आता है। जाग्रत अवस्था को चेतना का क्षेत्र कह सकते है, क्योंकि इसमें अनेक क्रियायें, यथा – वार्तालाप, टहलना, हँसना, आदि आते हैं। इसी प्रकार समापत्ति में अनेक अवस्थायें आती हैं। जैसे-जैसे समाधि गहन से गहनतर होती जाती है, साधक चेतना के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर क्षेत्रों में जाता है। परमचेतन मन की प्रथम अवस्था सवितर्क कही जाती है। इसमें मन तीन चीजों – शब्द, ज्ञान, और इन्द्रिय बोध के बीच डोलता रहता है। इस प्रकार हमारा वस्तुज्ञान भ्रमपूर्ण या उलझा हुआ रहता है।

जब हम एक गुलाब के विषय में सोचते हैं, तब हम उसके अनेक गुणों – रंग, वजन, गंध, बनावट आदि के विषय में भी सोचते हैं। इन गुणों का ज्ञान हमारे गुलाब के ज्ञान में मिश्रित रहता है। यह सविकल्प अवस्था है, जिसका अतिक्रमण ध्यान में किया जाना चाहिए। जब मन इन गुणों के परे जाता है और गुणविशेष से निरपेक्ष रहते हुए वस्तु के साथ एकाकार हो जाता है, तब यह समाधि की अवस्था होती है। पहली अवस्था जो सविकल्प है, उसमें तीन तत्त्वों – 'शब्द', 'अर्थ' और 'ज्ञान' का मिश्रण रहता है। 'शब्द' – वस्तु का वाचक है, वस्तु का संकेत करता है। वास्तविक वस्तु 'अर्थ' कहलाती है। हम जानते हैं कि शब्द शिवलिंग एक वस्तु है, जबकि वस्तु शिवलिंग उससे भिन्न है। इसके अतिरिक्त शिवलिंग पर ध्यान करते समय जो ज्ञान मन में उद्भूत होता है वह सर्वथा भिन्न है; यह तो मन में उद्भूत होने वाला 'प्रत्यय' है जो 'ज्ञान' कहलाता है। ये तीनों ध्यान केन्द्रित करने की प्रक्रिया के लिए आवश्यक पक्ष हैं। सवितर्क में ये मिश्रित रहते हैं।

कभी-कभी शब्द, अर्थ और ज्ञान की सजगता एक साथ आती है और कभी-कभी एक बार में केवल एक की ही सजगता आती है। ये दोनों अवस्थायें बदलती रहती हैं। यदि आप किसी रूप विशेष पर धारणा कर रहे होते हैं तो रूप रहता है, पर उस सजगता की निरन्तरता बदलती रहती है। उदाहरणार्थ, कभी आप शिवलिंग के प्रति सजग होते हैं, कभी मंत्र के प्रति तो कभी लिंग आदि के प्रति। एक ही तत्त्व की सजगता निरंतर बनी रहनी चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है, तत्त्वों का मिश्रण हो जाता है। यह बीज के कारण होता है। बीज के विभिन्न आवरण होते हैं, एकदम बाहरी आवरण केवल भूसा होता है, जो सबसे अन्दर का भाग है वही आवश्यक होता है। इस बीज, अर्थात् अतीत के अनुभवों से उत्पन्न अशुद्धियों के कारण ज्ञान के तत्त्व मिश्रित हो जाते हैं।

बीज का अर्थ है मन का आधार। मन आधार की सजगता का सहारा लेता है। जब हम ध्यान करते हैं तो पहले हम रूप की सजीव कल्पना करते हैं, यह बाहरी छिलका निकालने के समान है। तत्पश्चात् अत्यन्त भीतरी तह का मानस दर्शन होता है। सवितर्क बीज का सबसे बाहरी आवरण है, उसके नीचे की तहों को निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार कहा जाता है। इन्द्रिय चेतना बीच का बाहरी आवरण है। जब यह प्रत्याहार, धारणा और ध्यान के परे जाता है तब यह सवितर्क समाधि और अन्य सूक्ष्म अवस्थाओं के परे भी चला जाता है। अन्ततोगत्वा उस सूक्ष्मतम तत्त्व को देखता है जिसे द्रष्टा या आत्मा कहते हैं।

बीज के अभाव में चेतना कार्य नहीं कर सकती। योग में इसे प्रत्यय, आधार कहते हैं। तब हमें एक प्रतीक की भी आवश्यकता होती है जिसे लिंग कहते हैं। सवितर्क में इन्हें अलग नहीं किया जा सकता, ये मिश्रित रहते हैं।

जो मंत्र और रूप के साथ जप और ध्यान का अभ्यास करते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि ध्यान में रूप को देख लेने के बाद चेतना को बारी-बारी से शब्द, अर्थ, और ज्ञान के बीच आना-जाना चाहिए। 'शब्द', अपने रूप में एक चिन्तन प्रक्रिया है। यह मानसिक तर्क-वितर्क है। 'ज्ञान' आन्तरिक इन्द्रिय बोध है और 'अर्थ' वस्तु है, जैसे शिवलिंग के अर्थ का तात्पर्य है अन्तिम प्रयोजन और वह अत्यन्त कठिन है। यही वस्तु का सही ज्ञान है।

एक प्रतीक विशेष के माध्यम से समाधि प्राप्त करने से आपको उस वस्तु की सजगता पर पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है। संयम में यही होता है, जिसमें धारणा, ध्यान और समाधि तीनों प्रक्रियायें सम्मिलित होती हैं। संयम का अर्थ

है वस्तु को सजगता में पूर्ण रूपेण धारण किये रहना और वस्तु की सजगता को पूर्ण नियन्त्रण में रखना।

विभिन्न वस्तुओं की पूर्ण अवधारणा, तन्मयता या विलय के परिणाम भिन्न-भिन्न होते हैं। यह कहना सर्वथा व्यर्थ है कि विभिन्न वस्तुओं पर ध्यान करने से भी आपको एक ही परिणाम की प्राप्ति होती है, उदाहरणार्थ, यदि आप पूर्णतया रुई की सजगता को धारण किये हुए हैं तो इसका परिणाम उससे सर्वथा भिन्न होगा जब आप अन्य वस्तु, यथा– शारीरिक शक्ति आदि पर संयम करते हैं। संयम की प्रक्रिया में जो अन्तिम परिणाम हमें प्राप्त होता है वह है अर्थ, परन्तु उद्देश्य उसी में रहता है, यद्यपि आप उसे प्रारम्भ में समझ नहीं पाते हैं। इसे पृथक् करते हुए उद्देश्य तक तो पहुँचना ही है जिसके साथ विभाजन स्वत: होता है।

सवितर्क समाधि में सजगता त्रुटिरहित होती है। इसमें परम शान्ति एवं नीरवता रहती है। इसमें मन न तो इधर-उधर डोलता है और न ही विचलित होता है। एक दूसरे प्रकार की समाधि भी होती है, जिसे निर्वितर्क कहते हैं। इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि परमचेतन अवस्था की प्राप्ति का अंश हमारे अन्दर विद्यमान रहता है, पर वह एक-दो क्षण के लिए ही टिकता है।

जब आप किसी वस्तु पर ध्यान करते हैं तो वस्तु के तीनों पक्षों को पृथक्-पृथक् देखने का प्रयास करना चाहिए। बारी-बारी से नाम, रूप और अर्थ, तीनों को मन में स्पष्ट रूप से देखने का प्रयास करना चाहिए। इन तत्त्वों के आधार पर अपनी सजगता को भी देखने का प्रयास करना चाहिए। तत्पश्चात् उन तीनों को एक रूप में देखने का प्रयास कीजिए। आपको एक साथ ही नाम, रूप, और अर्थ के प्रति सजग रहना चाहिए। अन्त में उन्हें पृथक्-पृथक् देखने का प्रयास करना चाहिए। यह ध्यान की एक महत्त्वपूर्ण विधि है।

यह ध्यान केन्द्रित करने की अद्भुत् विधि है। यदि आपको तीनों अवस्थाओं के बीच चेतना को बारी-बारी से ले जाना कठिन प्रतीत होता है तो आप केवल जप करें, जिसमें शब्द को सुना नहीं जा सके। आप पहले शब्द के विषय में सोचें और शब्द भी उत्पन्न करें, तत्पश्चात् आप वस्तु का रूप भी जोड़ सकते हैं। तब आप इसके विभिन्न गुणों के विषय में सोचें। मन की इस अवस्था की सही व्याख्या करना कठिन है, किन्तु जब आप चेतना के तीनों तत्त्वों को पहले पृथक् करते हैं और पुन: उन्हें एक में विलीन कर देते हैं तब यह मन को नियन्त्रित करने की एक विलक्षण विधि बन जाती है।

## सूत्र 43 – निर्वितर्क समाधि

*स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थामात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥43॥*

स्मृति की शुद्धि के पश्चात् मन आत्मसजगता रहित-सा हो जाता है और अन्दर में वस्तु का वास्तविक ज्ञान आलोकित होता है, यही अवस्था निर्वितर्क कहलाती है।

निर्वितर्क, तर्क-वितर्क रहित समाधि है, वस्तु के तीनों पक्षों – नाम, रूप, अर्थ की उलझन से रहित। इसमें न तो वस्तु की व्यक्ति-सापेक्ष सजगता रहती है और न शब्द की। स्मृति अतीत के संस्कारों और सम्बन्धों से सर्वथा मुक्त रहती है। सामान्य रूप से हमारी स्मृति स्पष्ट नहीं रहती है; हमारे लिए स्मृति अतीत के संस्कारों का संग्रह है। स्मृति एक स्वतंत्र चेतना है, जिस पर संस्कार जड़े होते हैं। यदि अतीत का सब कुछ साफ भी कर दिया जाय तो भी स्मृति शेष रह जाती है। स्मृति-पट्ट पर विगत संस्कार रहते ही हैं और वे गहरी अवस्थाओं में पुन: प्रकट हो जाते हैं। जाग्रत अवस्था में चेतन विचारों के द्वारा वे पुन: उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु समाधि में वे स्वत: प्रकट हो जाते हैं। कभी-कभी चेतना की गहरी अवस्था में ये संस्कार मिट जाते हैं, तब स्मृति का लोप नहीं होता, क्योंकि स्मृति संस्कारों से भिन्न है।

यह ऐसा है मानो मस्तिष्क मन से या विचार से भिन्न है। उसी प्रकार वृत्ति जिसे स्मृति कहते हैं संस्कारों से भिन्न है। स्मृति व्यक्ति की अपनी सजगता है। विभिन्न साधनाओं द्वारा स्मृति का परिष्कार किया जा सकता है, वह स्वरूपशून्य-एव हो जाती है। यह आत्मसजगता की अवस्था है, और ऐसा प्रतीत होता है मानो सब कुछ शून्य हो गया है, परन्तु वस्तुत: यह शून्य होता नहीं है। 'एव' शब्द का प्रयोग यह बताने के लिए किया गया है कि आप वस्तु के प्रति सजग नहीं हैं, फिर भी वस्तु वहाँ है। अर्थात् जब वस्तु, यथा शिवलिंग के प्रति आप सजग नहीं होते और ऐसा प्रतीत होता है कि आपका मन शिवलिंग के संस्कारों से सवर्था रहित हो गया है, पर ऐसा नहीं होता है। स्मृति शिवलिंग के संस्कारों से मुक्त नहीं होती है, वरन् संस्कार आपकी चेतना की समस्त संरचना में व्याप्त हो गया है। उसका प्रत्येक अंश शिवलिंग के संस्कारों से भरा हुआ होता है। इस अवस्था में मन अपनी व्यक्ति-सापेक्ष सजगता खो देता है।

यहाँ मन वस्तु का ज्ञान खो देता है, यद्यपि सजगता और ज्ञान मन में उपस्थित रहते हैं। इसकी यही विशेषता है। आप स्मरण करते हैं कि आप शिवलिंग पर ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं, अगले ही क्षण केवल शिवलिंग रह जाता है और आपको स्मरण भी नहीं रहता कि आप उस पर ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं। पुन: एक समय आता है जब शिवलिंग तो दिखाई पड़ता है, किन्तु इसकी सजगता कि आप उस पर ध्यान कर रहे हैं, विलुप्त हो जाती है। समस्त मन पूर्णतया शून्य हो गया प्रतीत होता है, पर वस्तुत: ऐसा होता नहीं है। जिस प्रकार नमक जल में पूरी तरह घुल कर उससे अलग नहीं हो पाता है, उसी प्रकार शिवलिंग का स्वरूप या उसकी सजगता मन को भर देती है, यद्यपि इसका बोध अलग से नहीं हो पाता है। इसका कारण यह है कि मन वस्तु की स्मृति से पूरी तरह व्याप्त हो जाता है। इसे परिशुद्धि, अर्थात् स्मृति शुद्धि के रूप में जाना जाता है। अत: स्मृति शुद्धि 'स्वरूपशून्य एव' का कारण है।

यह सूक्ष्म बात स्मरण रखनी चाहिए कि यदि स्मृति शुद्ध नहीं है तो मन शून्य में डूब जाता है। यदि स्मृति शुद्ध है, तब वस्तु, यथा – शिवलिंग समग्र चेतना में छा जायेगा, और मन की अवस्था के साथ एकाकार हो जायेगा। मन और वस्तु एक हो जायेंगे। मन और रूप की स्मृति एक-दूसरे से पृथक् नहीं हो पाती है; स्मृति का पृथक् अस्तित्व नहीं है। उस समय शून्य का क्षणिक अनुभव होता है। यह लय की अवस्था है जिसमें वस्तु की स्मृति की चेतना का मन में पूर्ण विलय हो जाता है। एक क्षण के लिए मन झपकी लेता है, सो जाता है। उस निद्रावस्था में स्मृति की उपस्थिति नहीं रहती है।

उस अवस्था में वस्तु का वास्तविक ज्ञान अन्दर से आलोकित हो उठता है। निर्वितर्क समाधि और लय में यही अन्तर है। निर्वितर्क समाधि में वास्तविक ज्ञान रहता है; उदाहरणार्थ – शिवलिंग तो विलुप्त हो गया है, किन्तु उसके पीछे आप तीव्र प्रकाश देख सकते हैं। इस अवस्था में वास्तविक ज्ञान प्रकट होगा; यह साधक के समक्ष उद्‌घाटित हो जायेगा। आन्तरिक और बाह्य अवस्थाओं का अन्तर पूर्णतया समाप्त हो जायेगा। स्वप्न में गहरा अनुभव होता है, पर निर्वितर्क समाधि में यह उससे भी गहरा होता है। आपको ध्यान की वस्तु के सही रूप और वास्तविक ज्ञान के प्रति सजग रहना चाहिए, अन्यथा आप अपने मन के द्वारा ही भटका दिये जायेंगे। जब आप निर्वितर्क अवस्था में आते हैं, आपको प्रतीक का वास्तविक रूप जानना पड़ेगा, चाहे वह गुलाब हो या शिवलिंग। जब निर्वितर्क समाधि की अवस्था में वास्तविक ज्ञान प्रकट होता है तो रूप को एक बार फिर

लाना होता है जो शिव का नहीं, बल्कि शक्ति का स्वरूप है, क्योंकि मन की आत्मपरकता समाप्त हो जाती है। यह मन नहीं जो सोचता, स्वप्न देखता या सोता है। मन की यह अवस्था स्मृति के अभाव के कारण बड़ी सुस्पष्ट हो जाती है। अत: आप ध्यान के अनुभवों को कभी याद नहीं रखते, क्योंकि सामान्य चेतना क्रियाशील नहीं रहती है। उदाहरणार्थ – एक चींटी हाथी को नहीं देख सकती, देखने के लिए चींटी को आकार में बड़ा होना पड़ेगा। उसी प्रकार चेतन मन ध्यान की अवस्था में प्रवेश नहीं कर सकता। उसके बाद मन की एक भिन्न अवस्था आपकी सजगता का प्रभार लेती है। चेतन पुरुष कार्य करना बन्द कर देता है और एक अन्य पुरुष उसका स्थान ले लेता है। यह अवस्था एक सीमा तक चलती है और वहाँ रुक जाती है। तत्पश्चात् तीसरा पुरुष आता है और आपको आगे ले चलता है। इस प्रकार चेतना के विभिन्न स्तरों से आप प्रगति कर सकते हैं।

यह मन नहीं जो स्वप्न देखता है, स्वप्न के प्रति सजग रहता है और प्रात:काल उसे स्मरण करता है। मन की यह अवस्था एक भिन्न अवस्था है। यदि आपको वरदानस्वरूप यह अवस्था प्राप्त हो भी जाती है, तो भी स्मृति के अभाव के कारण, मन के अभाव के कारण आपके लिए उसे स्मरण रखना सम्भव नहीं होगा। मन की यह अवस्था उस अवस्था से भिन्न है, और जब तक आप यहाँ इस स्थिति में उस मन को सक्रिय नहीं करते, तब तक आप उसे स्मरण भी नहीं कर सकते जिसे आपने देखा है। यदि आप ध्यान या समाधि के अनुभवों को स्मरण रखते हैं तब, या तो आपको ध्यान की प्राप्ति नहीं हुई है, या यदि आपको ध्यान की प्राप्ति हो गई है, तब आपकी सामान्य चेतना अत्यन्त उच्च स्तर की है।

इसी संदर्भ में गरुड़ पुराण के एक वाक्यांश को उद्धृत किया जा सकता है, जिसका गलत अर्थ लगाया जाता है। सामान्यत: जब परिवार के किसी सदस्य की मृत्यु होती है तब इसका पाठ किया जाता है। इसमें स्वर्ग एवं नरक और यम के राज्य में दी जाने वाली यातनाओं की चर्चा की जाती है। उसमें कहा जाता है कि मृत्यु के उपरान्त जीव को विभिन्न देवताओं द्वारा विभिन्न लोकों में ले जाया जाता है, परन्तु वस्तुत: यह मृत्यु के विषय में तो है ही नहीं। यहाँ यह समझना चाहिए कि पुराण में अनुभवातीत स्थिति का वर्णन किया जा रहा है। अत: यह समझना चाहिए कि विभिन्न पुरुष मन को परमचेतना की गहन से गहनतर अवस्थाओं में ले जाते हैं। इसका कारण यह है कि निर्वितर्क अवस्था में चेतन मन काम नहीं करता है। अत: संक्षेप में निर्वितर्क अवस्था स्मृति की शुद्धि से सम्बन्धित है जो ध्यान की वस्तु का वास्तविक ज्ञान उत्पन्न करता है।

## सूत्र 44 – अन्य प्रकार की समाधियाँ

*एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥44॥*

केवल इस व्याख्या के द्वारा सविचार समाधि, निर्विचार समाधि एवं समाधि की सूक्ष्मतर अवस्थाओं को स्पष्ट किया गया है।

निर्वितर्क के बाद चार अवस्थायें और हैं, यथा – सविचार, निर्विचार, आनन्द और अस्मिता। 'सूक्ष्म विषया' का अर्थ है समाधि की सूक्ष्म अवस्थायें – आनन्द और अस्मिता समाधि, जिनमें विलय की वस्तु क्रमश: आनन्द और सजगता है। सविचार समाधि के पूर्व की समाधि में साधक वस्तु, उसके नाम, रूप और गुणों के विषय में सजग रहता है। ये तीनों या तो एक-दूसरे पर आरोपित हो जाती हैं या इनके मूल स्वभाव का बोध हो जाता है। सविचार में समस्त प्रक्रिया मनन की होती है, रूप का अभाव रहता है। इसे समझाना कठिन है। आप शान्त होकर बैठ जायें और शिव या अन्य किसी वस्तु पर ध्यान करें। यह ध्यान मनन के रूप में होता है, शब्द के विचार के रूप में नहीं होता।

मनन की प्रक्रिया की कोई भाषा नहीं होती, पर साधारण चिन्तन में भाषा की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, जब हम भूगोल, विज्ञान, धर्म, इतिहास अथवा वर्त्तमान या भविष्य के विषय में सोचते हैं तब भाषा का प्रयोग करते हैं। सवितर्क और निर्वितर्क अवस्थाओं में भाषा रहती है। जब विचार भाषारहित होता है तब उसे विचार कहा जाता है। सविचार में तीन तत्त्व होते हैं – काल, देश और विचार। ध्यान के विषय में सांख्य और योग में अन्तर है। ऐसा कहा जा सकता है कि सांख्य में धारणा, ध्यान और समाधि अवस्थाएँ नहीं होती हैं। सांख्य में साधक निराहार के प्रति सजग होता है, वह किसी वस्तु के विषय में सामान्य बोध के रूप में नहीं सोचता, जैसा भाषा में होता है। वह केवल दृश्य-रूप के प्रति सजग रहता है। यह उच्चतर साधना है। सविचार में मन देश, काल और विचार के मध्य आता-जाता रहता है। विलय नहीं होता। प्रत्येक के विषय में अलग-अलग नितान्त शुद्ध सजगता रहती है। देश, काल और विचार को विचार कहते हैं। यह चिन्तन नहीं है। विचार की परिभाषा यह है कि जब चेतना भाषा के आधार के बिना प्रवाहित होती है तब वह विचार होता है। यह ध्यान देने की बात है कि रूप पर ध्यान के समय भाषा की आवश्यकता

होती है, यहाँ तक कि एकाग्रता भी भाषा पर आधारित है। एक साधक दृश्य के अकस्मात् कौंध जाने पर ही भाषा के आधार के परे जा सकता है।

आनन्द समाधि में परम शान्ति एवं परम आनन्द का अनुभव होता है, पर वह आनन्द की अवस्था आपकी इन्द्रियों के अनुभव से प्राप्त नहीं होती है। जब एक विशेष भाषा के रूप में मन का वाद-विवाद हटा दिया जाता है, वह सविचार हो जाता है। यह चेतना का गहनतर धरातल है। सविचार में चेतना को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं, जिसका अर्थ है आलोकित ज्ञान। यह चेतना की गहरी अवस्था में हमारी सभी प्रक्रियाओं का संचालन करता है। निर्विचार में देश, काल और विचार को निकाल दिया जाता है, पर उसके पीछे कुछ और रह जाता है और उसे विचार की मूल प्रकृति कहते हैं।

अस्मिता में सजगता सर्वथा शुद्ध होती है, कोई विचार नहीं होता, देश, काल की सजगता नहीं रह जाती है, लेकिन उस सजगता का पूर्ण ज्ञान या समझ रहती है।

## सूत्र 45 – समाधि की सीमा

*सूक्ष्म विषयत्वं चालिंगपर्यवसानम् ॥45॥*

सूक्ष्म वस्तुओं के संदर्भ में समाधि की अवस्थाओं का विस्तार प्रकृति तक हो जाता है।

आनन्द और अस्मिता समाधि का अनुभव क्षेत्र 'अलिंग' तक विस्तार पाता है। 'अलिंग' का अर्थ है वह अन्तिम अवस्था, जिसमें तीनों गुण समान रूप से और पूर्णतया परस्पर मिल जाते हैं। गुणों की चार अवस्थायें होती हैं, अन्तिम को 'अलिंग' कहते हैं। इसका कोई चिह्न या लक्षण नहीं होता जो इसे अलग करे।

गुण की प्रथम अवस्था एक विशेष अवस्था है, जिसे विशिष्ट कहते हैं। द्वितीय अवस्था आदि रूप या अविशिष्ट है। तीसरी सचिह्न होती है और चौथी चिह्न रहित होती है। सवितर्क, और असम्प्रज्ञात, सविचार, निर्विचार, तथा असम्प्रज्ञात, आनन्द, असम्प्रज्ञात और अस्मिता असम्प्रज्ञात में ध्यान के पश्चात निर्बीज समाधि प्रारम्भ होती है। इस बिन्दु तक हम बीज सहित समाधि की चर्चा करते रहे हैं। कभी-कभी उसमें विशिष्ट बीज या विशिष्ट आधार, यथा – राम, कृष्ण, या शिव रहता है। आगे बढ़ने पर आदि रूप उपस्थित होता है जो सार्वभौम होता है, उसके परे एक निश्चित चिह्न रहता है। आपके समक्ष एक प्रतीक आ सकता है – संभवत: क्राइस्ट, क्रॉस, शिव या ॐ रूप में, पर जो आपने देखा है, वह उससे भिन्न होगा। यह केवल चिह्न के साथ होता है। आपकी चेतना आपके द्वारा चिह्न रूप में देखी जाती है। चतुर्थ अवस्था में कोई चिह्न नहीं रहता, आप नहीं कह सकते कि चेतना कहाँ है। पहले सजगता रहती है, अत: अलिंग तीन गुणों – सत्त्व, रजस् और तमस् की चौथी अवस्था है।

प्रथम अवस्था में सत्त्व, रजस् और तमस् का मिश्रण रहता है। द्वितीय अवस्था में सत्त्व की वृद्धि होती है और रजस् एवं तमस् सहायक हो जाते हैं। तृतीय अवस्था में अकेले सत्त्व रह जाता है और चतुर्थ अवस्था में सत्त्व, रजस् और तमस् सन्तुलन में रहते हैं। जब तीनों गुण सन्तुलन में रहते है तब अलिंग की अवस्था आ जाती है।

## सूत्र 46 – सबीज समाधि

*ता एव सबीजः समाधिः ॥46॥*

वे (अवस्थायें जिनका पूर्व में वर्णन किया गया है) केवल सबीज समाधि हैं।

जिस वस्तु पर आप ध्यान करते हैं वह बीज है। यह चेतना के आधार को सहारा देता है। अन्त में जब चेतना उस बीज के रूप में संकेन्द्रित हो जाती है तब वह जल में नमक के समान एक हो जाती है,और मन की आत्मपरकता समाप्त हो जाती है। मन बीज में और बीज मन में विलीन हो जाता है, परन्तु एक ऐसी अवस्था है जहाँ इस चेतना का भी विलोपन कर देना चाहिए। अस्मिता चेतना अन्तिम और उच्चतम अवस्था है। उस अवस्था में न चेतना और न चेतना की वस्तु का लोप होता है, बल्कि वे दोनों परस्पर आश्रित रहती हैं। कोई भिन्नता नहीं रह जाती है। तत्पश्चात् अस्मिता की सजगता का विलोपन कर देना चाहिए। इस प्रकार चेतना के साथ-साथ बीज का विलोपन भी कर देना है। यह नमक और जल के मिश्रण से जल के वाष्पीकरण के समान है। वहाँ से सजगता की प्रक्रिया को ही हटा दिया जाता है और यह वास्तव में कठिन है।

वितर्क से अस्मिता पर्यन्त पूरी प्रक्रिया सबीज है। वहाँ परमचेतना को आलम्बन के लिए एक आधार मिल जाता है। इसके बाद निर्बीज प्रारम्भ होता है। तीर आपकी व्यक्तिगत चेतना है, जो लोकों या धरातलों से होकर जाता है। प्रत्येक लोक में सवितर्क और निर्वितर्क होता है। अर्थात् पहले सकारात्मक का और बाद में नकारात्मक का विकास होता है। पहले सजगता के आधार के लिए भाषा रहती है, तत्पश्चात् यह मनन के रूप में और उसके उपरान्त साधारण अनुभव के रूप में रहती है। न शब्द है, न विचार है, कुछ भी नहीं है। आप नहीं जानते यह क्या है, यह मात्र सजगता है। इस बात का ध्यान रखना है कि सम्प्रज्ञात और सबीज समाधि में अन्तर है। असम्प्रज्ञात, निर्बीज और निर्विकल्प समाधि की विभिन्न अवस्थायें हैं। इनमें भ्रम नहीं होना चाहिए और न ही इन्हें परस्पर एक समान मानना चाहिए।

## सूत्र 47 – तब आध्यात्मिक आलोक का अवतरण होता है

*निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद: ॥47॥*

निर्विचार समाधि सिद्ध हो जाने पर आध्यात्मिक आलोक का अवतरण होता है।

निर्विचार समाधि परमचेतना का उच्चतम रूप है। निर्विचार समाधि की अन्तिम अवस्था में आध्यात्मिक आलोक मन में प्रकट होता है। उसके बाद चेतना का अवसान हो जाता है, जहाँ बौद्धिक चेतना पूरी तरह समाप्त हो जाती है। इसके पश्चात् साधक पर एक भिन्न प्रकार की चेतना का आधिपत्य हो जाता है। अनेक पुराणों में यह कथा के रूप में कहा गया है कि जीव की मृत्यु के बाद उसे विभिन्न पुरुष विभिन्न लोकों में ले जाते हैं। मृत्यु की इस अवधारणा का अर्थ है बुद्धि का अवसान, शरीर की मृत्यु नहीं।

आध्यात्मिक ध्यान में एक अवस्था आती है, जब बौद्धिक चेतना द्वारा व्याप्त चेतना पूरी तरह समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार बौद्धिक चेतना विभिन्न प्रकार की चेतनाओं को जन्म देती है। इस अवस्था को आत्म-साक्षात्कार प्राप्त आत्मदर्शी व्यक्ति प्राप्त कर सकते हैं। वह एक विशेष उपकरण है, एक विशेष प्रकार की चेतना है, जिसे आत्मद्रष्टा कहा जाता है। जब निर्विचार अवस्था सिद्ध हो जाती है तब एक भिन्न प्रकार की सजगता जन्म लेती है। जो लोग ध्यान का अभ्यास करते हैं, सजगता की एक भिन्न अवस्था विकसित कर लेते हैं, जिसके विषय में कहा जाता है कि यह एक परछाई है, जिसे आप त्राटक में देखते हैं, जब अपना या जगत् की चेतना नहीं रह जाती है।

छाया पुरुष कही जाने वाली छाया आपकी बुद्धि का अन्तिम अवशेष है, जिसे पुन: किसी अन्य वस्तु के द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जाता है। जादूगर उतनी दूर तक जा सकते हैं। इसके द्वारा वे बहुत चमत्कार दिखाते हैं। उसी प्रकार आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न सिद्ध भी चमत्कार कर सकते हैं, पर वे सत्ता के उच्चतर फलों से अनभिज्ञ होते हैं। चेतना का छाया रूप में प्रकट होना उनकी चेतना की एक अवस्था है, जहाँ बुद्धि का मूलतत्त्व समाप्त हो जाता है।

## सूत्र 48 – ब्रह्माण्डीय अनुभव

*ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥48॥*

वहाँ (निर्विचार समाधि की सीमा रेखा पर) परमचेतना ब्रह्माण्डीय अनुभव से भर जाती है।

ऋतम् और सत्यम् दो ऐसे शब्द हैं जिन पर भारतीय श्रद्धा की सम्पूर्ण संरचना खड़ी है। भारतीय दर्शन और धर्म का आधार श्रद्धा और अन्ध विश्वास नहीं है, वरन् ऋतम् और सत्यम् है। भारतीय दार्शनिक मानते हैं कि जगत् और सृष्टि विकास की एक प्रक्रिया है, पर वे ऐसा नहीं सोचते कि यह ब्रह्माण्ड केवल प्रकृति या पदार्थ की अभिव्यक्ति है। वे मानते हैं कि ब्रह्माण्ड का मूल कारण शक्ति है।

सत् ऊर्जा से सूक्ष्म है; सत् का अर्थ है अस्तित्व। इसके दो पक्ष हैं – ऋतम् और सत्यम्। सत्यम् सृष्टि का सापेक्ष पक्ष है और ऋतम् उसका असीम या ब्रह्माण्डीय पक्ष है। सत्यम् इन्द्रियगम्य तथा मन द्वारा ज्ञेय है, इसमें परिवर्तन हो सकता है। यह परस्परावलम्बी है, पर ऋतम् ऐसा नहीं है, यह अपरिवर्तनशील है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के ये दो पक्ष हैं। ग्रह-नक्षत्रों का जगत सत्यम् है, क्योंकि यह सापेक्ष है, परन्तु परम, ऋतम् ऊर्जा और परिवर्तन के परे है। ऋतम् पदार्थ और ऊर्जा के परे परम सत्य है। निर्विचार के बाद आध्यात्मिक साधक की परमचेतना चरम ज्ञान, अर्थात् ऋतम् से भर जाती है, जहाँ इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं। यह ध्वनि के नीरव हो जाने के समान है, जहाँ वह उच्चतम कम्पन पर पहुँच जाता है। जब प्रकाश उच्चतम कम्पन पर पहुँचता है तो वह अन्धकार में परिवर्तित होजाता है। उसी प्रकार, जब आन्तरिक अनुभूति उच्चतम कम्पन पर पहुँच जाती है तब वहाँ शून्य का आभास होता है।

शून्य की इस विशिष्ट अवस्था में शून्य इतनी गति से कम्पन करता है कि वह स्थिर हो जाता है। यह दिखाई नहीं देता है और इसीलिए इसे ब्रह्माण्डीय ऋतम् कहते हैं। ब्रह्माण्ड की सृष्टि ऋतम् और सत्यम् के साथ प्रारम्भ हुई। सत्यम् अन्ततोगत्वा ऋतम् का अंश बन जाता है। भारतीय दर्शन में ऐसा माना जाता है कि सृष्टि शाश्वत है। न कोई स्त्रष्टा है और न कोई ध्वंसक। ब्रह्माण्ड की सृष्टि कभी हुई ही नहीं। ऊर्जा और पदार्थ करोड़ों वर्ष पूर्व

भिन्न रूप में थे। न कोई स्रष्टा हो सकता है और न सृष्टि का दिन, क्योंकि ब्रह्माण्ड शून्य से तो उत्पन्न हो नहीं सकता, और शून्य हो ही कैसे सकता है? यह किसी वस्तु को कैसे उत्पन्न कर सकता है? इस प्रकार, भारतीय दर्शन किसी स्रष्टा में विश्वास नहीं रखता। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड अनादि है, उसी प्रकार इसे अनन्त भी होना चाहिए। पदार्थ और ऊर्जा के नाम और रूप में परिवर्तन होता जायेगा, परन्तु ब्रह्माण्डीय नियम को आध्यात्मिक चेतना के माध्यम से समझा जा सकता है।

## सूत्र 49 – इस अनुभव के लक्षण

*श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥49॥*

यह ज्ञान साक्ष्य और अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान से भिन्न है, क्योंकि इसका विशेष विषय होता है।

चेतना दो प्रकार की होती है – निम्न और उच्चतर। निम्न चेतना ज्ञान के लिए इन्द्रियों पर आश्रित होती है, अर्थात् हम आँखों और कानों के बिना देख या सुन नहीं सकते। यह श्रुत और अनुमान प्रकार का ज्ञान है। उच्चतर चेतना को जानने के दो मार्ग हैं – एक है प्रत्यक्ष, जैसा वेदान्त में है और दूसरा परोक्ष। आप आत्मा के विषय में गुरु या शास्त्रों से सुनते है। श्रुत का अर्थ है 'वेद', क्योंकि वे प्रकट हुए थे। उनके द्वारा हम परमात्मा और आत्मा को जानते हैं।

अनुमान का अर्थ है अन्दाज लगाना। अनुमान द्वारा हम अगोचर वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अनुमान द्वारा हम जानते है कि इस जगत् का कोई स्रष्टा होना चाहिए। अनुमान ईश्वर मीमांसा, सत्ता मीमांसा और ब्रह्माण्ड – विज्ञान पर आधारित है। अनुमान और साक्ष्य से प्राप्त ज्ञान एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में भिन्न होगा। इसीलिए व्यक्तियों और राष्ट्रों में संघर्ष होता है, परन्तु आत्मदर्शियों के बीच परम ज्ञान के विषय में मतभेद नहीं होता। इन्द्रियों में प्रवाहित होने वाले संवेदन भिन्न होते हैं, परन्तु परमज्ञान एक ही होता है।

उच्चतर और निम्न चेतना के बीच अन्तर यह है कि उच्चतर चेतना चीजों को वैसी ही देखती है, जैसी वह है, जबकि निम्नतर चेतना इन्द्रियों, साक्ष्य अनुमान पर निर्भर करती है। सूचना द्वारा प्राप्त ज्ञान, चाहे वह किसी व्यक्ति या किसी पुस्तक से प्राप्त हो, पर्याप्त नहीं होता है। यह परोक्ष ज्ञान है, निम्नतर ज्ञान है। दूसरे प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष है, अपरोक्ष है। यह शास्त्रीय नहीं, वरन् वास्तविक है। जिसने आत्मा को देख लिया है वह उसके विषय में बोल नहीं सकता, यद्यपि उसे आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान है, क्योंकि वह वाणी और मन का विषय नहीं है। चेतना की आध्यात्मिक प्रकृति अनुभव द्वारा ही जानी जा सकती है। निम्नतर चेतना के दो पक्ष है – इन्द्रियाँ और बुद्धि।

## सूत्र 50 – समाधि में चेतना का सक्रिय स्वरूप

*तज्ज: संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥50॥*

उस (सबीज समाधि) से उत्पन्न सक्रिय चेतना, चेतना की अन्य अवस्थाओं को बाधित करती है।

संस्कार बीज के गहरे स्तर में परमचेतना की सक्रिय अवस्था है, जिसे चेतना में जाग्रत किया जा सकता है, यथा शिवलिंग बीज है, या एक प्रतीक बीज है। संस्कार चेतना की सुषुप्त अवस्था नहीं है, वरन् सक्रिय चेतना की अवस्था है। सबीज समाधि की उच्चतम अवस्था में बीज की चेतना रहती है, परन्तु अन्य विषयों की चेतना विलुप्त हो जाती है। सामान्य जीवन में भी ऐसा पाया जाता है कि जब मन में एक विचार प्रबल होता है तो अन्य विचार दब जाते हैं। उसी प्रकार एक संस्कार अन्य संस्कारों का निरोध कर देता है। जब चित्त देखने, सुनने, महसूस करने जैसी बाह्य सजगताओं से भरा रहता है, तब वह भी सक्रिय चेतना कहलाता है, और उसको रोक देना है। इसे प्रत्याहार और धारणा के अतिरिक्त ध्यान के साथ भी किया जा सकता है। जब मन व्यस्त या एकाग्र नहीं रहता है तब अनेक विचार उठते रहते हैं। सबीज समाधि की निम्नतर अवस्थाओं में ऐसा होता है, जहाँ दृश्यों के अतिरिक्त चित्तवृत्तियाँ भी रहती हैं। जब ऋतम्भरा प्रज्ञा जाग्रत होती है तब सबीज समाधि की उच्चतम अवस्था प्राप्त होती है। तब अन्य संस्कार न केवल प्रकट होने से रोक दिये जाते है, वरन् वे समाप्त हो जाते हैं।

धारणा, ध्यान और समाधि, ये तीनों अवस्थाएँ एक साथ संयम कही जाती हैं, जिसका विषय की सजगता पर पूर्ण मानसिक नियन्त्रण होता है। संयम के माध्यम से चेतना की अन्य अवस्थायें विलुप्त हो जाती हैं। पर बीज रह जाता है। बीज, यथा – शिवलिंग भी प्रत्यय कहलाता है। यह चेतना का आधार है। यह असम्प्रज्ञात में, अस्मिता में होता है, अस्मिता से साधक निर्बीज समाधि में लीन हो जाता है।

अब तक चेतना गहरे-से-गहरे उतरती जा रही थी, पर वह द्रष्टा से एकाकार नहीं थी। सबीज समाधि के बाद एक सागर होता है, जिसे द्रष्टा के साथ एकरूप कहते हैं। यहाँ दो बातें याद रखनी चाहिए। पहली, यह भ्रम कि आध्यात्मिक

मार्ग छोटा मार्ग है। यह उत्साही साधक और गुरु की गलत धारणा है। इसे सुधारा जाना चाहिए। दूसरी, ध्यान के द्वारा चेतना के स्थूल स्वरूप की स्पष्ट समझ होनी चाहिए। जिस क्षण साधक सगुणोपासना का अतिक्रमण कर लेता है वह ऋतम्भरा प्रज्ञा के बाद निर्गुणोपासना के लिए प्रस्तुत हो सकता है। उदाहरण के लिए, रमण महर्षि जो जन्म से ही मुक्त थे, उन्होंने किसी साधना का अभ्यास नहीं किया था।

निश्चित रूप से, जो आध्यात्मिक रूप से विकसित नहीं है, जिनका अपनी मानसिक क्रियाओं पर ऐच्छिक नियंत्रण नहीं है, उन्हें पहले सगुणोपासना करनी चाहिए। योग के अनुसार यह समस्त उपासना दो श्रेणियों में विभक्त है, साधन और साध्य। ध्यान समाधि के लिए साधन है, धारणा ध्यान के लिए साधन है, प्रत्याहार धारणा के लिए साधन है, समाधि की विभिन्न अवस्थाओं की प्रत्येक पूर्व अवस्था उच्चतर अवस्था के लिए एक साधन है। इसलिए ये सभी अभ्यास पहले चेतना के विभिन्न स्वरूपों को भंग करते हैं और अन्ततः प्रकृति के क्षेत्र के बाहर पहुँच जाते हैं।

## सूत्र 51 – तब व्यक्ति निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लेता है

*तस्यापि निरोधे सर्वानिरोधान्निर्बीजः समाधि ॥51॥*

समस्त चित्तवृत्तियों के निरोध के कारण उसके भी निरोध के पश्चात् निर्बीज समाधि प्राप्त होती है।

बीज में अनेक हो जाने की क्षमता होती है। इसे जला देना है जिससे यह न विभक्त हो न उत्पादन करे। यहाँ तक कि पुरुष, शिव, ॐ आदि रूप में भी संस्कार के बीज को हटा देना। उसके लिए एक भिन्न प्रकार की चेतना की आवश्यकता है, जिसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं, और वही सब काम करती है। जब उपासना का आधार, जो बीज है, नष्ट हो जाता है तब चेतना भिन्न रहती है, और जब तक उसका नाश नहीं होता निर्बीज समाधि का उदय नहीं हो सकता है।

जहाँ अन्य संस्कार अपने प्रभावों को बढ़ाते हैं, वहीं ऋतम्भरा प्रज्ञा निर्बीज अवस्था उत्पन्न करती है। देखना, सुनना, समझना आदि सभी चेतना के बीज हैं। यहाँ तक कि योग सूत्र का अध्ययन भी एक संस्कार है। यह बीज पौधे से वृक्ष के समान बढ़ता है और आप उपनिषद् आदि पढ़ना चाहते हैं। तथापि, अन्तिम अवस्था में ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा सभी संस्कार, यथा – शिवलिंग या ॐ आदि नष्ट हो जाते हैं। ऐसा इसलिए कि बौद्धिक सीमा का अतिक्रमण हो जाता है और साधक आनन्द की अवस्था प्राप्त कर लेता है। रूप समाप्त हो जाता है।

शून्य की अवस्था स्थिर नहीं गत्यात्मक है, यह अनुभवातीत निश्चलता है, केवल गत्यात्मक दृष्टि से यह शून्य प्रतीत होता है। अन्तिम अवस्था शान्त है पर सक्रिय है। वहाँ पुरुष का आलोक होता है जो समग्र चेतना को आलोकित करता है। वह विशेष प्रकाश जो विषयों को आलोकित करता है वह समेट लिया जाता है, वही एक मात्र प्रक्रिया है। यह बाह्य जगत् से सिमट कर अन्दर चला जाता है और अन्दर जाने के क्रम में अन्तर्मार्ग को, वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के आन्तरिक कक्षों को आलोकमय रखता है। इसकी व्याख्या अत्यन्त कठिन है। निर्बीज समाधि की प्रकृति को समझना संभव नहीं है, क्योंकि जिसने इसे जान लिया है, वह इसे अभिव्यक्त या सम्प्रेषित नहीं कर सकता।

द्वितीय सोपान

# साधना पाद

(55 सूत्र)

## सूत्र 1 – साधना में अनुशासन

*तप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग: ॥1॥*

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग है।

तप का सामान्य अर्थ है दग्ध करना, ताप और ऊर्जा उत्पन्न करना। तपस का अनुवाद तप, तपस्या या तपश्चर्या के रूप में किया जाता है, परन्तु इसका वास्तविक अर्थ है, त्रुटियों और आन्तरिक व्यक्तित्व की मैल को पूर्णरूपेण प्रकाशित कर देने की प्रक्रिया। भगवद्गीता में कहा गया है कि ज्ञान की अग्नि संचित कर्मों को, वर्तमान कर्मों को और पहले त्याग दिये गये कर्मों को भस्म कर देती है। नागार्जुन ने कहा है कि जिस बीज को जलाया नहीं गया है वह अनेक बीजों और पौधों को जन्म देने में सक्षम होता है। उसी प्रकार, जो चित्त संस्कारों से मुक्त नहीं हुआ है वह अनेक संस्कारों को उत्पन्न करने में तथा शरीर और पुनर्जन्म प्रदान करने में सक्षम होता है। भूना हुआ या जला हुआ बीज अंकुरित होने योग्य नहीं रहता है। यह तपस् की प्रक्रिया है, जिसके द्वारा आत्मशुद्धि होती है।

कभी-कभी कम अशुद्धि रहती है और उसे कम स्वच्छ करने की आवश्यकता होती है, परन्तु जब अविद्या अधिक रहती है तब भौतिक संस्कारों को अग्नि में डालना आवश्यक हो जाता है। तपस् वह साधन है, जो अविद्या से भरे अत्यन्त अशुद्ध मन को शुद्ध करता है। तपस का अर्थ ताप और ऊर्जा का संरक्षण भी होता है। यह प्राणायाम के समान शारीरिक ऊष्मा भी उत्पन्न करता है। यहाँ तपस् शब्द का उपयोग अत्यन्त महत् परिप्रेक्ष्य में किया गया है। इस अध्याय के सूत्र 32 में तपस, शब्द का उल्लेख मिलेगा। वहाँ यह एक प्रारम्भिक साधना के रूप में होगा। यहाँ तपस का उपयोग तपस्या या तपश्चर्या के रूप में नहीं किया गया है, वरन् एक प्रकार की ऊष्मा उत्पन्न करने के भाव के साथ किया गया है। ऊष्मा प्राणायाम, हठयोग, मुद्राओं, और बन्धों, मन की एकाग्रता, ब्रह्मचर्य या अहिंसा द्वारा भी उत्पन्न की जा सकती है। यह केवल शारीरिक ऊष्मा नहीं है, वरन् यह प्राणिक, मानसिक, या आध्यात्मिक भी है। यह आत्मिक प्रकृति की भी होती है।

जब आप किसी बुरी आदत को छोड़ना चाहते हैं, तो उससे छूटने का जितना अधिक प्रयास करते हैं, वह उतनी अधिक प्रबल हो जाती है। जब इसे जाग्रत

अवस्था में त्याग देते हैं तो वह स्वप्न में आती है। यदि उसे स्वप्न में त्याग देते हैं तो वह आपके व्यवहार में प्रकट होती है, अन्यथा यह किसी रोग को उत्पन्न कर देगी। इस विशेष आदत को केवल चेतन स्तर पर ही नहीं, बल्कि उसकी आत्मिक जड़ों से नष्ट करना होगा। संस्कारों या कुण्ठाओं को भी दूर करना होगा। इसके लिए एक प्रकार की आत्मिक क्रिया, जैसे, प्राणायाम या अहिंसा की आवश्यकता होगी, जो उसे अवचेतन स्तरों से भी निर्मूल कर दे। तपस् शब्द को इसी अर्थ में समझना होगा।

इसी प्रकार, स्वाध्याय शब्द की भी व्याख्या की जानी चाहिए। व्युत्पति की दृष्टि से इसका अर्थ होता है स्वयं अपना विश्लेषण या अध्ययन, परन्तु इसका प्रयोग भगवद्गीता या बाइबल जैसे शास्त्रों के अध्ययन के लिए किया जाता है। इस सूत्र में स्वाध्याय का यह अर्थ नहीं है, यह अर्थ 32वें सूत्र में है। यहाँ इसका तात्पर्य विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में स्वयं अपना अवलोकन करने से है। जब आप दर्पण में अपनी नाक या दाँत देखते हैं तो इसे अपने चेहरे का अध्ययन कहते हैं; अर्थात् विस्तृत अध्ययन। उसी प्रकार स्वाध्याय का अर्थ होता है विस्तार से अपना अध्ययन, जिसमें अपने व्यक्तित्व की समग्र संरचना का अध्ययन निहित है, जिसमें शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और अध्यात्मिक सभी पक्ष सम्मिलित हैं। क्रिया योग के विभिन्न अभ्यास स्वयं अपना बोध कराते हैं। यह स्वयं अपनी चेतना को देखने की प्रक्रिया है। यदि आप एक अतीन्द्रिय गंध को ग्रहण करने का प्रयास कर रहे हैं तो आप स्वयं को गन्ध के रूप में देखें। यही स्वाध्याय है, जिसमें आप स्वयं अपनी चेतना को देख रहे हैं।

इस प्रकार इस सूत्र में स्वाध्याय शब्द का अर्थ शास्त्रों का अध्ययन या जप करना नहीं हैं। ऋषि पतंजलि इस शब्द का विभिन्न स्थलों पर विभिन्न अर्थों में प्रयोग करते हैं।

ईश्वर प्रणिधान के साथ भी ऐसा ही है। सामान्य रूप में इसका अर्थ होता है ईश्वर के प्रति समर्पण, पर यहाँ इसका अर्थ पूर्णतया अन्तर्तम सजगता में रखना है, जिसका तात्पर्य अपनी चेतना को पूर्णरूपेण अन्त: सजगता में रखना है या उसमें विलीन कर देना है। ईश्वर अन्त: सजगता हैं। बाह्य रूप से उनकी कोई सत्ता नहीं है, वे हमारे भीतर हैं। क्रिया योग में वह क्रिया होती है जिसमें मन को पूर्णतया अन्तरात्मा के जिम्मे रख दिया जाता है।

क्रिया योग का अर्थ है व्यावहारिक योग, व्यावहारिक तकनीकों वाला योग। इसमें आत्मशुद्धि, आत्मावलोकन और आत्मसजगता के विकास की

क्रियाएँ सम्मिलित हैं। क्रिया योग में ये तीनों क्रियाएँ निहित होती हैं। ऊष्मा उत्पन्न करने और उसे संरक्षित करने वाली विशेष क्रियाओं के रूप में इसकी व्याख्या की जा सकती है, जो आत्मसजगता और ऐसी क्रियाओं से सम्बन्धित है जिनके द्वारा मन को अपनी अन्त:सजगता के जिम्मे छोड़ दिया जाता है। क्रिया योग राजयोग की एक विधि है। चूँकि क्रिया योग के विषय में कुछ भी लिखने का प्रचलन नहीं होने के कारण ऋषि ने इसके लिए केवल एक सूत्र प्रस्तुत किया है।

## सूत्र 2 – अनुशासन क्यों?

*समाधिभावनार्थ: क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥2॥*

(क्रिया योग का अभ्यास) समाधि की चेतना के विकास और क्लेशों को क्षीण करने के प्रयोजन से किया जाता है।

क्रिया योग का अभ्यास समाधि का विकास करने और क्लेशों को क्षीण करने के प्रयोजन से किया जाता है। यहाँ समाधि की चर्चा करना आवश्यक नहीं है। यह क्रिया योग का एक प्रयोजन है। दूसरा प्रयोजन है क्लेश पर विजय प्राप्त करना।

क्लेशों के कारण धीरे-धीरे कम होते जाते हैं और इसी उद्‌देश्य से क्रिया योग का अभ्यास किया जाता है। क्रिया योग के ये दो प्रयोजन हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि क्रिया योग के अभ्यास से समाधि की एक भावनात्मक अवस्था, जिसे भावसमाधि कहते हैं, प्राप्त होती है। यह समाधि से इस प्रकार सर्वथा भिन्न है कि इसमें भक्त तीव्र भक्ति या कीर्तन भजन से आत्म विस्मृति जैसी भावनात्मक अवस्था में चला जाता है। यह विलय (ताप से पिघल कर एक हो जाना) की भी अवस्था है, परन्तु विलय भावनात्मक स्तर पर उदात्तीकरण है।

संभवत: क्रियायोग द्वारा शारीरिक, आत्मिक और भावनात्मक शरीरों में अत्यधिक रूपान्तर हो जाता है। उसके परिणामस्वरूप समाधि की सम्पूर्ण संरचना एक भिन्न स्तर पर रहती है। क्रिया योग द्वारा क्लेशों का नाश होता है, तत्पश्चात् समाधि की उच्चत्तर अवस्था सरल हो जाती है।

## सूत्र 3 – क्लेश के कारण

*अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥3॥*

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश हैं।

प्रथम अध्याय में चित्तवृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो वर्गों में विभाजित की गई थीं। क्लेश शब्द का वहाँ प्रयोग हुआ था और कहा गया था कि समाधि द्वारा क्लेश का निराकरण होता है। अब ऋषि क्लेशों का विस्तृत वर्णन कर रहे हैं। भौतिक प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य सोचता है कि स्वार्थपरक दुःख ही एकमात्र दुःख हैं। दार्शनिकों और मनोवैज्ञानिकों ने दुःख के कारणों का पता लगाने का प्रयास किया और पाया कि दुःख की जड़ें वर्तमान मन में नहीं हैं, वरन् सुदूर अतीत में हैं।

क्लेश एक प्रकार की यन्त्रणा है जो हमारे अस्तित्व में ही है। प्रत्येक व्यक्ति अवचेतन की पीड़ा का अनुभव करता है, परन्तु हमारी ऊपरी दैनिक व्यस्ततायें उनके प्रति सजग नहीं होने देतीं, अन्यथा हम उन क्लेशों को उनके जीवन्त रूप में देख पाते। यह समझना कठिन है कि बाह्य मनुष्य अन्दर के मनुष्य से भिन्न है। गहन मनोविज्ञान में कहा गया है कि मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं और अन्तरात्मा सर्वथा भिन्न रूप में व्यवहार करती है। हालाँकि मनुष्य बाह्य रूप से सत्य बोलता है, पर वास्तव में वह आन्तरिक रूप से झूठ बोल रहा होता है। बाह्य मनुष्य और अन्तः मनुष्य की गतियाँ विपरीत होती हैं। योग के विद्यार्थी को गहन मनोविज्ञान के विषय में जानना चाहिए, जो कहता है कि सच्चा सुख सतही नहीं होता है। आन्तरिक जीवन बाह्य जीवन से नितान्त भिन्न हो सकता है, अतः हम बाह्य जीवन के आधार पर निर्णय नहीं ले सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पन्न और शिक्षित मनुष्य भी अन्दर से अत्यन्त दुःखी हो सकते हैं, जबकि एक गरीब व्यक्ति अन्दर से सुखी हो सकता है। वह आनन्द में हो सकता है। महर्षि पतंजलि द्वारा दी गई क्लेशों की व्याख्या को गहन मनोविज्ञान की दृष्टि से देखना चाहिए।

सामान्यतः हम मृत्यु के भय के प्रति सजग नहीं होते है, पर यह हमारे अवचेतन में रहता है, जब हमारी शल्य-क्रिया होने वाली होती है तब हमें भय लगता है। यही मृत्यु का भय अभिनिवेश है। यह सहज क्रिया है,

जैसे – सामने से किसी कार के अचानक आ जाने पर व्यक्ति सहज रूप से उसके सामने से हट जाता है। वह मृत्यु से अवगत नहीं है, पर वह रास्ते से दूर हट जाता है। मृत्यु का भय जड़ में रहता है। यहाँ तक कि पशुओं को भी क्लेश होता है।

## सूत्र 4 – अविद्या मूल कारण है

*अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥4॥*

प्रसुप्त, विरल, बिखरी हुई और व्यापक अवस्थाएँ अविद्या (क्लेशों) के क्षेत्र में आती हैं।

क्लेशों की अभिव्यक्ति केवल पीड़ा नहीं है, यह व्यक्ति के व्यवहार में भी प्रकट होती हैं। महत्त्वाकांक्षा और सफलता के लिए प्रयास का अर्थ भी क्लेश है। इस संदर्भ में क्लेश व्यक्तिपरक नहीं सामूहिक है। क्लेश की विवशता के कारण ही कोई व्यक्ति या पूरा देश नये लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए क्रियाशील होता है। जीवन की अप्रिय अवस्थाओं का परिहार करना भी क्लेशों की बाध्यताओं में से एक है। पशु ये नहीं जानते हैं, परन्तु, वे भी स्वाभाविक और सहज रूप से व्यवहार करते हैं। यदि आप विभिन्न ऋतुओं की विभिन्न अवस्थाओं में आचरण में होने वाले परिवर्तन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं तो आपको पता चलेगा कि उस परिवर्तन का आधार भी क्लेश ही है। जब भीषण गर्मी पड़ती है तब आप वातानुकूलन और पंखा चाहते हैं, और दिन में अनेक बार स्नान करते हैं; सर्दियों में हम ठीक से स्नान भी नहीं करते और अपने कपड़े भी उतारना नहीं चाहते। यह पूर्णतया स्वाभाविक लगता है, परन्तु यदि आप अपने इन परिवर्तित व्यवहारों के मनोविज्ञान का विश्लेषण करें तो आपको पता चलेगा कि सर्दी के कारण ऐसा नहीं है; इसके पीछे क्लेश का दर्शन है। कड़ाके की ठंढ से हम पीड़ित नहीं होना चाहते हैं, हम कष्ट भोगना नहीं चाहते। यह सतह पर नहीं होता है, बल्कि यह पृष्ठभूमि में रहता है।

अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश का स्रोत है। जिस प्रकार बीज सम्पूर्ण वृक्ष का कारण है, उसी प्रकार अविद्या अन्य चार क्लेशों का कारण है। क्लेशों की अभिव्यक्ति की चार अवस्थायें होती हैं। वे प्रसुप्त हो सकती हैं, तब आपको उनका बोध नहीं हो पाता है; कभी वे विरल हो जाते हैं, तब उनका हल्का आभास होता है। बिखरी हुई अवस्था में वे दोलायमान हो जाते हैं; अन्यथा वे पूर्णत: अभिव्यक्त हो सकते हैं। क्लेशों की विभिन्न अवस्थायें विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न समयों पर दिखाई देती हैं। सामान्यत: हम उनसे कभी मुक्त नहीं होते। एक महान् योगी के अतिरिक्त, जिन्होंने उन पर विजय

प्राप्त कर लिया है, क्लेश अन्य व्यक्तियों में विद्यमान रहते हैं। जब तक वे विद्यमान हैं, आत्म-साक्षात्कार असंभव है।

अविद्या सबकी जननी है। सारा दृश्य एक क्रम में है – अविद्या से अस्मिता, अस्मिता से राग, राग से द्वेष और द्वेष से अभिनिवेश उत्पन्न होता है। इन सब का मूल कारण अविद्या है, अत: इसे ठीक से समझ लेना है। यदि व्यक्ति अविद्या को नियंत्रित करने में सक्षम हो जाये तो व्यक्ति अन्य क्लेशों को सरलता से नियंत्रित कर सकता है।

अविद्या के उन्मूलन की पूरी प्रक्रिया ऊपरी सिरे से प्रारम्भ की जानी चाहिए। यह निवर्तन, अर्थात् ऊपर से नीचे जाने की प्रक्रिया है। क्रमविकास की प्रक्रिया में अभिनिवेश से द्वेष, उसके पश्चात् अस्मिता और तब अविद्या और अन्त में विद्या या आत्म-साक्षात्कार है।

## सूत्र 5 (i) – अविद्या – अज्ञान

*अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥5॥*

शाश्वत, शुद्ध, शुभ और आत्मा को क्रमश: नश्वर, अशुद्ध, अशुभ और परासत्ता समझने की भूल करना ही अविद्या है।

यह सूत्र अविद्या की सर्वाधिक शास्त्रीय परिभाषा देता है। साधारणतया अविद्या का अर्थ अज्ञान होता है, पर इस सूत्र में कुछ भिन्न है। यह उपर्युक्त बातों को सर्वथा भिन्न वस्तु समझने की भूल है। यह आध्यात्मिक ज्ञान में भ्रान्ति है। जब रस्सी को साँप समझने की भूल होती है, उस समय आपकी चेतना के रूप में अविद्या रहती है। अविद्या तंत्रिका रोग नहीं, एक प्रकार की मनोविकृति है। इससे द्विविधता उत्पन्न होती है, जिसके द्वारा नाम और रूप गढ़ लिया जाता है। भगवद्गीता में यह कहा जाता है कि अविद्या के प्रभाव से धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझने की भूल होती है। वेदान्त में कहा जाता है कि शरीर, इन्द्रियों और बुद्धि की सीमायें होती हैं; उनसे परे एक चेतना होती है। चेतना शुद्ध है, जबकि आधार अशुद्ध है। चेतना शाश्वत, आनन्द है, जबकि आधार नश्वर और दु:खी है। इसलिए अविद्या को अन्तरात्मा के प्रति उदासीन रहना चाहिए, क्योंकि अविद्या का सम्बन्ध शरीर के साथ होता है।

अविद्या दिव्य माया है, एक प्रकार का आवरण है, नशे की एक खुराक है, आत्मिक दर्शन का एक दोष है। हमें अविद्या के कारण लोगों के साथ अपने सम्बन्धों में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। भूल हमारे मस्तिष्क और विचारों को भ्रान्त कर देती है।

अविद्या एक भ्रान्त धारणा है, जो जीवात्मा के साथ प्रारम्भ से ही चली आ रही है। इसकी समाप्ति की पहचान है आत्म-साक्षात्कार का आरम्भ। यह तभी संभव है जब शरीर और चेतना के बीच का ज्ञान स्पष्ट हो, पर यह अत्यन्त कठिन है। ध्यान में भी हम अपनी चेतना और बुद्धि को अलग नहीं कर सकते। बौद्धिक रूप से भी यह असंभव है, परन्तु वस्तुत: शरीर आत्मा से भिन्न है। केवल गहन ध्यान की अवस्था में हम इन दोनों को अलग-अलग देख सकते हैं। अभी हममें पदार्थ और ऊर्जा एक प्रतीत होती हैं। बौद्धिक रूप से भले ही हम इन्हें दो माने, पर अविद्या के कारण हम इनका दो के रूप में अनुभव नहीं

कर पाते हैं। हम पदार्थों के सार को नहीं समझते, क्योंकि हम उन्हें सतही तौर पर ही जानते हैं, जैसे नारियल को। केवल विवेक के द्वारा हम उनके सार को समझ सकते हैं।

भारत की पौराणिक कथाओं में हंस नाम का एक पक्षी है, जो नीर-क्षीर विवेक कर सकता है। यह विवेक की प्रक्रिया है, जो आपको अविद्या से विद्या की ओर ले जाती है। गाँव की महिलायें भूसे को अलग कर अन्न को रख लेती हैं, परन्तु उसके पूर्व उन्हें इन दोनों को, अर्थात् अन्न को भूसे से अलग करना होता है। यही विवेक है। अविद्या नकारात्मक पक्ष है, इसमें सकारात्मक अवस्था का अभाव है। जिस प्रकार हमें अंधकार को दूर करने के लिए उससे लड़ना नहीं पड़ता है – अंधकार प्रकाश से ही दूर हो सकता है। उसी प्रकार अविद्या भी विवेक, अर्थात् आत्म-साक्षात्कार द्वारा दूर होती है। आत्म-साक्षात्कार दो प्रकार का होता है, अस्थायी और स्थायी। विवेक प्रथम प्रकार का आत्म-साक्षात्कार है जो शरीर और आत्मा में अन्तर कर सकता है। अविद्या को वेदान्त में माया कहते हैं। ब्रह्माण्डीय संदर्भ में यह माया है, और व्यक्ति के संदर्भ में अविद्या है। अविद्या की भ्रान्त धारणा सकारात्मक आधार पर ही उत्पन्न हो सकती है, और वह आधार है ब्रह्म।

## सूत्र 6 (ii) – अस्मिता – अहंभाव

*दृगदर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥6॥*

अस्मिता मानो पुरुष का बुद्धि के साथ तादात्म्य है।

'मैं हूँ' की सजगता के साथ अस्तित्व, शरीर, कर्म और मन मिश्रित है। यह ऐसा है, मानो एक राज कुमार जो भिक्षुक के वेश में है, उसका उसी भूमिका के साथ तादात्म्य हो गया हो। यही अस्मिता है। जब मानव में अन्तर्निहित परमसत्य का प्रतिनिधित्व कर रही अन्त: सजगता शरीर, बुद्धि और इन्द्रियों के माध्यम से अपना प्रभाव डालती है तो वह अस्मिता होती है। इसकी विभिन्न अवस्थायें हैं। अल्प विकसित बुद्धि वाले एक आदिम मानव को लें, तो अस्मिता का सम्बन्ध शरीर से जुड़ा रहता है। बौद्धिक रूप से विकसित मनुष्य मन के उच्चतर कार्यों से तादात्म्य स्थापित करता है।

अत: अस्मिता वह चेतना है, जो वाहन के साथ पुरुष से तादात्म्य स्थापित करा देती है। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं कि बस आ रही है, तो हमारा तात्पर्य होता है कि बस चालक द्वारा चला कर लायी जा रही है। बुद्धि और इन्द्रियाँ ही वाहन हैं। आत्मा या पुरुष पहचानने का काम करता है। देखने, सोचने, और सुनने की शक्ति पुरुष की है, परन्तु वह शक्ति बुद्धि और इन्द्रियों को संप्रेषित की जा रही है। सम्मिश्रण की अवधारणा अस्मिता कहलाती है। यह पुरुष की शक्ति है, जो सोचने, देखने आदि का काम करती है, पर वह वाहन की ओर स्थानान्तरित कर दी जा रही है और ऐसा प्रतीत होता है कि आँखें देख रही हैं, आदि।

जब पुरुष सिद्ध हो जाता है, तब पुरुष का शरीर या बुद्धि के साथ तादात्म्य नहीं रहता, पर हमें इस तथ्य की जानकारी नहीं होती, और सजगता का अभाव ही अस्मिता कहलाता है।

केनोपनिषद् में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यह आत्मा की ही शक्ति है जिसके द्वारा कान सुनते हैं, आँखें देखती हैं, प्राण गतिशील होते हैं और मन सोचता है। मन आत्मा को नहीं जानता है, पर वह सभी चीजों को आत्मा के ही माध्यम से जानता है। केनोपनिषद् के ये मंत्र संज्ञान (दृग्शक्ति) और उसके वाहन (दर्शनशक्ति) में अन्तर को स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं।

देखने की शक्ति दर्शनशास्त्र के अध्ययन से अथवा मनीषियों को सुनने आदि से प्राप्त नहीं की जा सकती है। दार्शनिक और चिन्तक भी वास्तविक अनुभव में पुरुष का शरीर और बुद्धि से तादात्म्य स्थापित करते हैं। अत: बुद्धि से अस्मिता को समाप्त करना संभव नहीं है। यह केवल ध्यान द्वारा ही हो सकता है। ध्यान में ऐसा होता है कि आप के अन्दर से कुछ बाहर आता है और आप उसे देखते हैं, रमण महर्षि को बचपन में ही इस प्रकार का अनुभव हुआ था। उन्होंने ध्यान में अपने मृत शरीर को देखा और यह भी देखा कि वे अपने मृत शरीर का अवलोकन कर रहे हैं। इस प्रकार तीन व्यक्ति थे – मृत शरीर, मृत शरीर को देखने वाला और देखने वाले का द्रष्टा। अत: अस्मिता इन दो या तीन तत्त्वों का मिश्रण है। हममें से अधिकतर लोग अस्मिता में हैं, इसलिए इस सूत्र में कहा गया है कि अस्मिता का यह विशेष पक्ष 'मैं हूँ' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह अस्मि (मैं हूँ) आत्मा का मन से तादात्म्य है।

इन्द्र और विरोचन की एक कथा है। वे दोनों क्रमश: देवताओं और असुरों के राजा थे। वे दोनों प्रजापति के पास ज्ञान प्राप्ति के लिए गये। उन्होंने उन दोनों को दो महावाक्य कहे – अहं ब्रह्मास्मि और तत्त्वमसि। विरोचन ने अपने शरीर को अहम् मानने की भूल की और अन्ततोगत्वा अस्मिता के कारण विनाश को प्राप्त हुआ। इन्द्र ने सही अर्थ पर ध्यान किया और सुखी हुआ। इस प्रकार यदि आप अविद्या को पार कर ध्यान में ऊँचे उठते हैं तो आप पुरुष के सच्चे स्वभाव को जान पायेंगे। तब अस्मिता के पार उतर पायेंगे।

यह दो प्रकार से संभव है– पहला शक्तिशाली है, पर वह ध्यान की कठिन विधि है; और दूसरे, ज्ञान योगियों की विश्लेषणात्मक विधि, जिसका उपयोग इन्द्र ने किया, पर उस विधि में हृदय और बुद्धि की पवित्रता आवश्यक है। इस प्रकार अस्मिता, जो अविद्या से उत्पन्न होती है, उस पर विजय की प्राप्ति हो सकती है।

**सूत्र 7 (iii) – राग**

*सुखानुशयी रागः ॥7॥*

सुख आश्रित रुचि राग है।

**सूत्र 8 (iv) – द्वेष**

*दुःखानुशयी द्वेषः ॥8॥*

दुःख की सहगामिनी घृणा द्वेष है।

जब भी कोई सुखद वस्तु होती है, और बार-बार उसकी सुखद अनुभूति की इच्छा से मन उसके पीछे भागता है तब यह राग कहलाता है। इसे दूर करना अधिक कठिन नहीं है; एक झटके के साथ अपने व्यक्तित्व से उसे निकाला जा सकता है, या तो प्रकृति के द्वारा या स्वयं अपनी आत्मा द्वारा उत्पन्न करके। द्वेष राग का विपरीत है। ये दोनों असंख्य लोगों को या तो सकारात्मक या नकारात्मक बन्धन में बाँध लेते हैं। वे हमारे मन की निश्चित स्थितियाँ होती हैं, और उनका अनुकूलन सुख या घृणा के आधार पर होता है।

राग और द्वेष हमारी चेतना के निम्न स्तर पर बाँधते हैं। जब तक वे विद्यमान हैं, मन आध्यात्मिक ऊँचाइयों पर नहीं जा सकता। यह स्मरण रखना चाहिए कि वे एक सिक्के के दो पहलू हैं। ये आन्तरिक राग की द्विपक्षीय अभिव्यक्तियाँ हैं। एक वस्तु की रुचि दूसरी वस्तु की अरुचि से सम्बन्धित होती है, इस प्रकार ये एक-दूसरे के विपरीत नहीं हैं, वरन् मन के दो पक्ष हैं। पहले द्वेष को हटाना होगा, तत्पश्चात राग भी चला जायेगा। ऐसा पाया गया है कि आध्यात्मिक जिज्ञासुओं में भी राग और द्वेष होता है। द्वेष का बन्धन अधिक प्रबल होता है। यह बड़ी बाधा है। जब द्वेष समाप्त हो जाता है तब ध्यान गहरा होने लगता हैं, और फिर राग को छोड़ा जा सकता है। कहा जाता है कि मनुष्य राग की अपेक्षा द्वेष के द्वारा अधिक प्रभावित होता है। अतः व्यक्ति को घृणा से मुक्त होना चाहिए।

## सूत्र 9 (v) – अभिनिवेश – जिजीविषा (जीवन से आसक्ति)

*स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥9॥*

अपनी ही शक्ति से पोषित होने वाली जीवन के प्रति आसक्ति अभिनिवेश है, जो विद्वानों को भी अभिभूत कर देती है।

विद्वान् भी मृत्यु से भयभीत रहते हैं। उनकी जिजीविषा भी उतनी ही प्रबल होती है। यह दार्शनिकों, चिन्तकों और सामान्य लोगों के लिए भी सत्य है। यह सभी व्यक्तियों में देखी जा सकती है, अतः इसे स्वरसवाही कहते हैं; यह एक नैसर्गिक शक्ति है, जो सब में जन्मजात होती है। यह प्रत्येक शरीरधारी से सम्बद्ध है। विदुषः का अर्थ है विद्वान् या ज्ञानी, और वे भी इससे मुक्त नहीं है। बाल्यावस्था में यह प्रसुप्त रहता है। जब हमारी उम्र बढ़ती है और लोगों को मरते हुए देखते हैं, तो यह प्रत्यावर्तन की स्थिति में आ जाता है। यह स्थिति आती-जाती रहती है। ऐसा पैंतीस से पैंतालीस साल के बीच होता है और बाद के वर्षों में यह अधिक प्रबल हो जाता है। मृत्यु का भय बढ़ता जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सबसे अधिक प्रबल क्लेश है।

निवर्तन की प्रक्रिया विकास की प्रक्रिया के विपरीत है। यह अभिनिवेश से प्रारम्भ होती है, तब द्वेष, फिर राग, उसके बाद अस्मिता, तब अविद्या और अन्ततः विद्या आती है। यह निवर्तन, अर्थात् पीछे जाने का मार्ग है। क्लेशों पर विजय प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अभिनिवेश से प्रारम्भ कर अविद्या तक जाना चाहिए।

अभिनिवेश एक शाश्वत सत्य है। आप इसे सामान्य प्राणियों, कीट, बन्दर या पक्षी में, गरीब और धनी, साक्षर और निरक्षर व्यक्ति, सभी में पायेंगे। आप इस क्लेश को प्रसुप्त, या सक्रिय अवस्था में भी देख सकते हैं। यह संन्यासियों में प्रसुप्त रहता है। जिन लोगों ने विवेक प्राप्त कर लिया है उनमें क्लेश समाप्ति के कगार पर रहता है, पर अधिकतर लोगों में इसे अत्यन्त सक्रिय रूप में पाया जाता है, बल्कि इतना अधिक सक्रिय कि यदि कोई किसी रोग से ग्रस्त हो जाता है तो सभी लोग आतंकित हो जाते है। यह आतंक भी अभिनिवेश के कारण ही होता है।

भारतीय शास्त्रों में कहा गया है कि शरीर से आसक्ति के कारण अभिनिवेश होता है। यदि इस आसक्ति को सक्रिय अवस्था से प्रच्छन्न अवस्था तक कम कर दिया जाये तब मृत्यु के भय को भी न्यूनतम अवस्था तक कम किया जा सकेगा।

## सूत्र 10 – क्लेशों को कम किया जा सकता है

*ते प्रतिप्रसवहेया: सूक्ष्मा: ॥10॥*

उन क्लेशों को प्रतिप्रसव, अर्थात् निवर्तन के द्वारा तब कम किया जा सकता है जब वे सूक्ष्म हों।

## सूत्र 11 – ध्यान के द्वारा (क्लेश कम किये जा सकते हैं)

*ध्यानहेयास्तद्वृत्तय: ॥11॥*

क्लेश की वृत्तियों को ध्यान के द्वारा कम किया जा सकता है।

ग्यारहवाँ सूत्र दसवें के पहले आना चाहिए था, क्लेशों की चार अवस्थायें होती हैं, यथा– प्रसुप्त, क्षीण, एकान्तर, और सक्रिय। यह पर्वत से निकली जलधारा के समान होती है, जो क्रमश: बड़ी और बड़ी होती जाती है। क्लेश की शक्ति भी नदी के समान बढ़ती है। अत: क्लेश प्रारम्भ में प्रसुप्त रहते हैं परन्तु धीरे-धीरे अधिकाधिक सक्रिय होते जाते हैं।

केवल अपने मन के अवलोकन द्वारा व्यक्ति इन क्लेशों को समझ सकता है। वे केवल अवचेतन में ही नहीं, बल्कि चेतन मन में भी रहते हैं। उनको सक्रिय अवस्था से एकान्तर अवस्था में लाना चाहिए, वहाँ से क्षीण में और अन्ततोगत्वा उन्हें प्रसुप्तावस्था में लाया जाना चाहिए। पहले क्षीण रूप को कम कर निष्क्रिय अवस्था में लाना होता है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अत: इसे ही पहले करना चाहिए।

हम मन की चेतन और अवचेतन अवस्था में विभिन्न क्लेशों की अवस्थाओं को नहीं देख सकते। सभी को क्षीण अवस्था से प्रसुप्तावस्था में लाया जा सकता है। इस प्रकार क्लेशों की विभिन्न अवस्थाओं पर ध्यान करने से अन्ततोगत्वा उनका नाश हो सकता है। इसमें विकास और प्रतिप्रसव, दोनों ही प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं। अविद्या से अभिनिवेश विकास की प्रक्रिया है। जबकि अभिनिवेश से अविद्या तक प्रतिप्रसव की प्रक्रिया है। दोनों ही प्रक्रियाओं में अनेक अवस्थायें है, यथा – सूक्ष्म, सक्रिय, इत्यादि।

क्लेशों को हम तब तक नहीं देख सकते जब तक हम अति सतर्क न हों। उदाहरण के लिए, आप कह सकते हैं कि आप में मृत्यु का भय नहीं है, पर वह सत्य नहीं है, क्योंकि यह कहा जाता है कि धर्ममेघ समाधि प्राप्त करने के बाद बीज भस्म होते हैं, उसके पहले नहीं। अत: कैवल्य के पहले तक इसकी अधिक संभावना रहती है कि क्लेशों के बीज पुन: सक्रिय हो जायें। एक आध्यात्मिक साधक को यह अनुभव होगा कि वृत्तियाँ अनेक वर्षों तक उसे परेशान नहीं करतीं और लम्बे समय तक वह अत्यन्त आराम से रहता है। कभी-कभी वह सोचता है कि उसने संस्कारों और क्लेशों को समाप्त कर दिया है, पर अचानक वह पाता है कि वह अप्रत्याशित रूप से विफल हो गया है। यह अप्रत्याशित विफलता का कारण है मन में क्लेश के बीजों की उपस्थिति।

जैसा आप जानते हैं, सभी चीजों की तीन स्थितियाँ होती हैं – जो उत्पादन में सक्षम हैं, पर उत्पादन नहीं कर रहा है, उसे प्रसुप्त अवस्था कहते हैं; जब वह उत्पादन कर रहा है तब वह सक्रिय अवस्था है; जब बीज उत्पादन में असमर्थ हो जाय तो वह भस्म या समाप्त हो चुका है। क्लेशों के बीज को भस्म करने के लिए व्यक्ति को पूरी प्रतिप्रसव प्रक्रिया को समझ लेना चाहिए, परन्तु केवल बौद्धिक रूप से नहीं, क्योंकि यहाँ अभिनिवेश को द्वेष में विघटित कर लेना है। इन दोनों को राग में विघटित कर लेना है, इन तीनों को अस्मिता में, और अन्ततोगत्वा चारों को अविद्या में विघटित कर लेना है।

अत: साधक को सम्पूर्ण वृक्ष को शीर्ष से जड़ तक काट देना है, पर इस पेड़ की एक विचित्रता है कि इसकी जड़ ऊपर है और इसका शीर्ष नीचे है। यह प्रक्रिया बुद्धि की नहीं है। इसके लिए समस्त यम, नियम से लेकर क्रिया तक, योग विद्या का उपयोग करना होगा। क्लेशों की अभिव्यक्ति को कम करने हेतु अवलोकन सहित ध्यान का उपयोग करना होगा। आपको ध्यान की प्रक्रिया से क्लेशों को देखने में समर्थ होना चाहिए, जिसमें आप न केवल अपने इष्ट पर ध्यान करते हैं, वरन् अपने अन्दर चल रहे मानसिक दृश्य प्रपंचों के विभिन्न पक्षों को भी देखने की योग्यता रखते हैं। अन्तर्मौन के अभ्यास में आप इन सक्रिय वृत्तियों को आते हुए देखेंगे; आपको उनका दमन करना है। जब इस प्रकार आप अवलोकन का अभ्यास करेंगे, तब आपको सभी विचारों, अच्छे और बुरे, को देखना चाहिए। जब क्लेशों को प्रसुप्तावस्था तक ला दिया जाता है तब साधक को विवेक की प्रक्रिया,

राजयोग की बुद्धि संगत विधि या क्रिया योग की विधियों को प्रारम्भ करना चाहिए। यदि आप क्लेशों की सक्रिय अवस्था में विवेक का उपयोग करेंगे तब विवेक असफल हो सकता है, क्योंकि विवेक को विशेष मानसिक तैयारी की आवश्यकता होती है।

ध्यान एकाग्रता नहीं है, वरन् यह अन्तर्मौन या क्लेशों की सक्रिय वृत्तियों का अवलोकन है। ध्यानपूर्वक अवलोकन से सक्रिय वृत्तियाँ क्षीण अवस्था में चली जाती हैं, और फिर सूक्ष्म अवस्था में। अत: आप पायेंगे कि आध्यात्मिक साधक जो ध्यान का अभ्यास करते हैं, अपेक्षाकृत शान्त हो जाते हैं।

अत: उत्पाती और अशान्त मन को ध्यान और क्रिया योग के अभ्यास द्वारा शान्त बनाया जा सकता है। ऐसा इसलिए नहीं होता कि व्यक्ति वासनाओं से मुक्त हो गया है, वरन् क्लेश शान्त हो गये हैं। अत: साधक शान्त हो जाता है। ध्यान के द्वारा क्लेशजनित तनाव का शमन हो जाता है।

जब ऐसा हो जाये तब विवेक को लाना चाहिए। बुद्धियुक्त तरीके से क्लेशों के कारण का पता किया जा सकता है और उन्हें दूर किया जा सकता है। व्यक्ति को यह पता चलता है कि वह अपनी माँ से या पुत्र से अनुरक्त है, संभवत: वह किसी क्षेत्र में महान् सफलता प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार कारण का पता चल जाने पर व्यक्ति को उस पर विचार कर उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिए, पर यह अत्यन्त कठिन है। क्रिया योग के अभ्यास से यहाँ लाभ हो सकता है।

यदि कारण का पता लगाने की प्रक्रिया प्रारम्भ में ही ज्ञानयोग द्वारा शुरू कर दी जाये तो यह एक अच्छी बौद्धिक प्रक्रिया होगी। आपको पूर्णज्ञान हो जायेगा, पर विरले ही ऐसा होता है। अत: दसवें सूत्र में एक उपाय सुझाया गया है। गम्भीर साधक को कुछ दिनों के लिए एकान्तवास में चले जाना चाहिए ताकि वह क्लेशों के बीज को उनके अभिव्यक्त रूप में देख सके। इस प्रकार वह क्लेश को पराजित या दूर कर सकता है। एकान्त में जाने और पुन: समाज में लौट आने से क्लेश दूर हो सकते हैं। और तब व्यक्ति को विवेक का उपयोग करना चाहिए, क्योंकि बीज पूर्णतया जल चुके हैं।

अपने सूक्ष्म रूप में क्लेश पूर्णतया आत्मिक होते हैं। वे हमारे जीवन में सन्निहित रहते हैं। उनके निष्कासन की प्रक्रिया द्विपक्षीय – ध्यान और विवेक, की होती है। पहली विधि राजयोग की और दूसरी ज्ञानयोग की है। साथ-साथ कर्मयोग और भक्तियोग की भी साधना होनी चाहिए, क्योंकि

कभी-कभी दबाव का विस्फोट इतना शक्तिशाली होता है कि व्यक्ति भौंचक रह जाता है। आप दोबारा एकान्त में नहीं जा सकेंगे, अत: कर्मयोग और भक्तियोग अत्यधिक उपयोगी होंगे। जो आत्म-साक्षात्कार के सागर में छलांग लगाना चाहते हैं उनके लिए कर्मयोग और भक्तियोग जीवनरक्षक बेल्ट के समान होंगे। सूक्ष्म क्लेशों को देखना और यह पता करना कि वह आपमें है, अत्यन्त कठिन होता है, क्योंकि वे आपकी अंतर्प्रकृति में हैं। यह बाद के सूत्र में बताया जायेगा कि इन अवरोधों या बाधाओं को निकालना अत्यन्त आवश्यक है।

## सूत्र 12 – कर्माशय और पुनर्जन्म

*क्लेशमूल: कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय: ॥12॥*

कर्माशय जो क्लेशों का मूल कारण है, उसका अनुभव वर्त्तमान और भावी जन्मों में होता है।

इस सूत्र में कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों की चर्चा है। यह कहा जाता है कि आप क्लेशों को अतीत, वर्त्तमान और भावी जन्मों में देख सकते हैं। इसका अर्थ हुआ कि व्यक्ति के कर्म क्लेशों के कारण होते हैं और कर्मों की समाप्ति के साथ संभावना समाप्त हो जाती है, परन्तु जब तक क्लेश हैं, वे वर्त्तमान और भावी जन्मों में अनुभव किये जाते रहेंगे। ऐसा इसलिए होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूर्वकर्मों के प्रभाव को भोगना ही होता है। यदि कर्मों को विनष्ट करना है तो व्यक्ति के लिए उनके स्रोत यथा – पंचक्लेशों, तक पीछे की ओर जाना आवश्यक हो जाता है। यह एक द्विपक्षीय प्रक्रिया है, कर्मों से क्लेश उत्पन्न होता है, और क्लेश नये कर्मों को जन्म देते हैं। नये कर्मों से व्यक्ति नये संस्कार संचित करता है और वे ही संस्कार पुन: क्लेशों के कारणों को शक्तिशाली बनाते हैं।

## सूत्र 13 – कर्माशय के फल

*सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा: ॥13॥*

जब तक कर्माशय का मूल है, वह परिपक्व होता है और जन्म तथा जाति, आयु और अनुभव देता है।

जब तक जड़ है, वृक्ष फलता-फूलता रहना चाहिए और यदि वृक्ष को बाधित नहीं किया जाता है तो उसे परिपक्व भी होना चाहिए। यह जीवन वृक्ष है और क्लेश इसकी जड़ें हैं। यदि जड़ों को काट दिया जाता है, अर्थात् पंच क्लेशों को जीत लिया जाता है, तो स्वभावत: जीवन वृक्ष निर्जीव हो जायेगा। इसमें फल नहीं लगेंगे, और जीवन जन्म, आयु और विभिन्न भोगों के अतिरिक्त कुछ अन्य है भी नहीं। भोग तीन प्रकार के होते हैं – सुखद, दु:ख और मिश्रित। आयु भी लम्बी या छोटी हो सकती है। किसी विशेष देश, समाज, या परिवार में जन्म जाति कहलाती है। ये तीनों कर्माशय के फल हैं।

जिस प्रकार प्रत्येक फल वृक्ष से सम्बन्धित है और वृक्ष अपने मूल से सम्बन्धित है, उसी प्रकार जन्म आदि भी जीवन से जुड़े हैं जो पूर्व कर्मों के परिणाम हैं। उसी प्रकार कर्माशय क्लेशों के मूल पर आधारित है। यदि फलों का लगना बन्द करना है तो वृक्ष को नष्ट किया जाना चाहिए और इसके लिये उसके मूल को, अर्थात् क्लेशों को काट देना होगा। जो पुनर्जन्म का सिद्धान्त जानते हैं, उनका कहना है कि हम जो भी कर्म करते हैं, वे अपना प्रभाव छोड़ जाते हैं। इन्हीं संस्कारों का संग्रह कर्माशय कहलाता है।

शरीरक्रियाविज्ञान के छात्र मस्तिष्क के विभिन्न कार्यों को अच्छी तरह जानते हैं और वे कहते हैं कि हम अपने अतीत को स्मरण करने में सक्षम हैं, क्योंकि अतीत के संस्कार हमारे मस्तिष्क में संचित हैं। वे संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं और वे ही स्मृति को जन्म देते हैं। इस प्रकार शरीर द्वारा किया गया कोई भी कर्म अभिलिखित हो जाता है। कर्माशय को पूर्व कर्मों की सूक्ष्म ब्रह्माण्डीय फिल्म कहा जा सकता है जो कभी पर्दे पर आता है और कभी भूमिगत रहता है।

कर्माशय के तीन विभाग हैं। पहला संचित संस्कार है। दूसरा वह भंडार गृह है जहाँ से नये कर्मों की नियमित आपूर्त्ति होती रहती है। यह है क्रियमाण कर्म। कालक्रम में ये पहले विभाग में स्थानान्तरित होते जाते हैं। तीसरे विभाग

में ऐसे संस्कार आते हैं जो जीवन में अभिव्यक्त होते हैं और संचित कर्मों से निकलते जाते हैं। ये सभी प्रारब्ध या भाग्य के रूप में जाने जाते हैं। इनके फल वर्तमान एवं अगले जन्मों में भोगे जाते हैं। जो भी कर्म हम अभी करते हैं वे क्रियमाण कर्म कहे जाते है। संस्कार कर्माशय के भंडार में संचित होते जाते हैं और वहाँ से नये कर्म उत्पन्न होते हैं।

कर्माशय के ये तीनों विभाग कारण शरीर के अंग हैं। ये चेतना के सूक्ष्म वाहनों में से एक हैं, जो मनोमय कोश के परे है। यह कारण शरीर वर्तमान और आगामी जन्मों में अभिव्यक्ति पाते हैं। उदाहरण के लिए, किसान बीज-भंडार में जाता है और अपनी जरूरत के अनुसार वहाँ से एक बोरा बीज निकाल लाता है। यह कर्माशय का पहला विभाग है। फिर वह खेत में जाता है और बीजों को बो देता है। बीज बोना क्रियमाण कर्म है। कुछ मास बाद वह फसल काटता है, जो विपाक कहा जाता है। फसल काटने के बाद वह फसल के एक अंश को बीज-भंडार में रख देता है, ऐसा ही कर्म के साथ होता है। कर्माशय कर्मों का शयनागार है। यहाँ कर्म अपना प्रभाव प्रकट करने की प्रतीक्षा में रहते है, पर वे रहते हैं प्रसुप्तावस्था में।

इसी सिद्धान्त से हम उपयुक्त ढंग से पुनर्जन्म की प्रक्रिया को समझ सकते हैं। यह विश्वास कर लेना तर्कहीन होगा कि शरीर के नाश के साथ कर्म के संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं। कर्म के बिना कारण या कारण के बिना कर्म की धारणा असंभव है, अनर्गल है। देहान्तर या पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त के अनुसार, शरीर का पुनर्जन्म नहीं होता, मन का भी पुनर्जन्म नहीं होता, केवल हमारे पूर्व कर्मों के शयनागार का ही इस शरीर से दूसरे शरीर में स्थानान्तरण होता है, और इसे वेदान्त में कारण शरीर कहते हैं। यह कोई स्थूल वस्तु नहीं है। हमें यह मान लेना चाहिए कि शरीर को जला देने या दफना देने के बाद भी कुछ है, जो रह जाता है, और यह कारण शरीर के अतिरिक्त कुछ और नहीं है। यह क्लेशों में बद्धमूल है। आप किसी पेड़ को काट कर समाप्त नहीं कर सकते, इसकी जड़ों को भी निश्चित रूप से नष्ट करना होगा। अत: शरीर को नहीं, वरन् कारण शरीर को और विशेष रूप से उसकी जड़ों अर्थात् क्लेशों को नष्ट करना चाहिए।

जब तक क्लेश हैं, कर्माशय रहेगा, जो निश्चित रूप से प्रभाव उत्पन्न करेगा। यह जानने के लिए कि पुनर्जन्म होता है, इसकी केवल दो विधियाँ हैं। एक है योगाभ्यासों के विषय में जानना, विशेष रूप से अतीन्द्रिय शक्तियों के विषय में। दूसरी विधि है तार्किक ज्ञानमीमांसा और कार्य-कारण के प्राकृतिक नियमों का निष्पक्ष विश्लेषण।

## सूत्र 14 – पूर्व गुण-दोषों पर फल निर्भर करता है।

*ते ह्लादपरितापफला: पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥14॥*

वे (जन्म आदि) पुण्य-अपुण्य के फलों के आधार पर सुखद या दु:खद होते हैं।

हम दो प्रकार के फलों का भोग करते हैं, जो पुण्य या अपुण्य से सम्बन्धित पूर्व कर्मों पर निर्भर करते हैं। पुण्य कर्मों से आनन्द और सुख उत्पन्न होता है और अपुण्य कर्मों से दु:ख। यह जन्म, आयु या विभिन्न भोगों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। सुख और दु:ख केवल आर्थिक या सामाजिक स्थिति पर निर्भर नहीं करते। सुख और दु:ख पूर्व में किये गये कर्मों पर निर्भर करते हैं। यदि वह सत्कर्म था तो वह सुख उत्पन्न करेगा, अन्यथा वह दु:ख का कारण होगा।

यह निर्णय करना आवश्यक नहीं है कि पुण्य क्या है और अपुण्य क्या है। रूढ़िवादी धर्म मानता है कि इस अवधारणा को समझ लिया गया है, वह सद्‌गुण और दुर्गुण के सही या गलत पक्षों की चर्चा नहीं करता। हमें उन्हें वैज्ञानिक ढंग से, सार्वभौमिक नैतिक नियमों के अनुसार समझना चाहिए। यह नियम व्यवहार और उपयोग में सार्वभौमिक है। कर्मों के परिणाम गणितीय विधि से प्राप्त होते हैं, और इस प्रकार पूर्व कर्मों से हम जन्म, आयु और भोगों के रूप में विभिन्न फल प्राप्त करते हैं, जो प्रिय या अप्रिय हो सकते हैं।

जिस प्रकार फोटो की गुणवत्ता उस कागज पर निर्भर रहती है जिस पर वह छपा है, वह इस पर भी निर्भर रहती है कि उसे किस प्रकार का प्रकाश दिया गया है इत्यादि, उसी प्रकार हमारे अनुभव अच्छे या बुरे पूर्व कर्मों पर निर्भर रहते हैं।

## सूत्र 15 – सुख और दुःख, दोनों ही पीड़ादायक हैं

*परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥15॥*

परिवर्तन, तीव्र दुःख, संस्कारों के कारण और परस्पर विरोधी गुणों और वृत्तियों के कारण विवेकी व्यक्ति के लिए सब कुछ पीड़ादायक है।

जिसमें विवेक उत्पन्न हो गया है, जिसने जीवन का पूर्णतः विश्लेषण कर लिया है, जो सत्य और असत्य को, अंधकार और प्रकाश के पूर्ण अन्तर को जानने में सक्षम है, उसके लिए जीवन में सब कुछ, यहाँ तक कि वह तथाकथित सुख जिसे सफलता, पद, शक्ति, आदि कहते हैं, पीड़ादायक है। इसके पीछे यही तर्क है कि प्रत्येक कर्म तीन चीजों के साथ चलता है – परिवर्तन, दुःख और संस्कार। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति ने विशाल सम्पत्ति अर्जित कर ली है। वह सुखी दिखलाई पड़ सकता है, परन्तु उसके मन की गहराइयों में तीव्र चिन्ता होगी। अतः हम लोगों के अनुसार जो भी आनन्ददायक है, उसका अन्तिम विश्लेषण पीड़ादायक ही होता है। अधस्तल में दुःख ही है, अतीन्द्रिय दुःख।

पहला दुःख है परिणाम (परिवर्तन)। उदाहरण के लिए दूध दही बन जाता है, जीवन मृत्यु में परिणत हो जाता है, आदि। दूसरी है चिन्ता (ताप)। एक उपलब्धि, सफलता, प्रेम आदि भी कभी-न-कभी चिन्ता उत्पन्न करते हैं। अनुचित व्यवहार, अवैध व्यापार, आदि चिन्ता के कारण हैं। तीसरा तत्व है संस्कार या आदत। हम सुख-सुविधा के इतने अधिक आदी हो जाते हैं कि उनके खोने का डर सताता रहता है। व्यक्ति परिस्थितियों और आदतों का दास हो जाता है, और वही दुःख देता है।

धन-सम्पदा चिन्ता का कारण बन सकती है, क्योंकि व्यक्ति उस धन सम्पदा के खो जाने के भय से पीड़ित रहता है। मनोचिकित्सक सामान्य रूप से इसे नहीं समझते और वे छोटी-मोटी चीजों पर जिज्ञासा करते रहते हैं जो चिन्ता का वास्तविक कारण नहीं होतीं। व्यक्ति को चिन्ता के मूल में जाना चाहिए, उसके पश्चात् ही उसे हटाया जा सकता है। यह समझना चाहिए कि सभी चीजें ऊपर से नहीं तो मूल में तो दुःखद हैं ही। दूसरा बिन्दु यह है कि तीनों गुणों और मनोवृत्तियों में सदा संघर्ष बना रहता है।

उदाहरणार्थ, मैं विश्राम करना चाहता हूँ, मैं काम नहीं करना चाहता। यह तमोगुण की माँग है, परन्तु हमें अपनी पत्नी, बच्चों का पालन-पोषण करना है। हमें काम करना ही होगा। इससे द्वन्द्व उत्पन्न होता है। गुण मुझे एक काम करने को बाध्य करते हैं, जबकि मैं सर्वथा भिन्न, कोई दूसरा काम करना चाहता हूँ। इस प्रकार गुणों और मानसिक वृत्तियों में संघर्ष होता है, उनमें कभी सहमति नहीं होती है। जब तक असहमति रहेगी, दु:ख होगा ही। यह बुद्धिमान् एवं संवेदनशील व्यक्तियों के विषय में भी सत्य है। सदा चेतन या अवचेतन स्तर पर द्वन्द्व रहता ही है। अत: जीवन में सभी चीजें तत्त्वत: दु:खद हैं। आपको अपना काम भले ही पसन्द न हो पर आपको वह करना ही पड़ता है। आप उसे बदलना चाहते हैं, जो नहीं हो पाता। उससे दु:ख उत्पन्न होता है। महान् एवं विद्वान पुरुषों में भी मानसिक द्वन्द्व रहता है। वे शास्त्र, दर्शन, धर्म, विज्ञान का अध्ययन कर सकते हैं, पर उनका मन द्वन्द्व से मुक्त नहीं होता।

आध्यात्मिक साधक भी द्वन्द्वों से मुक्त नहीं होता। उसका मन गहन साधना या कोई अन्य साधना करना चाह सकता है, पर वह सुस्ती अनुभव करता है। वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का अनुसरण करना चाहता है, और इसीलिए द्वन्द्व रहता है। हमारे व्यक्तित्व का द्वन्द्व प्रमाणित करता है कि संसार की सभी चीजें, जिनका हम भोग करते हैं, दु:ख से भरी हैं, जैसा कि अगले सूत्र में वर्णित है।

## सूत्र 16 – भावी दुःख का परिहार किया जा सकता है

*हेयं दुःखमनागतम् ॥16॥*

जो दु:ख अभी आया नहीं है उससे बचना चाहिए, उसका परिहार किया जाना चाहिए।

दु:ख से बचना चाहिए, और दु:ख, जो आने वाला है उसका परिहार किया जाना चाहिए। जो वर्तमान दु:ख को भोगना है और उसे समाप्त कर देना है। कर्म के सिद्धान्त के अनुसार जो वर्त्तमान दु:ख है वह परिपक्व हो गया है और उसे दूर नहीं किया जा सकता। वह भोगने पर ही समाप्त होता है। परन्तु जो भावी दु:ख और विपत्ति है उसका परिहार अवश्य होना चाहिए। जब तक शरीर है, व्यक्ति को दु:ख भोगना है, परन्तु जहाँ तक भावी या अनागत दु:ख का प्रश्न है, उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, जो फसल आप काट रहे हैं उसे बदला नहीं जा सकता, परन्तु अगली फसल रूपान्तरित करने के लिए बीज और अन्य परिस्थितियों में परिवर्तन लाया जा सकता है। जो गोली बन्दुक से छूट गई, उसे वापस नहीं ला सकते पर जिसे अभी छोड़ा नहीं गया है उसे तो रोक सकते हैं। उसी प्रकार, यदि आपके कर्म तदनुसार हों तो भावी कर्म के फल को रूपान्तरित किया जा सकता है।

मानव जीवन में कुछ कर्म ऐसे हैं जो परिपक्व हो गये हैं और उनके परिणामों को भाग्य के रूप में, चाहे वे सुख हों या दु:ख, भोगना ही होगा। व्यक्ति को तपस्या, विवेक, साधना करनी चाहिए और उनको भोग लेना चाहिए, पर जो कर्म भविष्य में परिपक्व होने वाले हैं, उन्हें आज सही काम करके समाप्त कर देना चाहिए। कर्म सिद्धान्त के अनुसार एक विभाग है जो नियंत्रण के परे है, परन्तु कर्मों का दूसरा विभाग है जिसमें संशोधन किया जा सकता है। इस प्रकार यह सूत्र घोषित करता है कि जो दु:ख अभी आया नहीं है उसका परिहार किया जा सकता है।

## सूत्र 17 – हेय का कारण

*द्रष्टृ दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥17॥*

जिसका परिहार करना है, उसका कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग है।

यह जानना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि जो दु:ख आने वाला है उसका परिहार कैसे किया जाये, उससे कैसे बचा जाये। प्रत्येक कर्म एक प्रभाव, या फल उत्पन्न करने में सक्षम होता है। यह शाश्वत नियम है। हमारे विगत और वर्तमान कर्म संचित अवस्था में हैं। आप अपने बुरे कर्मों के फलों का प्रतिकार अपने सत्कर्मों के द्वारा, या इसके विपरीत भी नहीं कर सकते। आपको अच्छे या बुरे फलों को साथ-साथ भोगना होता है, परन्तु एक विधि है जिसके द्वारा पुराने कर्मों को, जो कर्माशय में हैं, समाप्त किया जा सकता है। यह सूत्र कहता है कि कर्मों और दु:खों का एक कारण है, यदि आप दु:खों से, अर्थात् उनके परिणामों से बचना चाहते हैं तो निश्चित रूप से उनका परिहार किया जाना चाहिए। वह कारण है पुरुष, अर्थात् द्रष्टा और बुद्धि, अर्थात् द्रष्टा का संयोग या सम्बन्ध।

उनमें एक प्रकार का तादात्म्य, एक प्रकार की एकात्मता या सम्बन्ध प्रतीत होता है। दु:ख इसी सम्बन्ध के कारण होता है। अत: दु:ख के कारण का परिहार करने के लिए, द्रष्टा और दृश्य के, भोक्त और भोग्य के संयोग की प्रक्रिया को हमें समझना होगा। इस पर अगले सूत्र में चर्चा की गयी है।

## सूत्र 18 – प्रकृति के गुण

*प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥18॥*

दृश्य के गुण हैं प्रकाश, क्रिया, और स्थिति; वह मूलतत्त्वों और इन्द्रियों की प्रकृति वाला होता है, और भोग तथा मोक्ष इसके उद्देश्य हैं।

दृश्य के तीन गुण होते है – प्रकाश, क्रिया और स्थिति। ये तीन गुण हैं और कहा जाता है कि दृश्य इन तीन गुणों से निर्मित है। ऐसा कहा जाता है कि मूल तत्त्व और इन्द्रियाँ इसका निर्माण करती हैं। इसके दो प्रयोजन होते हैं – भोग और मोक्ष।

जो दिखाई पड़ता है वह दृश्य है। इस अर्थ में केवल आँखों से देखना नहीं होता है, वरन् इसका अर्थ है सभी इन्द्रियाँ, यथा – स्पर्श और घ्राण, आदि। देखने-सुनने का तात्पर्य है किसी भी इन्द्रिय के माध्यम से ज्ञात करना। इसका अर्थ है अनुभव करना। इसमें सोचना भी आ जाता है। सोचने को भी चार कोटियों में विभक्त किया गया है, यथा – चिन्तन द्वारा, तर्क के द्वारा, स्मृति द्वारा और चौथा अनुभूति द्वारा ज्ञात होना। ये क्रमश: मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार के कार्य हैं। अत: दृश्य का अर्थ है इन विभिन्न माध्यमों से ज्ञात होना और द्रष्टा का अर्थ है जिसे ज्ञात होता है। ज्ञान की प्राप्ति जाग्रत अवस्था तक ही सीमित नहीं है। यह स्वप्न और ध्यान की अवस्था में भी ऐसा होता है। आप चेतन रूप या अवचेतन रूप में भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अत: दृश्य के अन्तर्गत सभी वस्तुपरक अभिव्यक्तियाँ और समस्त जगत् आ जाता है। इसका अर्थ है, प्रकृति और सभी पहचाने जाने वाले पदार्थ, और द्रष्टा व्यक्तिपरक अभिव्यक्ति है।

प्रकृति के तीन गुण हैं – सत्त्व, या प्रकाश; रजस् या क्रिया, और तमस् या स्थिति। प्रकृति इन तीन गुणों से बनी है। विज्ञान में इनका अर्थ है – स्पन्दन, गति और जड़ता। यदि हम सार्वभौम प्रकृति के गुणों को जानना चाहते हैं तो हमें तीनों गुणों को जानना होगा। स्पन्दन प्रकाश या सत्त्व है, जिसमें एक प्रकार की लय होती है। गति रजस् है और तमस् जड़ता है। लय को हम परेड ग्राउण्ड में सैनिकों के कदमताल मार्च के समय देख सकते हैं, रजस् को विभिन्न दिशाओं में भागती भीड़ के रूप में समझ सकते है। तमस् तो एक

स्थिर शान्त भीड़ है, जिसमें कोई हलचल नहीं है। लय, गति और जड़ता प्रकृति के भौतिक गुण हैं। सांख्य दर्शन में उन्हें सत्त्व, रजस् और तमस् कहते हैं। जब रजस् और तमस् में सामंजस्य होता है सत्त्व विकसित होता है। अत: सत्त्व कुछ विशेष नहीं, वरन् वह गति और जड़ता के दो तत्त्वों की प्रकृति के बीच सामंजस्य का प्रभाव है। इस प्रकार, रजस् एवं तमस् के बीच के सामंजस्य से ही सत्त्व उत्पन्न होता है।

प्रकृति के अपने स्वभाव रूप में मूलतत्त्व और इन्द्रियाँ हैं। मूलतत्त्व पाँच हैं – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इन्द्रियाँ दस हैं, जिनमें पाँच पाँच कमेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इसके अतिरिक्त चार अन्त:करण होते हैं – मनस्, बुद्धि, चित्त, और अहंकार। ये सभी एक साथ प्रकृति या दृश्य की अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रकृति के लिए अन्तत: दो प्रयोजन होते हैं – पुरुष का भोग और उसकी मुक्ति। जगत् में द्रष्टा दृश्य को देखता है और इस प्रकार जीवन में अनेक भोग करता है। अन्ततोगत्वा जब परमचेतना विकसित हो जाती है तब मोक्ष प्राप्त होता है।

## सूत्र 19 – गुणों की चार अवस्थायें

*विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि ॥19॥*

गुण की अवस्थायें होती हैं – विशेष, अविशेष, लिंग मात्र और अलिंग।

परमचेतना की प्रति प्रसवात्मक प्रक्रिया से सम्बन्धित गुणों की चार अवस्थायें होती हैं। सम्प्रज्ञात समाधि की चार अवस्थाओं से इनकी अनुरूपता है। प्रथम, वितर्क की मानसिक अवस्था है विशेष। यह विशिष्ट अनुभवों की एक अवस्था है। दूसरी, बिना किसी विशेषता के विचार समाधित कही जाने वाली सूक्ष्म अवस्था है, इसमें अविशेष मन का आधार होता है। आनन्द कही जाने वाली तीसरी अवस्था लिंगमात्र का सम्बन्ध कारणात्मक चेतना होता है, और चौथी, जिसे अस्मिता समाधि कहा जाता है, अलिंग से सम्बन्धित आत्मिक अवस्था है। इसका कोई लक्षण नहीं होता है।

वितर्क गुणों की पहली अवस्था है। इसमें एक अन्तर होता है और आप उस अन्तर के प्रति सजग हैं। यह गुणों की पहली अवस्था है। दूसरी अवस्था में विभेद नहीं होता है और वहाँ वस्तु के साथ पूर्ण विलय हो जाता है। उसे अविशेष कहा जाता है और समाधि का नाम है विचार। तीसरी अवस्था में केवल संयम का लक्षण देखा जाता है, जिसमें मन का वस्तु पर पूर्ण नियंत्रण होता है। यहाँ आप वस्तु का आदिरूप देखते हैं जो उसका सार है। उस वस्तु की मूल प्रकृति को एक लक्षण के साथ देखा जाता है। जब आप उस लक्षण को चेतना की गहन अवस्था में देखते हैं तब आपको मालूम होना चाहिए कि आप आनन्द समाधि में हैं और उसके लक्षण विभिन्न वस्तुओं से भिन्न हैं। गुणों की अन्तिम अवस्था में, जब आप अस्मिता की उच्चतम अवस्था में पूर्णतः स्थित हो जाते हैं तब कोई भी लक्षण नहीं रह जाता है। यहाँ चेतना एक नितान्त भिन्न क्षेत्र में प्रवेश कर जाती है। उसके आगे निर्बीज समाधि का क्षेत्र है।

ये गुणों की चार अवस्थाएँ हैं, जो आपकी चेतना की स्थिति के अनुसार परिष्कृत एवं सूक्ष्मतर हो जाती हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि चेतना के भी तीन गुण होते हैं, और प्रति प्रसव प्रक्रिया के साथ इन तीन गुणों में भी परिवर्तन आ जाते हैं।

## सूत्र 20 – द्रष्टा की परिभाषा

*द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥20॥*

द्रष्टा केवल शुद्ध चेतना है, परन्तु अपनी शुद्धता के बावजूद यह मानसिक धारणा के माध्यम से देखता हुआ प्रतीत होता है।

यह और अगला सूत्र महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनमें सांख्य दर्शन निहित है। जो कुछ भी अनुभवगम्य और ज्ञेय है, वह दृश्य है। यह रूप, ध्वनि, विचार, स्वप्न या निद्रा के रूप में हो सकता है। एक शिशु की चीख, एक युवा की बातें और हँसी, और एक वृद्ध मनुष्य के विचार सभी दृश्य हैं। ये सदा परिवर्तनशील हैं। अतः ज्ञान भी परिवर्तनशील है। एक सुसंस्कृत मनुष्य में एक बाघ, शिशु या अन्य किसी की अपेक्षा उच्चतर ज्ञान अभिव्यक्त होता है। जहाँ तक एक सर्प, एक बाघ, या एक सुसंस्कृत मनुष्य में ज्ञान का प्रश्न है, वह समान ही रहता है, पर उस ज्ञान की अभिव्यक्ति में अन्तर होता है; वही दृश्य है।

द्रष्टा ही देखने वाला है जिसे दृश्य का ज्ञान होता है। यदि द्रष्टा नहीं है, परन्तु केवल दृश्य है तो ज्ञान नहीं होगा। बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के बीच की वार्ता है। यदि उच्चतर समाधि में भोक्ता नहीं रहता है तो कौन किसको देखेगा या गन्ध लेगा। ज्ञान तभी उत्पन्न होता है जब भोक्ता और भोग्य, द्रष्टा और दृश्य दोनों रहते हैं, यदि दोनों में से कोई एक ही रहे तो ज्ञान नहीं हो सकता। योग में द्रष्टा शुद्ध चेतना है। इसे देखा या अनुभव नहीं किया जा सकता। वह अति शुद्ध है पर मानसिक अवधारणाओं के माध्यम से देखता है। यदि एक दीपक के चारों ओर रंगीन आवरण हो तो बाहर से प्रकाश दिखाई देगा, पर हम प्रकाश उस रूप में नहीं देख पायेंगे, जैसा वह है। उसी प्रकार पुरुष शुद्ध है, पर प्रत्यय, अर्थात् मानसिक धारणा के कारण अशुद्ध प्रतीत होता है।

पुरुष प्रत्ययों, यथा – राग, द्वेष, घृणा आदि के माध्यम से जगत् में झाँकता हुआ प्रतीत होता है। जब आप उन्हें सावधानी से हटा देते हैं तब प्रकाश अधिक स्पष्टता से प्रकट होता है, और अन्ततः जब आखिरी आवरण भी हटा दिया जाता है तो प्रकाश अपनी मूल भव्यता के साथ दीप्तिमान हो उठता है। प्रकाश नहीं बदला है, केवल उसको ढँकने वाली बाधा हटा दी गई है, और इसलिए

जहाँ तक ज्ञान का प्रश्न है उसमें अन्तर हो गया है। प्रकाश प्रभावित नहीं हुआ, वह प्रत्यय के कारण केवल भिन्न दिखाई पड़ रहा था। अत: ज्ञान के तथ्यों को शुद्ध करने के लिए प्रत्ययों को हटाना सदा आवश्यक होता है।

जिस प्रकार विभिन्न रंग के शीशे के पात्रों में रखा गया जल रंगीन दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार पुरुष, यद्यपि शुद्ध है, फिर भी विभिन्न प्रत्ययों के कारण चेतना वाला प्रतीत होता है। जैसे, यद्यपि जल शुद्ध है, फिर भी रंगीन गिलासों में रखे होने के कारण रंगीन दिखाई देता है, उसी प्रकार पुरुष यद्यपि निर्गुण है, फिर भी ज्ञानवान प्रतीत होता है। पुरुष बिना किसी चीज के शुद्ध चेतना है, परन्तु वह सुख, अविद्या, मृत्यु और जन्म के प्रत्ययों से प्रभावित प्रतीत होता है।

## सूत्र 21 – प्रकृति केवल पुरुष के लिए है

*तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥21॥*

केवल उसके (पुरुष के) लिए प्रकृति का अस्तित्व है।

प्रकृति का अस्तित्व केवल पुरुष के लिए है। बिल्कुल प्रारम्भ से ही विकास की पूरी प्रक्रिया केवल पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए है। प्रकृति मात्र एक वाहन है। पुरुष ज्ञाता है और प्रकृति ज्ञान का माध्यम है। शास्त्रों में कहा गया है कि सृष्टि की समस्त रचना पुरुष और प्रकृति के संयोग की अभिव्यक्ति है। पुरुष के भोग के और अन्ततः उसके मोक्ष के लिए ही प्रकृति सृष्टि को उत्पन्न करती है।

यह कुछ ऐसा है, जैसे एक सवार और उसके घोड़े के समान है जो तीर्थ यात्रा पर निकलें हों। घोड़ा सवार की सहायता करता है और यात्रा चलती रहती है। सवार बीच-बीच में उतर कर घोड़े की देखभाल कर लेता है। घोड़ा यात्रा के लिए और यात्रा को पूरा करने के लिए है। वह सवार को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने का केवल एक माध्यम है। उसी प्रकार प्रकृति केवल पुरुष के लिए है; अर्थात् उसके भोग के साथ-साथ उसके मोक्ष के निमित्त है। प्रकृति विकास की समस्त योजना को पूर्ण करने के लिए कार्य करती है। जब पुरुष अन्तिम मोक्ष प्राप्त कर लेता है तब प्रकृति का प्रयोजन पूरा हो जाता है, वह उस पुरुष से पूर्णतया निवृत्त हो जाती है।

## सूत्र 22 – मोक्ष के पश्चात् प्रकृति

*कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥22॥*

जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया उसके लिए दृश्य अस्तित्वविहीन हो गया पर दूसरों के लिए समाप्त नहीं हुआ, क्योंकि ज्ञान सबके लिए समान है।

जब यात्रा पर निकला पुरुष अपने अन्तिम लक्ष्य पर पहुँच जाता है, वह घोड़े को छोड़ देता है, क्योंकि वह अब उसके काम का नहीं रहा। परन्तु घोड़ा इसे नहीं देखता – वह दूसरों की सेवा में लग जाता है। उसी प्रकार जब एक पुरुष मुक्त हो जाता है और उसके भोग समाप्त हो जाते हैं, तब उसका प्रकृति से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है।

शुद्ध चेतना, जो विकास के विभिन्न चरणों से गुजर चुकी है, उसे विभिन्न प्रकार के अनुभवों से गुजरने के लिए कहा जा सकता है, और जब वह मोक्ष की अवस्था में पहुँच जाती है तब प्रकृति उस पुरुष के लिए अस्तित्वहीन हो जाती है। हालाँकि जब पुरुष मुक्त हो जाता है, उसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, ज्ञान उस पुरुष के लिए अस्तित्वहीन हो सकता है, परन्तु ज्ञान के तथ्य मनुष्य में रहेंगे – वह देखेगा, सुनेगा, चलेगा आदि। यह जीवनमुक्त की अवस्था है, जिसमें व्यक्ति का अस्तित्व समाप्त नहीं होता। जीवनमुक्त प्रकृति के क्षेत्र में सक्रिय रहता है। उसके मुक्त हो जाने पर भी, प्रकृति काम करती रहती है, क्योंकि वह मन, चित्त, इन्द्रियों आदि की साझा सम्पत्ति है, वे संसार का भोग करते जाते हैं और जीवनमुक्ति प्राप्त करने के तुरन्त बाद उनकी मृत्यु नहीं हो जाती। इस प्रकार, पुरुष पहले मुक्त होता है, किन्तु प्रकृति जीवित रहती है और जीवनमुक्त के शरीर के माध्यम से अपना कार्य करती रहती है।

चेतना या पुरुष प्रकृति के सम्पर्क में नहीं आती है, किन्तु उनके पृथक् होने से प्रकृति मन्द पड़ जाती है। जिस प्रकार, सवार अपने उद्देश्य की पूर्ति के बाद घोड़े को छोड़ देता है और उसे न तो प्रशिक्षित करता है, न सुरक्षित रखता है और न ही उसकी देखभाल करता है, उसी प्रकार मुक्त पुरुष प्रकृति का ध्यान नहीं रखता है। अत: घोड़ा दुर्बल हो जाता है और एक दिन उसकी मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार, प्रकृति मन्द और दुर्बल हो जाती है तथा जीवनमुक्त को छोड़ देती है, क्योंकि यह स्वयं समाप्त हो चुकी है। इसे विदेहमुक्त कहते हैं।

## सूत्र 23 – संयोग क्यों?

*स्वस्वामिशक्तयोः स्वरूपोपलब्धि हेतुः संयोगः ॥23॥*

पुरुष और प्रकृति के संयोग का प्रयोजन मूल स्वभाव का अनुभव करना तथा स्वयं में पुरुष एवं प्रकृति की शक्तियों को प्राप्त करना है।

पुरुष और प्रकृति का संयोग दो प्रयोजनों से होता है – प्रथम, आत्मज्ञान की प्राप्ति और द्वितीय, उन दोनों की अन्तर्निहित शक्तियों की अनुभूति और प्राकट्य। यह बड़ा महत्त्वपूर्ण सूत्र है जो कहता है कि पुरुष और प्रकृति के संयोग का प्रयोजन अनुभूति है। प्रकृति का प्रयोजन उसमें अन्तर्निहित सृष्टि और शक्तियों को प्रकट करना है। पुरुष में भी कुछ अन्तर्निहित शक्तियाँ हैं। पुरुष शुद्ध चेतना है। प्रकृति स्पन्दन, गति और जड़ता, पंच तत्त्व और इन्द्रियाँ आदि है, पर शरीर, मन और गुण सभी प्रकृति में हैं।

एक अविकसित मनुष्य और एक विकसित मनुष्य का मस्तिष्क एक ही प्रकार के पदार्थ, 'ग्रे मैटर' से बना है, परन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है। अविकसित मानव ने अपनी अन्तर्निहित शक्ति को प्रकट नहीं किया है, परन्तु विकसित मानव ने उन्हें प्रकट कर दिया है। आध्यात्मिक रूप से विकसित मानव ने उच्चतर सीमा तक विकास कर लिया है, जबकि साँप या बाघ में ऐसा नहीं हुआ है। यह अन्तर अन्तर्निहित शक्तियों के प्राकट्य के कारण है, और ये शक्तियाँ हमेशा या तो पुरुष के या प्रकृति के क्षेत्र में रहती हैं। उनमें कुछ आध्यात्मिक और कुछ प्राकृतिक शक्तियाँ हैं।

आध्यात्मिक शक्ति पुरुष में और नैसर्गिक शक्तियाँ प्रकृति में अन्तर्निहित हैं। पुरुष और प्रकृति के विकास से प्रस्फुटन होता है, इस प्रकार हममें से प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक और अतिप्राकृतिक रूप से विकसित है, भले ही हम उससे अवगत हों या नहीं।

## सूत्र 24 – अविद्या कारण है

*तस्य हेतुरविद्या ॥24॥*

उस (संयोग) का कारण अविद्या है।

पुरुष और प्रकृति के संयोग का कोई कारण अवश्य होगा। वह कारण अविद्या है। पुरुष और प्रकृति दोनों अनादि हैं, वे दोनों सृष्टि के प्रारम्भ से ही हैं। पुरुष सदा मुक्त रहा है, किन्तु प्रश्न यह उठ सकता है कि जब पुरुष सदा से मुक्त है तो पुन: मुक्ति प्राप्त करने का क्या अर्थ है? यह समस्या तर्कातीत है; केवल ध्यान की अवस्था में इसका समाधान हो सकता है।

ऐसा कहते हैं कि अविद्या के कारण संयोग होता है, पर यह अविद्या अज्ञान नहीं है। यह वह अविद्या नहीं है जिसका उल्लेख क्लेशों की चर्चा के समय हुआ था। यह अविद्या पराशक्ति है जिसे माया कहते हैं, जिसकी व्याख्या शास्त्र भी नहीं कर पाये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अविद्या पुरुष और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रभावी कारण है, आद्य है। इसे अद्वैत दर्शन द्वारा समझा जा सकता है, क्योंकि सांख्य में पुरुष और प्रकृति दोनों शाश्वत हैं। वेदान्त में दोनों एक हैं, परम ब्रह्म।

यह सभी ऊर्जाओं और चेतना का आधार है, पर उस चेतना में एक प्रभावी शक्ति है जिसे माया कहते हैं। उस माया के कारण एक आवरण निर्मित हो जाता है, और उस आवरण के द्वारा प्रकृति उत्पन्न होती है, पुरुष और प्रकृति दोनों भ्रामक प्रक्रियाएँ बन जाते हैं। द्वैतवादी सांख्य के लिए ये भ्रामक नहीं है, पर वेदान्त अद्वैतवादी है, अत: यह ब्रह्म और माया को एक सत्ता के रूप में समझा सकता है।

### सूत्र 25 – हान की परिभाषा

*तदभावात् संयोगभावो हानं तृशेः कैवल्यम् ॥25॥*

अविद्या के अभाव से (पुरुष और प्रकृति के बीच का) संयोग विलुप्त हो जाता है। यही हान (परिहार) है, जिसे पुरुष की मुक्ति कहते हैं।

अविद्या के नाश से पुरुष एवं प्रकृति के संयोग का कारण भी समाप्त हो जाता है, और कारण के समाप्त हो जाने के साथ उसका परिणाम, अर्थात् संयोग भी नहीं रह जाता है। इसे हान कहते हैं, जिसमें पुरुष को प्रत्येक वस्तु से पृथक् कर दिया जाता है। यह कैवल्य है। कैवल्य के विषय पर चौथे अध्याय में विस्तृत चर्चा होगी, इसलिए यहाँ उसका वर्णन करना आवश्यक नहीं है।

## सूत्र 26 – हान के उपाय

*विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥26॥*

सत्य (विवेकख्याति) की अविचल सजगता अविद्या के परिहार का उपाय है।

ज्ञान विभिन्न प्रकार का होता है, यथा इन्द्रियों के माध्यम से, तर्क, बुद्धि, व्यक्तिगत सम्पर्क, सुनने, कल्पना और पूर्व स्मृति से प्राप्त ज्ञान। यदि हम पुरुष के यथार्थ स्वभाव को जानना चाहते हैं, तो हम इन स्रोतों से प्राप्त ज्ञान पर निर्भर नहीं कर सकते। उसके लिए एक सर्वथा भिन्न प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता होती है। ज्ञान का वह क्षेत्र विवेकख्याति कहलाता है। यह जानने की एक प्रक्रिया है जो न इन्द्रियों के द्वारा, न बुद्धि के द्वारा और न ही उच्चतर बोध के द्वारा सम्भव है। पृथ्वी को तराजू पर तौला नहीं जा सकता, पर गणितीय गणना के द्वारा आप ऐसा कर सकते हैं। आप चन्द्रमा और सूर्य के बीच की दूरी को स्केल से नहीं माप सकते, पर भौतिकशास्त्र के नियमों के माध्यम से गणना कर सकते हैं। उसी प्रकार यदि आप परमात्मा को जानना चाहते हैं, यदि आप अविद्या को दूर करना चाहते हैं, तो आपको विवेक द्वारा ज्ञान (विवेकख्याति) प्राप्त करने की प्रक्रिया का उपयोग करना होगा।

सामान्य रूप से विवेक का अर्थ होता है अच्छे-बुरे में अन्तर कर पाना, उनके अन्तर को जानना, परन्तु इस सूत्र में इसका अर्थ कुछ भिन्न है। आत्मज्ञान की सतत् साधना के परिणामस्वरूप एक विशेष अवस्था में आपमें एक सजगता विकसित होगी। वह सजगता द्वैत सजगता है।

## सूत्र 27 – प्रज्ञा की अवस्थायें

*तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥27॥*

उस पुरुष की प्रज्ञा की सात अवस्थाएँ होती हैं।

विवेकख्याति सात अवस्थाओं वाली चेतना को प्रकट करती है, उनमें से प्रत्येक अपने पूर्व वाली से उच्चतर होती है। प्रान्तभूमि का अर्थ है विशेष क्षेत्र या प्रदेश। ऐसा प्रतीत होता है कि विवेकख्याति की प्रक्रिया में पुरुष या चेतना अनुभव की विभिन्न अवस्थाओं को पार करती हुई आगे बढ़ती है। ये अवस्थायें ध्यानात्मक हैं– प्रथम परिहार्य का बोध; द्वितीय परिहार के उपायों की सजगता; तृतीय, आध्यात्मिक विकास की सजगता; चतुर्थ, परितोष एवं उपलब्धि की सजगता; पंचम, भोग एवं अपवर्ग के प्रयोजन की सजगता; षष्ठ, गुणों के कार्य के सम्पन्न हो जाने की सजगता; और अन्तिम, आत्मस्वरूप की सजगता। इन सात अवस्थाओं के माध्यम से उच्चतर अवस्था वाली प्रज्ञा विकसित होती है, जिसे विवेकख्याति कहते हैं।

## सूत्र 28 – योगाभ्यास की आवश्यकता

*योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥28॥*

जब तक आध्यात्मिक ज्ञान का विकास विवेकख्याति तक नहीं पहुँच जाता, योगांगों के अभ्यास से अशुद्धियों का क्षय होता रहता है।

परमात्मा को जानने के लिए हमें विवेकख्याति का सही ज्ञान विकसित करना होता है, जो न तो मानसिक है और न बौद्धिक। इस गहन चेतना का विकास केवल आध्यात्मिक आलोक द्वारा होता है जो अशुद्धियों के क्रमशः नाश के साथ-साथ बढ़ता जाता है। मन की अशुद्धियों का नाश योग के अभ्यास से होता है।

योग के विभिन्न पक्षों का अभ्यास क्रमशः होना चाहिए तभी अशुद्धियों का नाश होता है और आध्यात्मिक आलोक में प्रखरता आती है, जिसका परिणाम होता है विवेकख्याति। विवेकख्याति के उदय के साथ ही अविद्या और प्रकृति दोनों समाप्त हो जाती हैं।

सामान्यतः यही तर्क दिया जाता है कि योग का अर्थ है मिलना, संयोग, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह पहले वियोग है। यह पुरुष और प्रकृति के संयोग के परिहार की या उससे बचने की प्रक्रिया है। महर्षि पतंजलि इस तथ्य पर बल देते है कि योग, वियोग है। अतः महर्षि पतंजलि ने योग को वियोग के रूप में समझाया है। हमें इसे ठीक से समझना चाहिए।

## सूत्र 29 – योग साधना के आठ अंग

*यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावंगानि ॥29॥*

योग साधना में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि आठ अंग सम्मिलित हैं।

इस सूत्र के साथ हम राजयोग का विषय प्रारम्भ करते हैं। सामान्यत: यह माना जाता है कि ध्यान ही योग है, पर इसके अन्तर्गत अनुशासनों का, अनुकूलन और शुद्धि का विशाल क्षेत्र सम्मिलित है। महर्षि पतंजलि का राजयोग आठ अंगों में विभक्त है और सभी आठ अंग परस्पर निर्भर करते हैं और उनका समान महत्त्व है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार बहिरंग योग हैं, तथा धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग योग हैं।

यह एक रोचक बात है कि योग का समस्त क्षेत्र अन्तरंग और बहिरंग दो क्षेत्रों में विभक्त है। बहिरंग का अर्थ वह योग है जिसका अभ्यास शरीर, समाज के परिप्रेक्ष्य में और स्वयं से बाहर की अनेक वस्तुओं के साथ किया जाता है। आसन, प्राणायाम, यम, नियम, और प्रत्याहार बहिरंग योग में आते हैं। धारणा, ध्यान, और समाधि अन्तरंग योग में आते हैं, क्योंकि आप वस्तुपरक से व्यक्तिपरक ध्यान की विधियों में प्रवेश करते हैं।

बाह्य और अन्त: साधन परस्पर निर्भर करते है। महान् संस्कारों के साथ जन्मे कुछ लोगों के साथ यह सम्भव है कि यम और नियम की प्रारम्भिक अवस्थाओं से गुजरे बिना वे सीधे ध्यान का अभ्यास कर सकें। हममें से अधिकांश लोगों के लिए यम और नियम से प्रारम्भ करना आवश्यक होता है, क्योंकि संयम और अनुशासनरहित जीवन में अचेतन विस्फोट की संभावना रहती है, जिससे मानसिक विकृति उत्पन्न हो सकती है। कभी-कभी ध्यान में भी ऐसे विस्फोट हो जाते हैं, और अशुद्धियों के कारण गड़बड़ी होती है। ध्यान में विफलता के कारणों में यह भी एक कारण है।

उतावली में ध्यान का अभ्यास नहीं करना चाहिए, जल्दीबाजी नहीं होनी चाहिए। राजयोग की प्रत्येक अवस्था अगली अवस्था का मार्ग प्रशस्त करती है। अत: ये सभी अंग एक-दूसरे पर आधारित हैं। पहले से इनकी सीमाओं का ज्ञान संभव नहीं है, अनुभव से ही उन्हें जाना जा सकता है। यह एक पूर्ण

मार्ग है जो साधक का उत्थान करती है। ये आठ पक्षों का विभाजन साधक को जागरूक रखने के लिए किया गया है। यम और नियम सार्वभौम प्रकृति के हैं, क्योंकि इन्हें हर जगह मान्यता प्राप्त है।

साधक के लिए समझदारी भरा मार्ग यही होगा कि वह यथासम्भव सभी अंगों का अभ्यास धीरे-धीरे करे ताकि दमन के कारण कोई प्रतिक्रिया नहीं हो। राजयोग के प्रारम्भिक अंग का अभ्यास उस समूह की उपस्थिति में होना चाहिए जिसके साथ साधक को कुछ दिनों के लिए रहना हो।

जब पूरा मन एक स्वरूप में स्थित हो जाये, तब आप अपने समाज में जा सकते हैं और उनके साथ रह सकते हैं। समाज सभी जगह व्यक्ति का शोषण करता रहा है, उसे उसके आध्यात्मिक लक्ष्य से दूर करता रहा है। इसलिए कुछ दिनों तक साधक की पूरी संरचना का अनुकूलन गुरु के सान्निध्य में होना चाहिए।

## सूत्र 30 – पाँच यम

*अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा: ॥30॥*

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँच यम हैं।

इस सूत्र में यमों के नाम दिये गये हैं। आगे के सूत्रों में इन पर अलग-अलग चर्चा होगी। अत: यहाँ इनकी व्याख्या आवश्यक नहीं है।

## सूत्र 31 – महाव्रत

*जाति देश काल समयानवच्छिन्ना: सार्वभौमा महाव्रतम् ॥31॥*

जन्म, देश, काल और परिस्थितियों के अपवाद बिना जब यमों का सार्वभौम रूप से अभ्यास किया जाता है, तो वे महाव्रत हो जाते हैं।

ऐसा देखा गया है कि देश, काल, जन्म आदि यमों के अभ्यास में बाधायें उत्पन्न करते हैं। व्यक्तिगत सीमाओं के कारण बिना अपवाद के इनका अभ्यास कठिन है। पर ऐसा सुझाव दिया गया है कि इनका बिना अपवाद सार्वभौम रूप से अभ्यास होना चाहिए। देश, काल, जन्म और परिस्थितियों में अन्तर के कारण इनमें संशोधन नहीं होना चाहिए।

## सूत्र 32 – पाँच नियम

*शौच संतोष तप: स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा: ॥32॥*

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान नियम हैं।

## सूत्र 33 – बाधायें दूर करने का उपाय

*वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥33॥*

जब मन मनोविकारों के कारण उत्तेजित हो तब व्यक्ति को उनके प्रतिपक्षों पर चिन्तन का अभ्यास करना चाहिए।

यम, नियम के अभ्यास के समय पुरानी आदतों, दुष्प्रवृत्तियों आदि के कारण दुर्वासनायें उत्पन्न हो जाती हैं जो बाधाएँ खड़ी करती हैं। दमन से काम नहीं चलेगा। सर्वोत्तम उपाय है प्रतिकूल वृत्तियों पर चिन्तन करना। इस प्रकार प्रेम के द्वारा घृणा पर विजय प्राप्त हो सकती है, क्योंकि वे एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। अत: जब दुर्विचारों के कारण वितर्क या उपद्रव हो तब साधक को प्रतिपक्ष भावना का अभ्यास करना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि व्यक्ति ईमानदार होना चाहता है तो वह कभी-कभी देखता है कि बेईमान लोग जीवन में सफल हो रहे हैं, जबकि ईमानदार व्यक्ति विफल हो जाते हैं। इस कारण दुर्विचार उत्पन्न हो सकता है कि व्यक्ति को बेईमान भी होना चाहिए। यही वितर्क है, यह तर्क का गलत पक्ष है। जब मन के द्वारा गलत पक्ष को प्रस्तुत किया जाता है तब उससे उत्तेजना उत्पन्न होती है और साधक को दिग्भ्रम हो सकता है। बेईमानी का प्रतिपक्ष ईमानदारी है, इस परिस्थिति में उस पर चिन्तन कर उसको पुष्ट करना चाहिए।

जब मन में आये कि ईमानदारी से कोई लाभ नहीं है, किसी को ईमानदार व्यक्ति की परवाह नहीं है तो उस समय प्रतिकूल विचारों के साथ तैयार हो जाना चाहिए, अर्थात् आध्यात्मिक मार्ग पर व्यक्ति ईमानदारी से ही सफल होता है। इसे प्रतिपक्ष भावना कहते हैं।

## सूत्र 34 – उनकी (बाधाओं की) मात्रा और प्रकृति

*वितर्का हिंसादय: कृतकारितानुमोदिता लोभ क्रोध मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दु:खाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥34॥*

कुविचार, यथा – हिंसा, जो स्वयं की गयी हो, दूसरों से करायी गयी हो अथवा उसका समर्थन किया गया हो – लोभ, क्रोध, और मोह के कारण उत्पन्न होता है। वह हल्का, मध्यम या तीव्र हो सकता है। यह सोचना ही प्रतिपक्ष भावना है कि कुविचारों से असीम दु:ख और अज्ञान उत्पन्न होता है।

कभी-कभी एक व्यक्ति स्वयं तो हिंसा नहीं करता, पर दूसरों से करवाता है या वह स्वयं दूसरों द्वारा की गयी हिंसा का समर्थन करता है। योग में यह परिहार्य है, बचने योग्य है, क्योंकि यदि वह हिंसा का समर्थन करता है या दूसरों के द्वारा करवाता है तो उसके लिए वही उत्तरदायी माना जाता है। यही अन्य वितर्कों, यथा – असत्य कथन, चोरी आदि पर भी लागू होता है।

कभी-कभी ये वितर्क लोभ, क्रोध या मोह के कारण किये जाते हैं, परन्तु इन सब से निश्चित रूप से बचना चाहिए। वितर्क मृदु, मध्यम या तीव्र हो, परन्तु उनके कारण, तीव्रता और प्रभाव पर विचार किये बिना उन्हें समाप्त करना है। इन दुर्विचारों से अन्तत: दो बातें होती हैं – दु:ख और अज्ञान। यदि यह बात अपने मन की नकारात्मक अवस्था में भी समझ में आ जाये और उस पर चिन्तन किया जाये तो यह प्रतिपक्ष भावना हो जाती है। व्यक्ति किसी वर्जित वस्तु को खाने या पीने का विचार करता है पर यदि वह यह अनुभव करता है कि इससे हानि होगी तो उसके लिए तर्क करना प्रतिपक्ष भावना है। जब ऐसा किया जाता है तब मन उस दुर्भावना से उबर जाता है और एक सकारात्मक मनोग्रन्थि का निर्माण होता है, और साधक बिना कठिनाई के यम और नियम के आध्यात्मिक मार्ग पर चल सकता है।

## सूत्र 35 (i) – अहिंसा के फल

*अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥35॥*

अहिंसा के भाव में दृढ़तापूर्वक स्थित हो जाने पर उसके आस-पास वैरभाव समाप्त हो जाता है।

अहिंसा का अर्थ है – प्रेम, अहित नहीं करना, हत्या नहीं करना, किसी को सताना नहीं। इसका मतलब होता है शत्रुता, विद्वेष, बुराई का अभाव। आध्यात्मिक साधक के लिए इसका अर्थ किसी हानिकर अभिप्राय का अभाव होना चाहिए। प्रतिष्ठा का अर्थ है दृढ़तापूर्वक स्थित हो जाना। जब व्यक्ति अहिंसा में स्थित हो जाता है तो उसके आस-पास एक प्रकार का चुम्बकत्व उत्पन्न हो जाता है जो उसके निकट आने वालों को प्रभावित करता है। व्यक्ति हिंसा और विद्वेष जैसी खतरनाक, अनिष्टकर मनोग्रन्थि से मुक्त हो जाता है।

भारतीय इतिहास में ऐसी अनेक महान् विभूतियाँ हुई हैं, जो अत्यन्त क्रूर और आसुरी हृदयों को भी परिवर्तित कर सकती थीं। महात्मा गाँधी जो अहिंसा के पुजारी थे, कोई दुर्भावना नहीं रखते थे, पर उनके भी शत्रु थे और अन्त में उन्हें भी गोली मार दी गई। इससे प्रतीत होता है कि अहिंसा की साधना अत्यन्त कठिन है। भगवान बुद्ध ने अहिंसा का इतना विकास किया था कि वे किसी भी क्रूर हृदय को दयालु बना सकते थे। एक बार उनका सामना एक क्रूर डाकू से हुआ जो उनको मारने आया था, वह दस्यु केवल उनकी एक दृष्टि से ही परिवर्तित हो गया। यह है अहिंसा की शक्ति। महर्षि पतंजलि के आश्रम में गाय, बकरी और बाघ एक साथ रहते, खाते-पीते थे, क्योंकि महान् ऋषि के द्वारा अहिंसा की साधना की जाती थी।

यह कहना बड़ा आसान है कि हमें अहिंसक होना चाहिए, हमें एक-दूसरे से प्रेम करना चाहिए, पर प्रेम की आवधारणा को समझना भी हमारे लिए एक बड़ी बात है। चूँकि प्रेम का अर्थ मृत्यु के भय से सुरक्षा या प्रतिरक्षा है, और कुछ नहीं। यह एक मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता है, पर प्रेम तो वस्तुतः अधिक महान् है। क्राइस्ट को शूली पर चढ़ा दिया गया। मुहम्मद के विरोधियों ने उन पर पत्थर फेंके, महान् सूफी संत मंसूर को मुसलमानों ने यातना दी और उनकी चमड़ी उधेड़ दी। इन सभी लोगों के शत्रु थे, पर भारत में ऐसे अनेक

लोग हुए हैं जिनका कोई शत्रु नहीं था, क्योंकि उन्होंने अहिंसा की पूर्णरूपेण साधना की थी।

सबसे महत्त्वपूर्ण चीज है कि हिंसक का भी विरोध न किया जाय। वह भी अहिंसा है, और यदि पूरी बात पर गहराई से विचार किया जाये तो इसका अर्थ होगा कि आप शत्रुता की मनोग्रन्थि को समाप्त करने का, उसे अस्वीकार करने का अभ्यास कर रहे हैं। भारत में ऐसा व्यक्ति अजातशत्रु कहलाता है।

अत: ऐसा प्रतीत होता है कि महान संत और पैगम्बर भी अहिंसा में दृढ़तापूर्वक स्थित नहीं थे। उदाहरणार्थ, भगवान बुद्ध, कृष्ण और शंकर भी अन्य दर्शन का विरोध और आलोचना करते थे, पर यौगिक तर्क कहता है कि अहिंसा का पूर्णता से पालन किया जाना चाहिए। समाज की अनियमितताओं का सामना करने का एक सम्मानजनक तरीका होना चाहिए।

अत: सूत्र का तात्पर्य है कि जब साधक अहिंसा में पूर्णतया स्थित होता है, जब विद्वेष का अन्तिम अवशेष भी समाप्त हो जाता है तब आत्मा एक चुम्बकीय रूप में प्रकट होती है जिसे वैरत्याग कहते हैं। इस प्रकार पशु हत्या भी छोड़ देनी चाहिए। भारत में जैन धर्म भी अहिंसा के लिए विश्वविख्यात है।

## सूत्र 36 (ii) – सत्य के फल

*सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥36॥*

सत्य में दृढ़तापूर्वक स्थित हो जाने पर क्रिया फल का आधार बन जाती है।

जब साधक देश, काल, जन्म और परिस्थितियों से मुक्त सार्वभौम नियम के रूप में सत्य के अभ्यास द्वारा सत्य में प्रतिष्ठित हो जाता है तब वह स्वयं में एक प्रकार की दिव्य बुद्धि विकसित कर लेता है। इसके द्वारा अपनी इच्छानुसार कर्म के फल प्राप्त करने योग्य हो जाता है। सामान्यत: कर्म के फल हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं करते, परन्तु सत्य को सिद्ध कर लेने वाले मनुष्य के साथ ऐसा नहीं होता।

इस सूत्र को इस रूप में समझा जा सकता है कि सत्यवादी साधक की वाक् सिद्धि हो जाती है। वह जो भी कहेगा, वह सत्य होगा, जो भी वह कहता है, वह हो जाता है। योग में इसे वाक् सिद्धि कहते हैं। सत्य की साधना के द्वारा वह स्वयं में एक ऐसी शक्ति विकसित कर लेता है कि उसका मन दर्पण के समान निर्मल हो जाता है; जो घटित होने वाला होता है वह उसकी वाणी में प्रतिबिम्बित हो जाता है। इस प्रकार किसी कार्य का फल पूर्णरूप से उस पर निर्भर करता है, न कि परिवर्तन या प्रारब्ध पर। या यह भी कहा जा सकता है कि जिसने सत्य को इतने उच्च स्तर तक सिद्ध कर लिया है कि उसमें प्रत्येक शब्द को तौल कर बोलने की क्षमता आ जाती है।

संभवत: इसका कारण यह है कि उसने अपनी वाणी पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त हो गया है, पर यह अत्यन्त कठिन है। केवल वही व्यक्ति सत्य बोल सकता है, जो यह जानता है कि प्रत्येक शब्द को कैसे तौला जाता है। यह उसकी वाणी की अवस्था हो जाती है। वह बिना आध्यात्मिक शक्ति से तौले हुए एक शब्द भी नहीं बोलता है। इसके द्वारा वह वाक् वाहन पर वह इतना अधिक नियन्त्रण रखता है कि उसके मुख से जो निकलता है वह सत्य ही होता है। इस सूत्र के ये दो अर्थ हैं। प्रथम, वह जो भी बोलता है सत्य हो जाता है, और दूसरा, कार्यों के परिणाम उसकी इच्छा का अनुसरण करते हैं।

## सूत्र 37 (iii) – अस्तेय के फल

*अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥37॥*

ईमानदारी में दृढ़तापूर्वक स्थित हो जाने पर सभी रत्न स्वयं उपस्थित हो जाते हैं।

जब आध्यात्मिक साधक यौगिक सद्‌गुण ईमानदारी में स्थित हो जाता है तब उसके अन्दर दिव्य दृष्टि या सहजानुभूत ज्ञान जैसी एक शक्ति विकसित हो जाती है। यह ठीक वैसी ही क्षमता है जो जलान्वेषियों में होती है। इस ज्ञान क्षमता से साधक आसपास के रत्न, जवाहरातों को जान जाता है।

कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जैसे स्वामी शिवानन्द जी, जिन्हें ज्ञात हो जाता था कि दर्शन के लिए आ रहे व्यक्ति के पास क्या कुछ है। यह एक प्रकार का सहजानुभूत ज्ञान है जो असीम, अनुकूलित सार्वभौम ईमानदारी के कारण संभव होता है। व्यक्तित्व की सम्पूर्ण संरचना को शुद्ध करने हेतु इसका उद्‌देश्य सम्पूर्ण जीवन को निर्मल कर देना है। जब ऐसा हो जाता है तब व्यक्ति एक दर्पण के समान हो जाता है जिसमें दिव्य मन प्रतिबिम्बित होता है।

जब दर्पण साफ होता है, तब आप उसमें अपना चेहरा स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। अस्तेय या ईमानदारी का सद्‌गुण एक ऐसी सजगता उत्पन्न कर देता है जिसके द्वारा आप गुप्तधन के प्रति सजग हो जाते हैं।

## सूत्र 38 (iv) – ब्रह्मचर्य के फल

*ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥38॥*

ब्रह्मचर्य में दृढ़तापूर्वक स्थित हो जाने पर वीर्य लाभ होता है।

ब्रह्म का अर्थ है परमात्मा और चर्या का अर्थ है जीना, पर यहाँ ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ है आठ प्रकार का यौन संतोष। वीर्य का अर्थ है शुक्र, जिसके विषय में कहते हैं कि रक्त की चालीस बूंदों से वीर्य की एक बूंद तैयार होती है। वीर्य से ओज उत्पन्न होता है। यह जीवन का सार है जो अन्ततः ऊर्जा बन जाता है। अनेक वैज्ञानिकों का कहना है कि वीर्य एक हॉरमोनल स्राव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, तथापि पतंजलि इससे सहमत नहीं हैं। वीर्य का अर्थ अदम्य साहस भी होता है, जो साधना के लिए आवश्यक है, इस प्रकार ब्रह्मचर्य में दृढ़तापूर्वक अवस्थित हो जाने पर योगी को उत्साह, ऊर्जा, और साहस प्राप्त होता है, जिसके बल पर वह मृत्यु-भय से मुक्त हो जाता है, अतः अभिनिवेश नामक क्लेश जो मृत्यु-भय है, जिस पर विजय प्राप्त करने हेतु ब्रह्मचर्य एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। ब्रह्मचर्य आठ प्रकार का होता है।

योग में यह सर्वविदित है कि शारीरिक ऊर्जा और आध्यात्मिक ऊर्जा में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। आध्यात्मिक अन्तःशक्ति प्राप्त करने के लिए शारीरिक ऊर्जा का सुरक्षित रखना आवश्यक है जिसे ओज कहते हैं। यह वीर्य के संरक्षण से बनता है। जब शारीरिक द्रव, अर्थात् वीर्य सुरक्षित रखा जाता है तब वह ओज में परिवर्तित होता है, और उसे रेतस् या वीर्य-ऊर्जा कहा जाता है। जब इसका परिष्कार होता है और उसे भीतर खींचा जाता है तब यह ऊर्जा उत्पन्न करता है और सारा शरीर उससे व्याप्त हो जाता है। ऐसा ही व्यक्ति ऊर्ध्वरेता कहा जाता है।

एक उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य का अभ्यास करके देवताओं ने मृत्यु के भय को पूर्णतः समाप्त कर डाला। उदाहरण के लिए, भीष्म को मृत्यु का भय नहीं था, क्योंकि उन्होंने ब्रह्मचर्य की साधना की थी। वे महान् योद्धा थे; उन्होंने मृत्यु को अपने नियन्त्रण में कर रखा था। उनकी मृत्यु युद्धभूमि में नहीं हुई, बल्कि उन्होंने स्वेच्छा से मृत्यु का वरण किया। इसका कारण यह था कि उन्होंने अपने पूरे जीवन में रक्त की एक भी बूंद को शरीर के बाहर नष्ट नहीं होने दिया था।

## सूत्र 39 (v) – अपरिग्रह के फल

*अपरिग्रह स्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥39॥*

अपरिग्रह में अवस्थित हो जाने पर जन्म कैसे और कहाँ से हुआ इसका ज्ञान प्राप्त होता है।

अपरिग्रह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सद्‌गुणों में से एक है। इसका अर्थ है उपयोग और उपभोग की वस्तुओं के संग्रह की प्रवृत्ति का त्याग। साधक केवल उन वस्तुओं को ही रखता है जो जीवन के लिए आवश्यक है। इससे मन खाली रहता है और उसे किसी वस्तु की चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि सुरक्षित रखने के लिए कुछ भी नहीं रहता।

अनेक साधक अग्नि का भी स्पर्श नहीं करते और एक जोड़ा वस्त्र ही रखते हैं। वे एक स्थान पर भी नहीं रहते। उनका मन इतना मुक्त और विश्रान्त रहता है कि वे कहीं भी, कोई भी सेवा करने को तैयार रहते हैं। यह अपरिग्रह है। मन को पर्याप्त रूप से अनुकूलन-मुक्त कर देने के बाद, साधक अन्य सुविधायें प्राप्त कर सकता है, जैसे – यदि उसे किसी विशेष प्रकार का काम करना है तो वह कुर्सी, टेबुल आदि रख सकता है। परिग्रह के संस्कारों को पूर्णतया धो डालने के बाद व्यक्ति नया जीवन शुरू कर सकता है।

अतः साधक के जीवन में अपरिग्रह अस्थायी साधना है। यदि यह साधना पर्याप्त समय के बाद भी की जाती है तो इससे दुर्बलता और मोह उत्पन्न हो सकता है। इसका अभ्यास प्रारम्भ में आवश्यक है, ताकि पुरानी आदतें छूट जायें। जब पुरानी आदत छूट जाये तब व्यक्ति उन वस्तुओं को रख सकता है जिनकी आवश्यकता सामाजिक कार्यों और मानवता की सेवा के लिए हो सकती है। जब साधना दृढ़तापूर्वक स्थित हो जाती है तब साधक पूर्वजन्म, उसके प्रकार, उसके समय और उसके कारण को जान पाता है। उसी प्रकार वह अपने अगले जन्म के विषय में भी जान सकता है। जिस प्रकार आप बादल को देखकर आप जान जाते हैं कि वर्षा होगी, उसी प्रकार अपरिग्रह में दृढ़तापूर्वक अवस्थित हो जाने पर आप पूर्वजन्म या अगले जन्म के विषय में जान सकते हैं।

## सूत्र 40 (vi) – शौच के फल

*शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥40॥*

शौच से शरीर के प्रति उदासीनता और दूसरों के प्रति अनासक्ति आती है।

इस सूत्र से नियमों पर चर्चा प्रारम्भ होती है। ध्यान और समाधि की साधना के लिए ये नियत अनुशासन हैं। ये सभी साधन हैं लक्ष्य नहीं। पहला नियम, अर्थात् शौच या शुद्धि की चर्चा इस सूत्र में है। ऐसा कहा गया है कि शारीरिक शौच के अभ्यास के द्वारा कालक्रम में आपमें अपने शरीर के प्रति एक प्रकार की उदासीनता विकसित हो जाती है। साथ ही दूसरों के प्रति अनासक्ति का विकास भी हो जाता है।

## सूत्र 41 – शौच

*शौचशुद्धि सौमनस्यैकाग्रयेन्द्रियजयात्म दर्शन योग्यत्वानि च ॥41॥*

मानसिक शौच की सिद्धि से प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रिय निग्रह और आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है।

भगवद्गीता में भी इसका वर्णन है। जब मन निर्मल हो जाता है या जब मानसिक शुद्धि का अभ्यास किया जाता है तो व्यक्ति प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रिय निग्रह का अभ्यास करने के योग्य हो जाता है, क्योंकि मानसिक शुद्धता के कारण व्यक्ति अपनी आत्मा का दर्शन कर पाता है।

## सूत्र 42 (vii) – संतोष के फल

*संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥42॥*

संतोष के अभ्यास से बिना किसी श्रेष्ठता का सुख प्राप्त होता है।

जो आध्यात्मिक साधक योग के उच्चतर पक्षों और आत्मज्ञान के प्रति गम्भीर है, उसके लिए संतोष नियत नियमों में से एक है। जो स्वयं से या जीवन की किसी अन्य वस्तु से असंतुष्ट है, उसके लिए उच्चतर चेतना की स्पष्ट अनुभूति असंभव है।

असंतोष अविद्या का बड़ा आवरण है, इसलिए इसे दूर करना है। इसके कारण अनेक अवांछित जटिलताओं का जन्म हो जाता है और मनोरोग की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। यदि मन बीमार रहेगा तो कोई भी साधना सम्भव नहीं होगी।

जो ध्यान सिद्ध करना चाहते हैं, उन्हें यम और नियमों का अभ्यास करना चाहिए। ध्यान में सजगता को मानसिक भूलों, आवरणों और मनोग्रन्थियों से मुक्त रखना चाहिए; अतः व्यक्ति को संतोष का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। इससे जो सुख मिलता है वह अद्वितीय होता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति ध्यान में गहरे उतर सकता है। संतोष के अभाव में विभिन्न मनोग्रन्थियाँ काम करने लगती है, और व्यक्ति ध्यान के योग्य नहीं रह जाता।

## सूत्र 43 (viii) – तप के फल

*कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धि क्षयात्तपसः ॥43॥*

तप की साधना से अशुद्धियाँ नष्ट हो जाती हैं, शरीर और इन्द्रियों में पूर्णता आती है।

ध्यान के लिए एक स्वस्थ शरीर और इन्द्रियों की आवश्यकता होती है। सभी अंग स्वस्थ एवं परिशुद्ध होने चाहिए, अन्यथा ध्यान में विघ्न पड़ता है। जोड़ों में दर्द हो सकता है, या शरीर में जैवविष उत्पन्न हो सकता है। जो अस्वस्थ शरीर के साथ ध्यान करते हैं उन्हें कष्ट हो सकता है।

यदि आप प्रतिदिन लम्बे समय तक ध्यान करना चाहते हैं तो आपका शरीर स्वस्थ होना चाहिए। लगातार लम्बे समय तक बैठना सरल नहीं है, महर्षि पतंजलि इस सूत्र में सुझाव देते हैं कि ध्यान के लिए शरीर और इन्द्रियों को आदर्श बनाना चाहिए। शरीर सीधा रहना चाहिए और ध्यान में अंगों की कमजोरी के कारण असुविधा या बेचैनी नहीं होनी चाहिए। शरीर के सभी कार्य, यथा – श्वसन, रक्त संचार, पाचन, निष्कासन सभी कुछ अच्छी तरह होना चाहिए। इसके लिए तप करना आवश्यक है।

यह क्रिया वाला तप नहीं है। इसमें शरीर को कष्ट सहने का आदी होना चाहिए जिससे कि वह ताप, शीत, विष आदि को झेल सके। ध्यान के लिए स्वस्थ शरीर चाहिए।

मस्तिष्क, आँखों, कानों, नाक और त्वचा से शारीरिक अशुद्धियों को दूर कर देना चाहिए। इसके लिए तप सहायक होता है। ये तप पाँच प्रकार के होते हैं–

1. त्वचा को कठोर बनाने के लिए शरीर को सूर्य का सेवन करना चाहिए।
2. शरीर को छरहरा और ताम्रवर्ण का बनाने के लिए अग्नि के ताप का सेवन।
3. शरीर में ताप उत्पन्न करने के लिए प्राणायाम करना।
4. एक बिन्दु पर धारणा की अग्नि विकसित करना
5. उपवास की अग्नि।

ये पाँच अग्नियाँ जैवविष को दूर करती हैं और शरीर को कठोर बनाती हैं, ताकि वह ध्यान करने योग्य हो सके।

## सूत्र 44 (ix) – स्वाध्याय के फल

*स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः ॥44॥*

आत्मावलोकन द्वारा इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है।

स्वाध्याय का अर्थ है आँखें बन्द कर अपने आपको देखना, जैसा अन्तर्मौन में होता है। जब इसका अभ्यास होता है तब एक ऐसी क्षमता उत्पन्न होती है जिसके द्वारा व्यक्ति इष्ट देवता या देवी पर गहन रूप से ध्यान केन्द्रित कर सकता है।

## सूत्र 45 (x) – ईश्वर प्रणिधान के फल

*समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥45॥*

ईश्वर प्रणिधान द्वारा समाधि सिद्ध होती है।

ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण द्वारा, जो अत्यन्त कठिन है, व्यक्ति समाधि की अवस्था विकसित करने योग्य हो जाता है। यह ठीक-ठीक वह समाधि नहीं है जिसकी चर्चा पूर्व अध्याय में की गई थी। यह एक प्रकार की आत्मविस्मृति है जिसमें साधक की शरीर-चेतना खो जाती है और वह गहन सजगता प्रारम्भ करने तथा पूर्व प्रशान्ति और संयोग में रहने के योग्य हो जाता है। यह ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण से संभव होता है। यहाँ ईश्वर का तात्पर्य देवता के प्रति साधक का भाव है।

ईश्वर प्रणिधान का यह तकनीक क्रियायोग में भी सम्मिलित है, पर वहाँ लक्ष्य भिन्न होता है। यहाँ यह नियमों के अनुशासन के एक अंग के रूप में वर्णित है। यहाँ इसका उपयोग विशेष रूप से शरीर और मन की बाधाओं को हटाने के लिए किया जाता है, ताकि ध्यान की आध्यात्मिक सजगता बनी रहे। इस प्रकार साधक को पाँच यमों और पाँच नियमों का अभ्यास करना होता है।

## सूत्र 46 – आसन

*स्थिरसुखमासनम् ॥46॥*

आसन स्थिर और सुखद होना चाहिए।

ध्यान की संस्थिति के लिए आसन शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ आसन का अर्थ शारीरिक यौगिक व्यायाम नहीं है। सामान्यत: आसन शब्द यौगिक व्यायाम के अर्थ में प्रयुक्त होता है, पर यहाँ इसका अर्थ केवल ऐसी शारीरिक संस्थिति है जो ध्यान करते समय उपयोग में आती हैं। उदाहरणार्थ, स्वस्तिकासन, सिद्धासन, पद्मासन, स्थिरासन, और सुखासन ध्यान के लिए उपयुक्त होते हैं, परन्तु अन्य संस्थितियों की गणना भी आसनों में की जाये तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

चूँकि आसन का शाब्दिक अर्थ होता है – बैठना, हमें इसे इसी रूप में समझना है। केवल बाद में ऋषियों ने अन्य व्यायामों को भी आसनों में सम्मिलित कर लिया, यथा – शीर्षासन, आदि। राजयोगी यदि इन आसनों का अभ्यास करता है तो इसमें कोई हानि नहीं है। चूँकि वे महर्षि पतंजलि के सूत्रों में सम्मिलित नहीं हैं इसलिए इसका अर्थ यह नहीं कि ये अनावश्यक हैं। इस प्रकार जो आसन शरीर में संतुलन लाते हैं, उनका भी अभ्यास किया जा सकता है। यद्यपि उनका उल्लेख महर्षि पतंजलि ने नहीं किया है।

## सूत्र 47 – आसन किस प्रकार सिद्ध किये जायें

*प्रयत्नशैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम् ॥47॥*

प्रयत्न में शिथिलता और अनन्त नाग पर ध्यान करने से आसन सिद्ध होता है।

ध्यान के लिए चयनित आसन को स्थिर, सुखद एवं सिद्ध करने के लिए व्यक्ति को तनाव और प्रयास पर विजय प्राप्त करना है। अत: प्रयत्न में शिथिलता आनी चाहिए; आसन में पूर्ण शिथिलता होनी चाहिए। दूसरी बात यह कि मन को अनन्त पर केन्द्रित होना चाहिए।

अनन्त का अर्थ है जिसका अन्त न हो। इसका अर्थ शेषनाग भी होता है जिसकी शय्या पर विष्णु क्षीर सागर में शयन करते हैं, अत: प्रतीकात्मक रूप से अनन्त का अर्थ है शेषनाग, पर इस सूत्र में नाग या सर्प का उपयोग कुण्डलिनी शक्ति के संदर्भ में हुआ है। साधक को मूलाधार चक्र में अवस्थित कुण्डलिनी शक्ति पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए या कुण्डलिनी पर धारणा की अन्य किसी विधि का उपयोग करना चाहिए।

प्रयत्न में शिथिलता का अर्थ है कि आसन करते समय आपको संघर्ष नहीं करना पड़े, बल नहीं लगाना पड़े। आसन पूर्णत: शिथिल हो, और पेशियों या तंत्रिकाओं में कोई तनाव नहीं हो। अत: जो भी आसन व्यक्ति बिना किसी प्रयास के कर सकता हो, यथा सिद्धासन, पद्मासन या स्वस्तिकासन, उसे ध्यान के अभ्यास में बैठने के लिए लिया जाना चाहिए।

## सूत्र 48 – इस सिद्धि का परिणाम

*ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥48॥*

उसके बाद द्वन्द्वों का प्रभाव समाप्त हो जाता है।

द्वन्द्वों (विपरीत भावों का जोड़ों) का सम्बन्ध मानसिक एवं शारीरिक क्षेत्रों से होता है। शारीरिक क्षेत्र से सम्बन्धित द्वन्द्व हैं – गर्मी-ठंढक और भूख-प्यास, पीड़ा आदि। मानसिक द्वन्द्व हैं – सुख-दुःख। प्रायः हमेशा हमारा मन इन परिस्थितियों से गुजरता रहता है। इसके कारण अशान्ति होती है। गर्म दिनों में पसीना होता है, और हम बेचैन रहते हैं और जब सर्दियाँ आती हैं तब ठंढक बढ़ जाती है। अतः गर्मी में हम शीतलता चाहते हैं और शीतकाल में गर्मी पसन्द करते हैं। इस प्रकार ये द्वन्द्व हमारे मन को परेशान करते रहते हैं। एक साधक को इनके प्रतिरोध की शक्ति, तितिक्षा विकसित करनी चाहिए, शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार की। यह केवल यम, नियम और आसनों के अभ्यास से संभव है। व्यक्ति यदि ध्यान में आगे बढ़ना चाहता है तो उसे इन द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त करनी होगी। अतः द्वन्द्वों के कारण उत्पन्न बाधाओं को पार करने के लिए हमारी प्रतिरोधक क्षमता, तितिक्षा को अवश्य बढ़ाना होगा।

सभी द्वन्द्वों, जैसे – गर्मी-सर्दी, सुख-दुख पर निश्चित रूप से विजय प्राप्त करना है। शारीरिक और मानसिक संतुलन बनाये रखना संभव होना चाहिए। हर क्षण हमारी मनोवृत्ति नहीं बदलनी चाहिए। शरीर को गर्मी-सर्दी से बेचैन नहीं होना चाहिए। इसलिए शारीरिक और मानसिक प्रतिरोधक क्षमता होनी ही चाहिए। सूक्ष्म जीवों का सामना करने में प्रतिरोध शक्ति की बड़ी भूमिका होती है। जब परिवार में संक्रामक रोग, जैसे, सर्दी या इन्फ्लुएन्जा होता है तो परिवार के व्यक्तियों को रोगी से अलग रहने को कहा जाता है। विशेषकर उनको जिनकी प्रतिरोधक क्षमता कम होती है। यदि हम रोग के विषय में सोचते रहें तो हमारा मन कमजोर हो जाता है। व्यक्तित्व में अनेक कमजोरियाँ होती हैं, जो प्रतिरोधक क्षमता को कम कर देती हैं, परन्तु एक आध्यात्मिक साधक को प्रतिरोधक क्षमता का स्तर ऊँचा रखना चाहिए, जो आसनों के प्रभाव से संभव है।

## सूत्र 49 – प्राणायाम

*तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गति विच्छेद: प्राणायाम: ॥49॥*

आसनों के अभ्यास के पश्चात् श्वास और प्रश्वास की गति में विराम देना ही प्राणायाम है।

पर्याप्त रूप से यम, नियम और आसन को सिद्ध कर लेने के पश्चात् साधक को प्राणायाम के अभ्यास में प्रवेश करना चाहिए। यह श्वास और प्रश्वास का विराम है। न रेचक होगा और न पूरक, केवल कुम्भक ही होगा।

ध्यान देने की बात यह है कि प्राणायाम गहरा श्वसन नहीं है। उसी प्रकार, केवल एक बार जितनी देर संभव हो श्वास रोक लेना भी प्राणायाम नहीं है। प्राण का अर्थ है– श्वास, और आयाम का अर्थ है– नियन्त्रण के द्वारा लम्बाई या चौड़ाई को बढ़ाना। यह एक रोचक तथ्य है कि साँप, हाथी, कछुए आदि का जीवन लम्बा होता है, क्योंकि वे मनुष्य की अपेक्षा प्रति मिनट कम बार श्वसन करते हैं। यदि मनुष्य श्वास को रोक सके तो, उसका जीवन भी लम्बा हो सकता है, परन्तु इसके लिए प्रशिक्षण और अभ्यास आवश्यक है।

कहा जाता है कि प्राण एक जंगली हाथी के समान है। यदि आप प्राण को वश में करना चाहें, तो आपको बड़ी सावधानी रखनी होगी, जैसे हाथी को पालतू बनाने समय सावधानी रखनी पड़ती है। धैर्य और स्थिरता आवश्यक है, कोई उतावलापन या जल्दीबाजी नहीं होनी चाहिए। कुम्भक का अभ्यास धीरे-धीरे और सावधानीपूर्वक करना चाहिए। यदि कोई शारीरिक या मानसिक असुविधा होती है तो अभ्यास कुछ दिनों या महीनों के लिए रोक देना चाहिए। अभ्यास प्रारम्भ करने के पहले वायुमंडलीय अवस्था, भोजन की आदत, वय, शारीरिक अवस्था, और अन्य चीजों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। पर्याप्त सावधानी होनी चाहिए। हठयोग में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कुछ विशेष शारीरिक आसनों में प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिए। कुछ अन्य आसन हैं जिनमें प्राणायाम का अभ्यास किया जा सकता है, परन्तु साधक को जानना चाहिए कि किन आसनों में प्राणायाम करना चाहिए और किनमें नहीं करना चाहिए। इसके लिए प्राण के अर्थ की स्पष्ट जानकारी एवं

समझदारी होनी चाहिए। फेफड़े से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, यह जीवन प्रवाह से अधिक सम्बन्धित रहता है।

प्राणायाम का अन्तिम लक्ष्य है, श्वास को रोकने में सक्षम होना। तीन प्रकार के प्राणायाम हैं – पूरक, रेचक और कुम्भक। चौथा प्रकार है केवल कुम्भक, जो दो प्रकार का होता है – अन्तरंग और बहिरंग। कुम्भक मस्तिष्क में एक विशेष स्थिति उत्पन्न करता है। मेरुदण्ड के साथ-साथ स्थूल शरीर में एक विशेष परिवर्तन लाता है। प्राणायाम तंत्रिका तंत्र को और उसके द्वारा मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है। इससे फेफड़े का अधिक सम्बन्ध नहीं रहता है। पूरक, कुम्भक और रेचक शरीर में भिन्न-भिन्न प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

श्वास को बाहर या अन्दर रोकना ही प्राणायाम का प्रयोजन है। आयाम – प्राण की लम्बाई या दूरी को बढ़ा दिया जाता है, परन्तु प्रति मिनट श्वसन की संख्या कम हो जाती है। इस प्रकार यदि हम सामान्य रूप में प्रति मिनट 14 बार श्वसन करते हैं तो प्राणायाम में केवल एक या दो बार ही श्वसन करेंगे।

## सूत्र 50 – तीन प्रकार के प्राणायाम

*बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्ति: देशकाल संख्याभि: परिदृष्टो दीर्घ सूक्ष्म: ॥50॥*

प्राणायाम बाह्य, आन्तरिक या स्तम्भ वृत्ति वाले होते हैं जो स्थान, समय तथा संख्या द्वारा नियन्त्रित होते हैं और दीर्घ या सूक्ष्म बन जाते हैं।

प्राणायाम की तीन अवस्थायें हैं – पूरक, कुम्भक और रेचक। अभ्यास साधना स्थल पर निर्भर करता है कि वह उष्णकटिबन्धीय या समशीतोष्ण जलवायु का क्षेत्र है। यह स्थानीय आहार पर भी निर्भर करता है। नियमों का विस्तृत विवरण हठयोग की पुस्तक में दिया गया है।

काल का मतलब है पूरक, रेचक और कुम्भक की आनुपातिक अवधि। इसका अर्थ वर्ष का समय या ॠतु भी है। इस प्रकार, यदि आप जाड़े में 20 चक्र अभ्यास करते हैं तो गर्मी में दस ही चक्र करेंगे। संख्या का तात्पर्य चक्रों की संख्या से है। यह मात्रा की संख्या या समय की ईकाई पर निर्भर करता है। अत: प्राणायाम देश, काल और संख्या द्वारा निर्धारित होता है।

प्राणायाम की तकनीक गुरु से सीखनी चाहिए। जब आप प्रारम्भ करते हैं तो प्रारम्भ में 6:8:6 का अनुपात होना चाहिए। अन्त में आप 20:80:40 के अनुपात तक जा सकते हैं। यहाँ यह 1:4:2 हो जाता है, अर्थात् पूरक की अवधि समय की एक ईकाई, कुम्भक की चार ईकाई और रेचक की दो ईकाई। एक मात्रा में दो तालियों और एक चुटकी का समय लगता है। जो साधक 20:80:40 के अनुपात में प्राणायाम का अभ्यास करते हैं, उन्हें सर्वोत्तम साधक समझा जाता है। यह उत्तम प्राणायाम है। प्राणायाम की विशेषता चक्रों की संख्या पर निर्भर करती है; अन्तत: यह दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है।

तीनों अवस्थायें, अर्थात् पूरक, कुम्भक और रेचक दीर्घ होने चाहिए। 6:8:6 की मात्रा से प्रारम्भ कर अन्तत: 20:80:40 की मात्रा तक जाना चाहिए। प्राणों को इसी प्रकार दीर्घ किया जाता है और कुम्भक बढ़ाया जाता है, इस प्रकार यह प्रक्रिया सूक्ष्म हो जाती है।

## सूत्र 51 – चौथे प्रकार का प्राणायाम

*बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थ : ॥51॥*

चौथे प्रकार के इस प्राणायाम में आपको अन्तरंग या बहिरंग कुम्भक नहीं करना होता है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसा कि भगवद्गीता में वर्णन किया गया है, जहाँ कहा गया है कि अपान को प्राण से और प्राण को अपान से मिलायें। इसके द्वारा अन्दर आने वाली और बाहर निकलने वाली वास को मिला देने से साधक आने और जाने वाली संवेदना को समाप्त कर देता है। दूसरा – अन्दर आने वाली श्वास को अन्दर आने वाले श्वास में ही मिलायें। तीसरा – उसी समय आपको कुम्भक करना चाहिए। संवेदना को प्रवेश नहीं करने देना है। वस्तु की बाह्य संवेदना को बाहर ही छोड़ देना है और आन्तरिक संस्कार या अनुभवों को भीतर ही छोड़ देना है। बाह्य अभिव्यक्तियों को भीतर नहीं जाने देना है। यही चौथे प्रकार का प्राणायाम है। आप उज्जायी श्वास लेकर और उज्जायी श्वास छोड़ कर तथा अन्तरंग या बहिरंग कुम्भक द्वारा श्वास को रोके बिना, मन को एक विशेष अतीन्द्रिय मार्ग पर एकाग्र कर, इसे कर सकते हैं। धीरे-धीरे अनुभव को समाप्त करने तथा इन्द्रियानुभव के मार्ग को बन्द करने में सक्षम हो जाना चाहिए। यही चतुर्थ प्रकार का प्राणायाम है। वस्तुत: यह अजपा जप है।

## सूत्र 52 – आवरण को हटाना

*ततः क्षीयतेप्रकाशावरणम् ॥52॥*

इस प्रकार प्रकाश पर पड़ा आवरण विलीन हो जाता है।

प्राणायाम की साधना करने से अतीन्द्रिय केन्द्र जाग्रत हो जाते हैं और परिणाम स्वरूप ज्ञान पर पड़ा आवरण हट जाता है। यहाँ प्रकाश का अर्थ है अतीन्द्रिय केन्द्र। अतीन्द्रिय केन्द्र सामान्यतः इन्द्रियानुभवों के कारण आच्छादित हो जाते हैं। इन सूक्ष्मतर वाहनों की दीप्ति मस्तिष्क के स्थूल पदार्थ से सीमित या आच्छादित हो जाती है। यह आवरण प्राणायाम के द्वारा हटता है। अतीन्द्रिय क्षमता पर स्थूल पदार्थों के आवरण को इस प्रकार हटाने को प्रकाश पर पड़ा आवरण हटाना कहा जाता है। इसका अर्थ होता है कि जब आपने प्राणायाम की साधना कर ली है तब आप में कुछ घटित होता है जिसके द्वारा आवरण से नियंत्रण या मस्तिष्क की स्थूल बनावट की बाधा से अतीन्द्रिय शक्ति मुक्त हो जाती है।

जब आप बिजली के प्रकाश या पंखे का स्विच चालू करते हैं तब उस समय भी ऊर्जा मुक्त होती है। प्राणायाम भी मस्तिष्क में वैसी ही स्थिति उत्पन्न करता है, जिसके द्वारा अन्तर्निहित अतीन्द्रिय क्षमता उन्मुक्त होती है।

## सूत्र 53 – मन धारणा के योग्य हो जाता है

*धारणासु च योग्यता मनसः ॥53॥*

मन (प्राणायाम के द्वारा) धारणा के लिए सक्षम हो जाता है।

प्राणायाम करने से मन में धारणा की योग्यता विकसित होती है, और व्यक्ति धारणा की अवस्था में मन को एकाग्र करने में समर्थ हो जाता है। इसका कारण है कि ज्ञान के आलोक पर पड़ा आवरण हट जाता है। इसके बाद प्रत्याहार की अवस्था आती है।

## सूत्र 54 – प्रत्याहार

*स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥54॥*

यह समझना चाहिए कि प्रत्याहार का अर्थ है इन्द्रियानुभव के विषयों से मन को वापस खींच लेना। तब इन्द्रियाँ मन के अनुसार काम करती हैं, इसके विपरीत नहीं। गंध, स्वाद, दृष्टि, स्पर्श और श्रवण की क्षमतायें अपनी वस्तुओं से वापस लौटा ली जाती हैं और इन्द्रियाँ मन का भीतर अनुसरण करने लगती हैं, बाहर नहीं। यह इन्द्रिय कर्मों से मन का अपनयन या वापस लौटना है, ताकि इन्द्रियाँ भी मन के साथ अन्तर्मुखी हो जायें। वे मन की नकल करती हैं और अन्दर में ही मन का अनुसरण करती हैं।

## सूत्र 55 – इन्द्रिय निग्रह

*ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥55॥*

(प्रत्याहार द्वारा) इन्द्रियों का परम निग्रह होता है।

कुछ विद्वान् मानते हैं कि इन्द्रिय निग्रह का अर्थ केवल इन्द्रियों का दमन है। वे इसे असामान्य स्थिति मानते हैं, परन्तु जो ध्यान करना चाहते हैं और मन की गहराईयों में गहरे उतरना चाहते हैं, उनके लिए यह महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि जगत् के विषयों से अपने को अन्तर्मुखी बना लें। मन की गहराई में प्रवेश करने के लिए वस्तुओं से सम्पर्क कट जाना आवश्यक है। जब मन बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क में रहता है तब उसे चेतना के गहरे पक्षों का ज्ञान नहीं रहता। जब व्यक्ति गहरे पक्षों के प्रति सजग रहता है तब वह इन्द्रियों के जगत् को नहीं जानता।

यह स्मरण रखना महत्त्वपूर्ण है कि चेतना, आत्मा वस्तुतः विकसित नहीं होती। आत्मा का विकास नहीं होता। प्रत्याहार की साधना से हम वस्तुतः विकसित नहीं होते, यह तो प्रतिप्रसव की प्रक्रिया है। यह कहना सही नहीं है कि हमारी आत्मा का विकास आदिम अवस्था से वर्तमान विकसित अवस्था तक हुआ है। परम सत्ता या आत्मा वैसी ही है जैसी हजारों वर्ष पहले थी, इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। अन्तर केवल इतना ही है कि हमारी जीवात्मा धीरे-धीरे क्रमशः उस परम रूप के प्रति सजग हो गयी है।

जब हम अपने मन को बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् की ओर मोड़ते हैं तब हम जान पाते हैं कि हमारे अन्दर जो सत्ता है उसके अनन्त पक्ष हैं जिनका अनुभव समाधि में ही किया जा सकता है। यह बुद्धि के लिए अगम्य है। अतः इस अध्याय का लक्ष्य एक ऐसी साधना देना है जो यम और नियम से प्रारम्भ होकर प्रत्याहार में समाप्त होती है।

प्रत्याहार अनेक प्रकार के हैं, उदाहरणार्थ – त्राटक, नाद योग, जप, संगीत, कीर्तन आदि। इन सबका उद्देश्य इन्द्रियों की सजगता को शुद्ध करना है और उसे अन्तर्मुखी बनाना है। कुछ व्यक्ति केवल नाद योग की साधना द्वारा इसमें प्रवेश पा जाते हैं, कुछ को जप आसान पड़ता है। कभी-कभी आप प्रत्याहार को कुछ समय के लिए रोक कर रख सकते हैं,

उसके बाद आप पाते हैं कि गम्भीरता से अभ्यास करने के बावजूद कुछ नहीं हो पा रहा है। अत: प्रत्याहार की समस्या कठिन हो जाती है। यदि आप प्रत्याहार की तकनीक को सिद्ध कर लेते हैं तब धारणा सरल हो जाती है। जब तक प्रत्याहार के क्षेत्र को पार नहीं किया जाता, धारणा और ध्यान में प्रवेश असंभव है।

प्रत्याहार में अनेक साधनायें हैं। दीक्षा के समय गुरु शिष्य के लिए उपयुक्त साधना का चुनाव करते हैं।

## तृतीय सोपान

# विभूति पाद

**(56 सूत्र)**



## सूत्र 1 – धारणा क्या है?

*देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥1॥*

मन को एक स्थान पर बाँधे रखना धारणा है।

स्थान का अर्थ है मानसिक या शारीरिक स्थान। अनेक शास्त्रों में कहा गया है कि साधक के लिए तीन आधार – वस्तुगत, व्यक्तिगत और काल्पनिक उपलब्ध हैं। अत: धारणा का अर्थ है मन को एक बिन्दु, एक वस्तु या एक क्षेत्र में बन्द करके रखना। एकाग्र अवधान का एक अच्छा उदाहरण महाभारत में है। पाण्डवों को धनुर्विद्या की शिक्षा देते समय उनके गुरु द्रोणाचार्य ने उनसे पूछा कि वे कौन-सी वस्तु देख रहे हैं? अर्जुन ने कहा लक्ष्य में दिये गये पक्षी की आँख के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं दिख रहा है। यह एकाग्रता की धारणा का एक उदाहरण है।

जब मन किसी बिन्दु पर एकाग्र होता है तो दृष्टि तीव्र हो जाती है। जब आँखें बन्द कर लेते हैं तब वस्तु, जो एक विचार, एक भाव या एक शब्द के रूप में भी हो सकती है, चेतना में तीव्रता के साथ प्रकट होती है। मन विचलित नहीं होता है या एकाग्रता के बिन्दु को नहीं छोड़ता है। यदि वह स्थिर नहीं रहता तो वह विक्षेप है। विक्षेप का अर्थ है दोलन। धारणा में देश के अतिरिक्त अन्य किसी चीज की सजगता नहीं रहती है। कभी-कभी कहा जाता है कि आपकी धारणा के लिए दो क्षेत्र हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, जप करते समय मंत्र एक तत्त्व है, और रूप दूसरा तत्त्व है। नये साधक के लिए जप के साथ दो तत्त्वों पर धारणा अपेक्षाकृत अच्छा है। बाद में व्यक्ति बिना जप के धारणा कर सकता है। जब तक मस्तिष्क के अन्दर रक्त का अधिक प्रवाह होता रहेगा तब तक वहाँ कम्पन होता रहेगा और एकाग्रता कठिन हो जायेगी। रक्त के प्रवाह को कम करना होगा, ताकि कम्पन नहीं हो। इसके लिए हम दृष्टि-तंत्र का उपयोग करते हैं।

दृष्टि-तंत्र के द्वारा स्थूल मस्तिष्क का कम्पन कम किया जा सकता है। यदि आप आँखें खोलकर एक बिन्दु पर देखते हैं, कुछ देर तक पलकें नहीं झपकाते हैं और उसके बाद आप आँखें बन्द कर लेते हैं तब आपको पाँच मिनटों में नींद आ जायेगी। किसी पात्र में रखे पानी की सतह पर उठ रही

लहरों को शान्त करने के लिए जल को शान्त किया जाता है, उसी प्रकार अशान्त करने वाले विभिन्न तत्त्वों को शान्त कर मस्तिष्क के कम्पन को शान्त किया जा सकता है। यहाँ तक कि शरीरक्रियात्मक मस्तिष्क को भी शान्त करना होगा। इसके लिए, हम मन को एक बिन्दु, यथा–मूलाधार, मणिपुर या आज्ञा चक्र आदि शरीरस्थ चक्रों पर स्थित करते हैं और चेतना को उसी पर स्थिर कर देते हैं।

यदि मन विचलित होता है, तो उसे वैसा नहीं करने दें। इस प्रकार मस्तिष्क की क्रियाएँ कुछ देर के लिए बन्द हो जाती हैं और उसी अवधि में एकाग्रता आ जाती है। प्रारम्भ में मन को लम्बे समय एकाग्र करना संभव नहीं होता।

एकाग्रता विस्मृति की अवस्था नहीं है। यदि आप धारणा की वस्तु के साथ सभी चीजों को भूल जाते हैं, तो वह शून्य समाधि या लय है, परन्तु एकाग्रता में मात्र एक वस्तु की सजगता रहनी चाहिए। यदि आप मंत्र पर धारणा कर रहे हैं तो उसकी सजगता अखण्ड रूप से पूरे समय बनी रहनी चाहिए। यदि इसमें अखण्डता भंग होती है तो वह धारणा है और यदि अखण्डता भंग नहीं होती है तो वह ध्यान है। यह स्मरण रखना चाहिए कि धारणा में यह सजगता बनी रहती है कि आप धारणा कर रहे हैं। ध्यान धारणा से भिन्न नहीं है, यह उसकी उच्चतर विशेषता है।

धारणा में वस्तु की सजगता बनी रहती है जो इस प्रक्रिया में यदाकदा भंग होती रहती है। सजगता बाह्य आवाज सुनने या मन में आने वाले विभिन्न विचारों के कारण भी भंग हो सकती है। अत: धारणा में एकाग्रता की खण्डित सजगता भी सम्मिलित रहती है।

कभी-कभी एकाग्रता इतनी प्रबलता के साथ भंग हो जाती है कि पुन: एकाग्र होना कठिन हो जाता है। इसे विक्षेप कहते हैं। यह विघ्न है। नये साधक सदा यह कठिनाई अनुभव करते हैं। कभी तो वे मन को बिन्दु पर वापस ले आने में सक्षम हो जाते हैं और कभी सक्षम नहीं हो पाते हैं। यह भौतिक शरीर के स्थिर नहीं होने के कारण होता है। शरीर में थोड़ी हलचल से भी हृदय की गति तेज हो जाती है, श्वसन तेज हो जाता है और बाधा उत्पन्न हो जाती है। जब शरीर पत्थर के समान बिल्कुल स्थिर रहता है तब धारणा पक्की होती है। इसीलिए आसन में स्थिरता होना अत्यन्त अनिवार्य है।

## सूत्र 2 – ध्यान क्या है?

*तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम् ॥2॥*

वहाँ चेतना के प्रत्यय की अविरत धार ध्यान है।

प्रत्यय का अर्थ है चेतना का आधार, जो एक भाव, ध्वनि, या स्थूल या सूक्ष्म वस्तु हो सकती है। यदि धारणा में चेतना अविरत हो जाती है ताकि किसी अन्य विचार के कारण अवरोध या क्रम भंग नहीं हो तब धारणा ध्यान में बदल जाती है। धारणा करते समय कभी-कभी हमें ध्यान का अनुभव होता है। ध्यान में चेतना का अविरत प्रवाह रहता है।

यदि आप किसी वस्तु का मानस-दर्शन कर रहे हैं, तो आपको केवल उसी वस्तु का मानस-दर्शन नहीं करना चाहिए, आपको यह भी मानस दर्शन करना चाहिए कि आप धारणा का अभ्यास कर रहे हैं। यह महत्त्वपूर्ण है। कभी-कभी आप वस्तु के प्रति विस्मरणशील हो जा सकते हैं, पर वहाँ ध्यान की सजगता रहती है, जिसे साक्षी भाव कहते हैं। अन्यथा, सामान्यत: होता यह है कि यदि धारणा में आपका मन भटक जाता है, तो आप उसे जान नहीं पाते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। इस प्रकार ध्यान में दो चीजें सम्मिलित हैं – पहली, एकमात्र वस्तु की चेतना का अविरल सतत् प्रवाह, और दूसरी, आप सतत् धारणा कर रहे हैं इसकी सजगता। ये दो प्रकार की सजगतायें साथ-साथ चलती हैं।

## सूत्र 3 – समाधि क्या है?

*तदेवामार्थमात्रनिर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः ॥3॥*

वह अवस्था समाधि बन जाती है, जब चेतना स्वानुभूति से रहित हो जाती है और केवल ध्यान की वस्तु की प्रतीति रह जाती है।

यह उल्लेखनीय है कि धारणा ही ध्यान में बदल जाती है, और ध्यान समाधि में परिणत हो जाता है। धारणा में चेतना भंग होती रहती है, ध्यान में वह अविरत रहती है, जबकि समाधि में अर्थ के साथ एकाकार हो जाती है। यहाँ अर्थ का तात्पर्य धारणा की वस्तु से है। यह एक स्थूल या सूक्ष्म वस्तु हो सकती है। समाधि में यह चेतना नहीं रह जाती है कि व्यक्ति एकाग्रता का अभ्यास कर रहा है।

कभी-कभी कहा जाता है कि धारणा की गहरी स्थिति में ध्यान की वस्तु विलुप्त हो जाती है, पर यह सूत्र कहता है कि वस्तु विलुप्त नहीं होती, वरन् उसके विपरीत केवल वही रह जाती है। इस प्रकार यदि आप ॐ पर ध्यान कर रहे हैं, प्रतीक ॐ, जिसे अर्थ कहते हैं, समाधि में विद्यमान रहेगा। वह विलुप्त नहीं होगा, वरन् सजगता में वह अकेला ही पूर्ण प्रकाशित रहेगा।

ध्यान की वस्तु स्पष्ट से स्पष्टतर होती जाती है, और जैसे-जैसे आप समाधि की गहरी अवस्था में प्रवेश करते जाते हैं उसकी उपस्थिति अधिकाधिक जीवन्त होती जाती है। उसके बाद एक और महत्त्वपूर्ण बिन्दु है – आप अपने अस्तित्व के प्रति भी सजग नहीं रह जाते हैं। यह भी सजगता नहीं रह जाती कि आप धारणा का अभ्यास कर रहे हैं। इस प्रकार समाधि के दो लक्षण हैं, प्रथम, केवल वस्तु की चमक रहती है और दूसरा, अपनी या प्रक्रिया की सजगता भी नहीं रहती है। चूँकि समाधि में वस्तु के अतिरिक्त कोई चेतना नहीं रहती, मन भी क्रियाशील प्रतीत नहीं होता, पर वह भावशून्य भी नहीं रहता, इसीलिए 'इव' शब्द का प्रयोग हुआ है।

जैसे-जैसे साधक धारणा के मार्ग पर प्रगति करता जाता है, प्रारम्भ में एकाग्रता रहती है, परन्तु यदा-कदा वह भंग भी होती जाती है। इस प्रकार एकाग्रता कुछ देर चलती है, और अकस्मात् भंग हो जाती है। यह पहला चरण है। दूसरे चरण में ध्यान अधिक रहता है, वह कम भंग होता है। तृतीय

चरण में आप धारणा से प्रारम्भ करते हैं और शीघ्र ध्यान में चले जाते हैं और फिर अकस्मात् शून्य आ जाता है। यह समाधि की प्रथम अवस्था है, आप वस्तु को स्मरण रखते हैं, पर अन्य कोई सजगता नहीं रहती। मन या चेतना का नाश नहीं होता, इसकी विद्यमानता अस्थायी रूप से समाप्त हुई प्रतीत होती है, क्योंकि आप अपने प्रति या धारणा की प्रक्रिया के प्रति सजग नहीं रहते।

## सूत्र 4 – संयम क्या है?

*त्रयमेकत्र संयम: ॥4॥*

तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) एक साथ संयम कहलाते हैं।

पूर्ववर्णित तीनों प्रक्रियाओं की समग्रता संयम है। इसमें दो पद है – सम् – सम्पूर्ण और यम् – नियंत्रण। अत: संयम का अर्थ है, अतीन्द्रिय प्रक्रिया पर पूर्ण नियंत्रण या मानसिक एकाग्रता पर पूरा नियंत्रण। यह योग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। यह यौगिक शक्तियों को हमारे सम्मुख उद्घाटित करता है। विभिन्न वस्तुओं या विचारों पर संयम का प्रयोग अतीन्द्रिय शक्तियाँ उत्पन्न करता है, जिन्हें विभूति कहते हैं।

संयम को तब तक पूरा नहीं कहा जा सकता है, जब तक धारणा की तीनों प्रक्रियाओं का एकीकरण नहीं होता। ध्यान की वस्तु अत्यन्त स्पष्ट हो जानी चाहिए, और कोई व्यक्तिगत चेतना नहीं रहनी चाहिए। ध्यान की वस्तु शरीर या मन, या समाज या व्यक्तिगत स्वामित्व आदि से सम्बन्धित हो सकती है, पर ये दो तत्त्व होने चाहिए। संयम व्यक्तिगत और वस्तुगत सजगता से प्रारम्भ होता है, अर्थात् द्विविध सजगता। आप अपने ध्यान की वस्तु के प्रति एक साथ अन्दर और बाह्य जगत् में भी सजग हैं, पर धीरे-धीरे बाहर का द्वार बन्द हो जाता है और आप केवल अन्दर की वस्तु को देखते हैं। वह ध्यान है। तब अन्दर दिखने वाली वस्तु अधिकाधिक स्पष्ट होती जाती है, और उसी के साथ आप अपनी व्यक्तिगत चेतना खो देते हैं। इसे समाधि कहा जाता है। तीनों एक साथ मिलकर संयम कहलाते हैं।

## सूत्र 5 – संयम का परिणाम

*तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥5॥*

उस (संयम) को सिद्ध कर लेने पर प्रज्ञा का आलोक प्रकट होता है।

जब किसी वस्तु पर ध्यान चलता रहता है, और जब वस्तु बहुत स्पष्ट हो जाती है और उस समय अपनी व्यक्तिगत चेतना नहीं रहती, तब इसे संयम की अवस्था कहते हैं। यह धारणा की वस्तु की उच्चतर चेतना उत्पन्न करता है। यदि ॐ पर ध्यान हो रहा हो, तो वह अत्यन्त स्पष्टता से प्रकट हो जाता है।

जब हम आँखों से किसी चीज को देखते हैं तो वह इन्द्रिय चेतना है। जब हम आँखें बन्द कर वस्तु को देखने का प्रयास करते हैं तो यह मानसिक चेतना है। जब वह वस्तु, उदाहरणार्थ ॐ, छाया के रूप में आता है, यह अपेक्षाकृत गहरी चेतना है। जब यह अपनी पूरी स्पष्टता और तेज के साथ अकस्मात् अन्दर में चमक उठता है, तो इसे उच्चतर चेतना कहते हैं।

साधक अपने शरीर, अपने अस्तित्व, अपनी चेतना, और बाह्य जगत् की चीजों के प्रति सजग हो सकता है, परन्तु तब फिर वह पलकें झपका लेता है। जब प्रतीक या वस्तु स्पष्ट रूप से चमक उठती है तब पुनः चेतना लौट आती है। उसके बाद वस्तु पुनः स्पष्ट रूप से चिदाकाश में चमकती है, परन्तु आत्मचेतना खो जाती है। उस अवस्था में प्रज्ञा की अभिव्यक्ति होती है। इसे ही प्रज्ञालोक कहते है। जिसका अर्थ है उच्चतर चेतना के आलोक का जागरण, जिसमें ध्यान की वस्तु स्पष्टतम ढंग से दीप्त हो जाती है।

## सूत्र 6 – इसका उपयोग

*तस्य भूमिषु विनियोग: ॥6॥*

उस (प्रज्ञालोक) का उपयोग चेतना की विभिन्न सूक्ष्मतर अवस्थाओं में किया जाना चाहिए।

अब यहाँ से आगे संयम शब्द का प्रयोग धारणा, ध्यान और समाधि के लिए किया जायेगा। संयम का अभ्यास विभिन्न वस्तुओं पर होना चाहिए। वे चेतना की सूक्ष्मतर अवस्थायें हैं, जिन्हें भूमि कहा जाता है। दूसरे शब्दों में ये वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता की अवस्थायें हैं। सूक्ष्मतर अवस्थाओं पर संयम का प्रयोग न केवल समाधि की अवस्था में होना चाहिए, वरन् साधना की सभी अवस्थाओं में होना चाहिए।

यह प्रयोग एक कठिन प्रक्रिया है। मान लें, एक वैज्ञानिक इन्द्रिय जगत् से सम्बन्धित एक विशेष समस्या लेता है। अपने काम की अवधि की सभी आवस्थाओं में वह इसके विषय में सोचता है। चिन्तन अनवरत और तीव्र है, सजगता है। यह एक प्रकार का संयम है, जिसके माध्यम से वह समस्या की पृष्ठभूमि के सत्य को जान लेता है, गहन तन्मयता की अवस्था में उस पर यह प्रकट होता है। वह उस सत्य पर चिन्तन करता है, और आगे एक और गहरे सत्य को जानता है। अब वह उसे ले लेता है, और पहले वाले को छोड़ देता है, तब वह अन्य किसी के विषय में नहीं सोचता है। अन्ततोगत्वा वह मूल तथ्य पर पहुँचता है जो उस पर तीसरे चरण में प्रकट होता है।

उसी प्रकार, एक संन्यासी या योग का साधक पहले स्थूल वस्तुओं पर संयम का अभ्यास करता है और धीरे-धीरे समस्या के मूल आधार में जाता है। जब एक नया विचार, नया सत्य प्रकट होता है तब वह उसे ग्रहण कर लेता है और वह उससे भी सूक्ष्म और गहरे सत्य की तह में जाता है। अन्तत: वह मूल सत्य तक पहुँच जाता है जो किसी भी सम्बन्ध या माया से परे होता है। नाम और रूप से परे वह मौलिक वास्तविकता या सत्य के सामने खड़ा होता है। यही संयम का प्रयोग है।

इस प्रकार संयम का अभ्यास एक व्यक्ति या एक वस्तु या इसके गुणों पर और उसके बाद उसमें निहित मूल तत्त्व पर करना चाहिए। इस प्रकार संयम का प्रयोग स्थूल और सूक्ष्म अवस्थाओं पर होता है।

## सूत्र 7 – ये तीनों अन्तरंग हैं

*त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः ॥7॥*

ये तीनों पूर्वोक्त की अपेक्षा अन्तरंग हैं।

धारणा, ध्यान और समाधि का त्रित्व योग के प्रथम पाँच अंगों, अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार की तुलना में अन्तरंग हैं। अन्तरंग का अभिप्राय है, सूक्ष्मतर, उत्कृष्टतर। पहले पाँच अंग बुद्धि, स्वभाव, आदत, आचरण, इन्द्रियों और प्राण के क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। वे अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश से सम्बन्धित हैं। अतः उन्हें बहिरंग कहा जाता है। वे सभी बाह्य जगत् से सम्बन्धित हैं।

अन्तरंग का अर्थ है आन्तरिक, अन्तर्मुखी। जब आप दरवाजे की चौखट पर खड़े हैं तब आप बाहर और भीतर दोनों के प्रति सजग हैं। यह प्रत्याहार है। जब आप चौखट पर नहीं खड़े हैं, परन्तु बाहर देख रहे हैं तब यह यम, नियम आसन और प्राणायाम है।

प्रत्याहार तक पाँचों अंग आपकी व्यक्तिगत आदतों से सम्बन्धित हैं, वे बाह्य जगत् से सम्बन्धित हैं। आपकी चेतना के गहरे तलों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है और इसलिए इस सूत्र में कहा गया है कि धारणा, ध्यान और समाधि एक साथ अन्तरंग अनुशासन हैं।

## सूत्र 8 – फिर भी निर्बीज समाधि की तुलना में बहिरंग हैं

*तदपि बहिरंग निर्बीजस्य ॥8॥*

वे (तीनों) फिर भी निर्बीज समाधि की अपेक्षा बहिरंग हैं।

निर्बीज समाधि अन्तरतम या सूक्ष्मतम अवस्था है, अत: धारणा, ध्यान और समाधि भी निर्बीज समाधि की अपेक्षा बाह्य हैं। निर्बीज समाधि में प्रत्यय, वस्तु, बीज नहीं होता है, परन्तु केवल शुद्ध सजगता रहती है। संयम सबीज समाधि से सम्बन्धित है, अत: सम्प्रज्ञात की चार अवस्थायें निर्बीज समाधि की अपेक्षा बहिरंग मानी जाती हैं।

इस प्रकार प्रथम पाँच अंग, यथा – यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि से बहिरंग हैं। और बाद वाले तीन निर्बीज की अपेक्षा बहिरंग हैं।

सबीज समाधि निर्बीज समाधि की अपेक्षा बहिरंग है, इस कथन के पीछे एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है। इसमें हमें जानना चाहिए कि यद्यपि हम संयम के माध्यम से अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर सकते हैं, फिर भी यह उच्चतम अवस्था नहीं है। उच्चतम अवस्था, अर्थात् निर्बीज समाधि सर्वथा भिन्न है। अतीन्द्रिय क्षमतायें, जो हम संयम द्वारा प्राप्त कर लेते हैं, सबीज समाधि के क्षेत्र में आती हैं, जो अन्तिम अवस्था नहीं है। अत: आध्यात्मिक साधक को सबीज समाधि से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि गहनतम स्तर, अर्थात् निर्बीज समाधि तक जाना चाहिए।

संयम का अभ्यास किसी भी वस्तु पर किया जा सकता है, जो शरीर के अन्दर या बाह्य जगत् में भी हो सकती है; यह स्थूल या सूक्ष्म हो सकती है या आपके शरीर का कोई अंग हो सकती है, जैसे, नासिकाग्र या जीभ इत्यादि। संयम का अभ्यास न केवल वर्तमान की वस्तुओं पर किया जा सकता है, बल्कि अतीत की वस्तुओं पर भी किया जा सकता है, जैसे कोई पूर्व जन्म, या इसका अभ्यास एक भावी जन्म पर भी किया जा सकता है। किन्तु यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि किसी भी प्रकार का संयम निर्बीज समाधि से बाहर होता है।

## सूत्र 9 – निरोध परिणाम

*व्युत्थान निरोध संस्कारयोरभिभव प्रादुर्भावौ निरोधक्षण चित्तान्वयो निरोध परिणामः ॥9॥*

निरोध परिणाम मन की वह रूपान्तरित अवस्था है, जहाँ यह निरोध के क्षण से व्याप्त है। यह संस्कारों के बीच प्रकट और विलुप्त होती रहती है।

इस सूत्र में योगाभ्यास में सम्मिलित मानसिक रूपान्तरण की मौलिक अवस्था की व्याख्या की जा रही है। जब समाधि सिद्ध हो जाती है, तो आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि आपकी चेतना का निश्चित रूपान्तरण हुआ है। वह परिवर्तन चेतना के क्षेत्र में होता है। परिणाम ही परिवर्तन है। उदाहरणार्थ, दही दूध का परिणाम है। समाधि में या प्रारम्भिक साधना में भी मन का रूपान्तरण होता है। ये परिवर्तन विभिन्न बिन्दुओं पर विभिन्न मात्राओं में होता है। पूरे रूपान्तरण का तीन वर्गीकरण किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में रूपान्तरण का निरोध रूप में वर्णन किया गया है। दो और रूप हैं जिनका वर्णन अगले सूत्रों में किया गया है। उन्हें समाधि रूप में रूपान्तरण और एकाग्रता रूप में रूपान्तरण कहा जाता है।

इस प्रकार समाधि की उपलब्धि के उपरान्त मन में ये तीन परिवर्तन होते हैं। यह समझना चाहिए कि समाधि परिणाम पहले आता है, एकाग्रता परिणाम उसके बाद और निरोध परिणाम अन्त में आता है। यह इसी प्रकार होता है। जब आप संयम की साधना प्रारम्भ करते हैं तब मन तीन चरणों में रूपान्तरित होता है। पहला चरण है समाधि, दूसरा चरण एकाग्रता और तीसरा चरण निरोध है। यही क्रम है, पर इस सूत्र में यह बदल गया है।

निरोध ध्यान की वस्तु को दबाता है। यह बड़ा रोचक विषय है। जब आप संयम की साधना करते हैं, उदाहरणार्थ, आधार के रूप में ॐ को लेते हैं तो आप उसी के प्रति सजग होना चाहते हैं, अन्य किसी चीज के प्रति नहीं। सभी विक्षेपों को पार कर लिया जाता है, भले ही वे गुरु, ईश्वर या कोई अन्य भाव हों। ॐ के अतिरिक्त अन्य सभी का निरोध किया जाता है। यही समाधि परिणाम कहलाता है और उसके द्वारा आप शान्त अवस्था प्राप्त करते हैं। जब आप उस अवस्था को पूरा कर लेते हैं तब ॐ स्पष्ट हो जाता है और आपके

मन में उसका सतत् प्रवाह रहता है। यदि यह आधे घण्टे तक चलता रहता है, तो हर क्षण ॐ आपकी सजगता में रहता है। इस प्रक्रिया में एक ॐ दूसरे ॐ का अनुसरण करता है और यह निरन्तरता बनी रहती है। यह तेल वाले दीपक की लौ के सातत्य के समान है। इस अवस्था में मन का रूपान्तरण होता है जिसे एकाग्रता परिणाम कहते हैं।

जब आप आगे बढ़ते हैं तब आपको अकस्मात दूसरा विचार आता है; यह निरोध नहीं हैं, उसे व्युत्थान कहते हैं जो पूर्व चेतना का पुनःप्रवर्तन है। उसके बाद वह दबता है और ॐ पुन: प्रकट हो जाता है; दबाये जाने की वह विशेष अवधि निरोध कहलाती है। वह एक परिणाम है।

अब साधक को जानना चाहिए कि प्रत्यय को किस प्रकार पूरी तरह हटाया जाये। निरोध परिणाम में व्यवधान उपस्थित करने वाले प्रत्ययों को दबा दिया जाता है। तत्पश्चात् एक ऐसी अवधि आती है जब आपका मन एकाग्रता परिणाम में रूपान्तरण की दूसरी अवस्था में जाता है। तब, उसके बाद, ॐ पर एकाग्रता के बदले आपको बीच की अवधि पर एकाग्रता करनी होती है, और मन से ॐ को हटाने का प्रयास किया जाता है। मन से प्रत्यय को हटाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि जैसे ही आप अपनी चेतना को वस्तु रहित, शून्य बनाने का प्रयास करते हैं, ॐ पुन: आ जाता है। उसे निकालना ही है। वह पुन: आयेगा और उसे पुन: हटाना होगा। अभ्यास से बीच की अवधि बढ़ती जायेगी, प्रत्यय अन्ततः विलुप्त हो जायेगा। तब परम शून्य हो जायेगा। यही निरोध परिणाम की अवधि है। योग की यह विलक्षण विधि है, जिसे समझना अत्यावश्यक है। योग पहले एक काँटे को दूसरे काँटे की सहायता से निकालने का प्रयास करता है, और जब काँटा निकल जाता है तब दूसरे काँटे को भी फेंक दिया जाता है। योग एक विशेष प्रत्यय, या प्रतीक को लाकर चेतना में रूपान्तरण लाने का प्रयास करता है और फिर उसको भी निकाल देता है। अत: निरोध परिणाम प्रत्यय को त्याग देना है, जिसे व्यक्ति वर्षों से पोषित करता आया है।

व्युत्थान और निरोध चेतना की दो प्रकार की गतिविधियाँ हैं। ये दो प्रकार के क्रियाशील संस्कार चेतना के प्रभाव हैं, जो निग्रह और प्रकटीकरण के कारण हैं। इस प्रकार ये दो निग्रह और प्रकटीकरण की अवस्थायें आती और जाती हैं और उन्हीं के साथ प्रत्यय आता और जाता है। इस प्रकार जब भी चेतना में एकमात्र प्रत्यय बार-बार आता है, तो दो प्रत्ययों के प्रकटीकरण के मध्य

निरोध परिणाम रहता है, पर उस प्रत्यय को भी दबाना है। वहाँ पूर्ण शून्य की एक अवस्था आती है तब प्रत्यय पुन: आ जाता है।

लय निरोध से भिन्न है। कभी-कभी ध्यान का अभ्यास करते समय क्षणिक शून्यता आती है जिसमें सब कुछ विलुप्त हो जाता है, यह लय है निरोध नहीं। यह अनैच्छिक है। निरोध ऐच्छिक निग्रह है जो लय से भिन्न है। ऐच्छिक निग्रह के रूप में रूपान्तरण मन का अन्तिम रूपान्तरण है। भौतिक शरीर में भी रूपान्तरण होता है, यथा – शैशव, युवा और वृद्धावस्था।

धारणा से समाधि तक तीन रूपान्तरणों या अवस्थाओं, यथा – समाधि परिणाम, एकाग्रता परिणाम और निरोध परिणाम के द्वारा मन का इसी प्रकार का रूपान्तरण होता है। समाधि परिणाम में आप प्रत्यय स्थापित करते हैं और अन्य विचारों को कम करते हैं। एकाग्रता परिणाम में आप प्रत्यय को कायम रखते हैं, क्योंकि अभी कोई विक्षेप नहीं रहता है और मन शान्त रहता है। निरोध परिणाम में आप प्रत्यय को कम करने का प्रयास करते हैं, जिसे आपने स्थापित किया था और अब आप शून्य को स्थापित करने का प्रयास करते हैं। इसके द्वारा आप सबीज समाधि के क्षेत्र का अतिक्रमण करते हैं और निर्बीज समाधि में प्रवेश करते हैं।

## सूत्र 10 – निरोध परिणाम के फल

*तस्य प्रशान्त वाहिता संस्कारात् ॥10॥*

निरोध परिणाम का प्रवाह संस्कार की आवृत्ति से प्रशान्त हो जाता है।

मन के रूपान्तण की अन्तिम अवस्था, बार-बार अभ्यास से प्रशान्त और शक्तिशाली हो जाती है, तब वह अवस्था प्रत्यय के उत्पात से बाधित नहीं होती। यह बड़ा निर्णायिक बिन्दु है। यदि एकाग्रता या समाधि के पूर्व निरोध का अभ्यास किया जाता है, तो आप लय में या अन्धकार में प्रवेश कर जायेंगे। जो निराकार पथ का अवलम्बन करते हैं वे और भी गहन अंधकार में प्रवेश कर जाते हैं। अत: जिस साधक ने एकाग्रता परिणाम को सिद्ध नहीं किया है, उसे इस विशेष निग्रहावस्था का अभ्यास करने का प्रयास कभी नहीं करना चाहिए जैसे पहले दूध और उसके बाद दही, तब मक्खन आता है, उसी प्रकार समाधि परिणाम, एकाग्रता परिणाम, निरोध परिणाम क्रमश: एक-दूसरे के बाद आते हैं।

जब आप गहन ध्यान का अभ्यास करते हैं तब कभी-कभी संस्कार भंग हो जाता है और यही भंग का क्षण निरोध कहलाता है। यह क्षण केवल तभी आता है जब वास्तव में सतत् चेतना बनी रहती है। जब चेतना में सांतत्य आ जाता है तब दो संस्कारों के मध्य अकस्मात् शून्यता आ जाती है, यही निरोध कहलाता है। अकस्मात् आपकी चेतना एकाग्र धारणा की अगले धरातल में प्रकट हो जाती है, तब पुन: एक विराम आ जाता है, वहाँ कोई भी संस्कार नहीं रहता; अत: इसे निरोध कहते हैं। इसके पश्चात् आपको पूरा स्वरूप बदल देना है। एक बार जब प्रत्यय अविरत हो जाता है, बिना किसी विक्षेप के, आपको तब तक प्रतीक्षा करनी होती है जब तक ऐच्छिक निग्रह नहीं हो जाता है। तब प्रतीक का प्रत्यय, यथा ॐ स्पष्टतर हो जाता है और तब अकस्मात् पुन: एक रुकावट आ जाती है। यह पुन: निरोध है; संस्कार की निरन्तरता रहती है और अकस्मात् कुछ महीनों के अभ्यास के बाद रुकावट है। तत्पश्चात् अकस्मात् संस्कार प्रकट हो जाता है। फिर आपको बलपूर्वक रोक देना है। वह विलीन हो जाता है और स्वयं पुन: प्रकट भी हो जायेगा। जैसे ही वह प्रकट हो आपको उसे रोकने का प्रयास करना चाहिए।

जब आप एक विशेष बिन्दु पर आ जाते हैं, जहाँ निरोध बढ़ता और व्युत्थान घटने लगता है, तब समाधि आती है, इसलिए आपको उसे नष्ट करना है जिसका आपने सृजन किया था। इसलिए योग को वियोग भी कहते हैं। हम मन में रूपान्तण लाने का प्रयास करते हैं और रूपान्तरण तीन चरणों में लाया जाता है। यहाँ तक कि मस्तिष्क भी बदल जाता है। तीन चरणों में यह विशेष रूपान्तरण पुन: अनेक अवस्थाओं में विभक्त हो जाता है, पर हमें उसके विस्तार में नहीं जाना है।

## सूत्र 11 – समाधि परिणाम

*सर्वार्थतैकाग्रतयो: क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि परिणाम: ॥ 11 ॥*

मन के विक्षेप और एकाग्रता का विलोप और प्रकटन समाधि परिणाम है।

समाधि परिणाम वह अवस्था है जब मन की एकाग्रता और विक्षेप विलुप्त एवं प्रकट होते हैं। यह एक साथ ही होता है, विक्षेप विलुप्त होता है और एकाग्रता प्रकट होती है। इस प्रकार यह मन की अवस्था है, चेतना के रूपान्तरण की। यह एक उच्चतर अवस्था है।

इस विशेष अवस्था में एक संस्कार, यथा – ॐ प्रकट हो जाता है। संस्कारों की पूर्व परत एकाग्रता को ढँकने का प्रयास करती है, पर संस्कारों की नवीनतम परत विक्षेप को दबाने का प्रयास करती है। एक संस्कार, ॐ को स्थापित करने का आपका प्रयास सभी दूसरे विक्षेपों को दबाने का प्रयास करता है। आपके दैनिक अभ्यास में बिल्कुल यही होता है। जब आप बैठ कर किसी विशेष संस्कार पर एकाग्र होने का प्रयास कर रहे होते हैं तब अकस्मात् एक विशेष विचार आ जाता है और संस्कार को बाधित करता है, तब आप संस्कार को पुन: अपने मन में लाते हैं और विक्षेप को दबा देते हैं। पुन: एक विस्फोट की तरह दूसरा विचार नीचे से आ जाता है और संस्कार को उठा फेंकता है। इसी प्रकार चलता रहता है यह विशेष अवस्था समाधि परिणाम है। यह चेतना के क्षेत्र में रूपान्तरण की पहली अवस्था है।

## सूत्र 12 – एकाग्रता परिणाम

*ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ 12 ॥*

उसके बाद पुनः, जब वस्तुएँ जो विलुप्त और प्रकट होती हैं वे एक समान होती हैं और उसे मन का एकाग्रता परिणाम कहते हैं।

एकाग्रता परिणाम में एक ही संस्कार बार-बार प्रकट और विलुप्त होता है। संस्कार यथा – ॐ बारी-बारी से प्रकट और विलीन होता रहता है। विलीन और प्रकट होने वाले संस्कारों की गुणवत्ता निश्चित रूप से समान होनी चाहिए, पर उनके मध्य का अन्तराल अत्यल्प होता है। जब परदे पर हम कोई फिल्म देखते हैं, तो हम विभिन्न चित्रों को अलग-अलग नहीं देख पाते, हमारे लिए वहाँ निरन्तरता रहती है। एकाग्रता परिणाम में भी ऐसा ही होता है। संस्कारों का विलोपन और प्रकटन इतनी तेजी से होता है कि हमारे अवधान में नहीं आता है और हमारे लिए प्रत्यय का प्रवाह अविरत प्रतीत होता है। दोनों अवस्थाओं में अन्तर को देख पाना कठिन है, यद्यपि यह केवल एक अवस्था नहीं है।

एकाग्रता की अवस्था में मन स्थिर रहता है, और उस परिस्थिति में दो अवस्थाओं में अन्तर को हम जान नहीं पाते। सामान्यतः हमारा मन एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर चलता रहता है और इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है कि मन चंचल है। प्रत्यय गतिशील रहता है, एक प्रत्यय विलुप्त होता है, और वही पुनः प्रकट होता है। इसे ही मन का एकाग्रता परिणाम कहते हैं।

## सूत्र 13 – इन परिणामों का उपयोग

*एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्था परिणामा: व्याख्याता: ॥ 13 ॥*

इसके द्वारा तीन परिणामों, अर्थात् तत्त्वों और इन्द्रियों की प्रकृति, विशेषता और अवस्था की व्याख्या होती है।

पूर्व सूत्र में रूपान्तरण की व्याख्या के आलोक में तत्त्वों और इन्द्रियों में रूपान्तरण या परिर्तन को समझना चाहिए। जैसे समाधि, एकाग्रता और निरोध के रूप में संयम के कारण मन में आये त्रिविध रूपान्तरण आते हैं, उसी प्रकार तत्त्व और इन्द्रियों में लक्षण और अवस्था नाम से त्रिविध रूपान्तरण होते हैं। शरीर के विकास के साथ कुछ परिवर्तन आते हैं। आप वृद्ध होते हैं और फलस्वरूप शरीर और अंगों में परिवर्तन आते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं। इस सूत्र का तात्पर्य है कि मन में परिवर्तन या रूपान्तरण होता है, उसी प्रकार का परिवर्तन इन्द्रिय-बोध और इन्द्रियों में आता है।

इस अवधारणा का गहन विश्लेषण करने पर मन में परिवर्तन आता है, और चित्त में आये परिवर्तन के अनुरूप शरीर में और वस्तु-ज्ञान में रूपान्तरण होता है। ये परिवर्त्तन निम्नांकित हैं –

धर्म परिणाम – चित्त की प्रकृति में परिवर्तन आता है।

लक्षण परिणाम – चित्त के स्वभाव में परिवर्तन आता है।

अवस्था परिणाम – चित्त की अवस्था में परिवर्तन आता है।

प्रथम परिवर्तन समाधि में होता है। संयम की साधना में जब आप मन के विक्षेपों को दूर करने का प्रयास करते हैं तब जहाँ तक उसकी प्रकृति का प्रश्न है, उसी अवधि में चित्त में थोड़ा परिवर्तन आता है। एकाग्रता में चित्त में दूसरा परिवर्तन उसकी संरचना या गुण, स्वभाव और अवस्था में आता है। पुन: जब चित्त निरोध परिणाम से गुजरता है तब तीसरा परिवर्तन उसके गुण, स्वभाव और अवस्था में आता है। इस प्रकार तीनों चरणों में उसकी प्रकृति, स्वभाव और अवस्था में परिवर्तन आता है। ठीक उसी प्रकार इन्द्रियों और तत्त्वों में रूपान्तरण होता है।

तत्त्व पाँच हैं, यथा – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इन्द्रियाँ दस होती हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियों का सम्बन्ध संगत

भूतों, यथा– ध्वनि (अकाश का गुण), स्पर्श (वायु का गुण) आदि से होता है, परन्तु इन्द्रियाँ स्वतंत्र रूप से काम नहीं करती। मन या चित्त को निश्चित रूप से उसके सम्पर्क में रहना चाहिए, अन्यथा इन्द्रियाँ आवेगों को सम्प्रेषित नहीं कर सकेंगी।

जब चित्त में तीन प्रकार के परिवर्तन होते हैं, तो इन्द्रियाँ और पाँचों तत्त्व भी इस परिवर्तन से प्रभावित होते हैं। सभी तत्त्व और इन्द्रियों में क्रमशः परिवर्तन आते हैं, जो समाधि एकाग्रता और निरोध के अभ्यास के क्रम में प्रकृति स्वभाव और अवस्था कहे जाते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों का धर्म है और यह धर्म चित्त के रूपान्तरण के साथ परिवर्तित होता है।

इस सूत्र का उद्देश्य यह प्रमाणित करना है कि समय के साथ संयम के द्वारा योगी अनेक प्रकार के चमत्कार करने योग्य हो जाता है। यह एक प्रकार का प्रमाण है, जिससे आप समझ सकें कि किस प्रकार एकाग्रता से इन्द्रियों और तत्त्वों की प्रकृति, स्वभाव और अवस्था को रूपान्तरित किया जा सकता है। अतीन्द्रिय शक्तियों की चर्चा में इसे और अधिक स्पष्ट किया जायेगा।

## सूत्र 14 – धर्मी सर्वनिष्ठ आधार

*शान्तोदिताव्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मी ॥14॥*

धर्मी (आधार) समस्त सुप्त, सक्रिय या अनभिव्यक्त गुणों में समान होता है।

जब चित्त, भूतों और इन्द्रियों के गुणों, स्वभावों और अवस्था में रूपान्तरण होता है तब उस समय कुछ ऐसा होना चाहिए जो अपरिवर्तित रहता है, जो इन सभी परिवर्तनों का सर्वनिष्ठ आधार है। योग दर्शन में, यह सामान्य तथ्य है कि परिवर्तन की सभी परिस्थितियों के नीचे एक अपरिवर्तनशील तत्त्व रहता है।

उम्र के साथ शरीर में परिवर्तन आता है, परन्तु 'मैं' या आत्मा अपरिवर्तित रहता है, न केवल इस जन्म में, वरन् समस्त जन्मों की शृंखला में। मेरे शैशव से बुढ़ापे तक मेरी बदलती स्थितियों का आरोपण मुझ पर होता है, क्योंकि मेरे अन्दर तक ऐसा तत्त्व है जो अपरिवर्तनशील है, निर्विकार है। इसे ही धर्मी कहते हैं। यह न शरीर है, न मन है, न चेतना है और न संस्कार है।

बौद्ध किसी चीज को नित्य नहीं मानते, वे कहते हैं कि प्रत्येक चीज जीवनपर्यन्त सतत् परिवर्तित होती रहती है, जैसे दीपक की लौ अविरत जलती रहती है, पर हर क्षण परिवर्तित होती रहती है। इसी प्रकार संसार में सभी चीजें हर क्षण बदलती रहती हैं। बौद्ध धर्मी की अवधारणा पर विश्वास नहीं करते, पर योग दर्शन को चमत्कार की संभावना को प्रमाणित करने हेतु धर्मी की आवश्यकता है। अत: इस सूत्र में कहा जाता है कि धर्मी सभी परिवर्तनों, अतीत, वर्त्तमान और भविष्य का आधार है।

## सूत्र 15 – अन्तर का कारण

*क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥15॥*

अनुक्रमण की प्रक्रिया में अन्तर ही रूपान्तरण का कारण है।

विभिन्न वस्तुओं की घटनाओं के अनुक्रमण में अन्तर होता है। उदाहरणार्थ, एक मिट्टी के लोंदे से एक पात्र बनाया जा सकता है; वह तोड़ दिया जायेगा तो वह पुनः मिट्टी का लोंदा बन जायेगा। उसी प्रकार एक चित्तविशेष प्रकृति के निर्धारित नियमों के अनुसार एक विशेष ढंग से रूपान्तरित होता है। घटना क्रम का यह अन्तर चित्त, इन्द्रियों और तत्त्वों में भिन्न-भिन्न रूपान्तरण उत्पन्न करता है।

अब चित्त की समस्त संरचना में एक परिवर्तन होना चाहिए, जिसे प्रति प्रसव की प्रक्रिया कहा जाता है। चूँकि समाधि, एकाग्रता और निरोध की समस्त प्रक्रिया चित्त की संरचना में सम्मिलित है, इसलिए इस सूत्र में कहा गया है कि मन की संरचना में होने वाला परिवर्तन होता ही है, क्योंकि उसे होना है।

यदि आप कोई साधना नहीं भी करते हैं, और स्वयं को उसी प्रकार छोड़ देते हैं जिस प्रकार आप हैं, तो भी समय के साथ आपके चित्त में रूपान्तरण की यह विशेष अवस्था आयेगी, हालाँकि इसमें अनेक जन्म लग सकते हैं।

## सूत्र 16 – अतीत और भविष्य का ज्ञान

*परिणामत्रय संयमादतीतानागत ज्ञानम् ॥16॥*

तीनों रूपान्तरणों पर संयम का अभ्यास करने पर अतीत और भविष्य का ज्ञान होता है।

समाधि, एकाग्रता और निरोध तीन रूपान्तरण होते हैं। तीनों पर संयम का अभ्यास करने का अर्थ है, पहले समाधि, तब एकाग्रता और तत्पश्चात् निरोध पर संयम करना। इसका तात्पर्य यह है कि विक्षेपों की सजगता के रूप में संयम करें, फिर उसे दूर कर दें। फिर एकाग्रता की सजगता पर संयम का अभ्यास करें; उसी प्रकार निरोध पर संयम करने का अर्थ है, उसके प्रति सजग होना। ये तीनों संयम मन के विक्षेपों को दूर कर देते हैं। साथ-ही-साथ अवस्था की भी सजगता आ जाती है, अतः विक्षेपों की समाप्ति के साथ आप इस समाप्ति के प्रति भी पूर्णरूपेण सजग बन जायें। इसे ही तीनों रूपान्तरणों पर संयम कहते हैं। तब चित्त इतना शुद्ध हो जाता है कि वह काल के अवरोध को पार कर जाता है और अतीत एवं भविष्य की घटना को जान जाता है।

## सूत्र 17 – सभी प्राणियों की भाषाओं का ज्ञान

*शब्दार्थ प्रत्यया नामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभाग संयमात्*
*सर्वभूतरूतज्ञानम् ॥17॥*

शब्द, वस्तु और प्रत्यय एक-दूसरे पर आरोपित (परस्पर अध्यारोपण) होने के कारण भ्रामक होते हैं। उन पर अलग-अलग संयम करने से सभी प्राणियों की भाषाओं का ज्ञान हो जाता है।

सामान्यत: वस्तुओं का ज्ञान भ्रमपूर्ण हुआ करता है, क्योंकि शब्द, अर्थ और प्रत्यय के बीच परस्पर भ्रम बना हुआ रहता है। यदि हम अलग-अलग उन पर संयम करें तो हम सभी प्राणियों की बोली समझ सकते हैं। अत: ध्वनि को वस्तु से पृथक् करना चाहिए, वस्तु को भाव से, जैसे, गाय शब्द, प्राणी गाय और प्रत्यय गाय है। तीनों तत्त्वों पर अलग-अलग संयम करना चाहिए, ताकि शब्द, वस्तु और प्रत्यय या मानसिक अनुभूति का परस्पर अध्यारोपण या उनका भ्रम दूर किया जा सके।

गाय वस्तु से विभिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न मानसिक अनुभूतियाँ होती हैं। उदाहरणार्थ – एक हिन्दू कहेगा उसकी रक्षा करनी चाहिए, एक मुसलमान कहेगा उसका वध करना चाहिए। प्रत्यय में यही भिन्नता है। उसी प्रकार शब्दों में भिन्नता होती है। उदाहरण के लिए, विभिन्न भाषाओं में एक ही वस्तु 'गाय' के लिए अलग-अलग शब्द हैं। इस सूत्र में कहा गया है कि जब आप स्वरूप गाय, नाम गाय और प्रत्यय गाय में अन्तर करते हैं और तीनों पर अलग-अलग संयम करते हैं तब आप गाय या अन्य पशु या प्राणी की बोली समझने लगते हैं। ये योग के ऐसे रहस्य हैं जिनका अभ्यास लोग नहीं करते, क्योंकि वे बहुत कठिन होते हैं।

संसार में प्रत्येक वस्तु के तीन अंग या विग्रह होते हैं – ध्वनि या शब्द, उनका स्वरूप और उनका विचार। आपको ध्वनि तरंगों पर, स्वरूप पर और विचार पर भी अलग-अलग संयम का अभ्यास करने योग्य होना चाहिए। यह अत्यन्त कठिन है।

## सूत्र 18 – पूर्वजन्म का ज्ञान

*संस्कार साक्षात्करणात् पूर्व जातिज्ञानम् ॥18॥*

संस्कारों के प्रत्यक्ष ज्ञान से पूर्व जन्मों का ज्ञान होता है।

संस्कार दो प्रकार के होते हैं – स्मृति और वासना। स्मृति अवचेतन है तथा वासना अचेतन है। जब संस्कार अवचेतन में रहते हैं तो एक निश्चित क्रम में सजे रहते हैं; जब अवचेतन में रहते हैं तो ऐसे व्यवस्थित नहीं रहते। संस्कार से जो फल उत्पन्न होते हैं, वे प्रारब्ध के रूप में रहते हैं, जैसे ग्रामोफोन के रेकॉर्ड में ध्वनि रहती है। संस्कारों पर संयम का अभ्यास करने पर जिन्हें चेतना की गहरी अवस्थाओं में देखा जा सकता है, अवचेतन और अचेतन में उनका अन्वेषण किया जा सकता है। उन संस्कारों पर संयम का अभ्यास करने पर योगी की पहुँच पूर्व जन्म तक हो सकती है।

## सूत्र 19 – दूसरों के मन की जानकारी

*प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥19॥*

प्रत्ययों पर संयम का अभ्यास करने पर दूसरों के मन की जानकारी प्राप्त होती है।

दो व्यक्तियों के बीच अतीन्द्रिय दृष्टि से सम्पर्क केवल तभी हो सकता है, जब तीनों अवस्थाओं में व्यक्तित्व का वस्तुनिष्ठ बोध स्पष्टतः प्राप्त कर लिया गया हो।

## सूत्र 20 – किन्तु मानसिक बिम्बों का नहीं

*न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥20॥*

किन्तु उसका (अन्य मानसिक तत्त्वों का) ज्ञान मानसिक बिम्बों के सहयोग से नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि वह संयम का विषय नहीं है।

संयम के द्वारा प्राप्त दूसरों के मन के ज्ञान में उस मन का मानसिक बिम्ब सम्मिलित नहीं होता है, क्योंकि यह एक सामान्य प्रकृति का होता है। उस मन के विभिन्न प्रत्यय संयम के विषय नहीं हैं। यदि आप किसी के मन के किसी विशेष बिम्ब या प्रत्ययविशेष के प्रति सजग हैं, तो आपको उस मन का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, परन्तु विचारों को सामान्य रूप से ही पढ़ा जा सकेगा। आप मन में चल रहे विशेष विचारों को नहीं जान सकते हैं, केवल विचारों की प्रकृति को जाना जा सकता है, अत: प्रत्यय सामान्य प्रकृति का होता है। उदाहरण के लिए, व्यक्ति लोभ, राग, द्वेष आदि को ही जान सकता है।

इसमें दो चरण होते हैं। पहले चरण में विचारों को सामान्य रूप से पढ़ा जाता है। दूसरे चरण में विशेष विचारों को पढ़ा जाता है। जब हम संयम के द्वारा किसी व्यक्तिविशेष के मन को देखते हैं तो हम सामान्य रूप से जान पाते हैं कि उसके मन में कौन-सी वृत्तियाँ, यथा – घृणा, क्रोध, प्रेम, वासना, भय, उद्वेग आदि, उठ रही हैं। यह प्रत्यय की समझ के द्वारा होता है, चेहरे को पढ़ कर नहीं होता है। प्रत्यय को ध्यान, स्वप्न, अवलोकन या व्यवहार के द्वारा जाना जा सकता है। ये सभी दूसरों के मन को समझने की वैकल्पिक विधियाँ हैं।

अत: दूसरे के मन को समझने के लिए, आपको उसे कुछ नकारात्मक सुझाव देना होगा और उसकी प्रतिक्रिया को समझना होगा। उसकी प्रतिक्रिया पर संयम करने में सक्षम होने के बाद आप उसके मन की सामान्य अवस्था जान सकते हैं। दूसरे चरण में आपको उसके मन में चल रहे विशेष विचारों से प्रारम्भ करना होगा। उसे कुछ प्रतीक देने होंगे और कहना होगा कि वह उन पर अपनी प्रतिक्रिया दे। इससे आपके और उसके मन के बीच एक प्रकार का सम्पर्क उत्पन्न होता है, और जो कुछ भी उसके मन में चलता

रहता है उनमें से प्रत्येक विचार या प्रतिक्रिया को संयम के द्वारा सीधे देखा जा सकता है।

इस सूत्र में कहा गया है कि दूसरे के मन के विशेष विचारों को पढ़ा या देखा नहीं जा सकता। यह ऊपर वर्णित पहला चरण है; यह अत्यन्त कठिन है और इसके लिए मन की एक विशेष क्षमता की आवश्यकता होती है।

## सूत्र 21 – अदृश्यता

*कायरूपसंयमात् तदग्राह्यशक्तिस्तम्भेचक्षु: प्रकाश सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम ॥21॥*

शरीर के रूप पर संयम करने से और रूप की ग्रहणशक्ति को स्तम्भित (रोक देने) कर देने पर आँखों और प्रकाश का सम्पर्क नहीं रह जाता है जिससे (योगी) अदृश्य (हो सकता है)।

जब योगी अपने शरीर पर संयम करता है, तब अकस्मात् रूप को ग्रहण करने की शक्ति स्तम्भित हो जाती है और देखने वाले की आँखों और योगी के शरीर में सम्पर्क नहीं रह जाता है। इस प्रकार वह अदृश्य हो जाता है। यह प्रचलित सिद्धि या अतीन्द्रिय शक्ति है। यह भयोत्पादक साधना है। आँखों के सामने यदि कोई रूप विलीन हो जाये तो यह उतना ही भयोत्पादक होगा जितना मृत्यु का आना। एक वस्तु को तभी देखा जा सकता है जब उसकी सतह से प्रकाश की किरणें प्रत्यावर्तित होती हैं और देखने वाले की आँखों में प्रवेश करती हैं। यदि संयम की शक्ति से प्रकाश को रोका जाय, तब व्यक्ति अदृश्य हो सकता है।

योग में तत्त्वों की पाँच तन्मात्रायें या सूक्ष्म रूप हैं। रूप तन्मात्रा योगी के संयम का विषय हो जाती है। पहले योगी दर्पण के सहारे अपने शरीर पर संयम का अभ्यास करता है, जिससे रूप या आकृति को ग्रहण करने की शक्ति स्थगित हो जाती है। कुछ समय के लिए देखने वाले और योगी के शरीर के बीच कोई सम्पर्क नहीं रह जाता है। इस प्रकार, भौतिक शरीर स्वयं योगी के लिए भी अदृश्य हो जाता है और बाद में अभ्यास के द्वारा वह अन्य लोगों के लिए अदृश्य हो जाता है। इसका कारण यह है कि वस्तु और देखने वाले के बीच कोई सम्पर्क नहीं रह जाता है। अत: इसके अन्तर्गत दर्पण में देखे गये भौतिक स्वरूप पर ध्यान किया जाता है। आप क्रियायोग में जो करते हैं, यह उससे भिन्न है।

## सूत्र 22 – तन्मात्राओं का विलोपन

*एतेन शब्दाद्यन्तर्धानं उक्तम् ॥22॥*

जो कहा गया है उससे ध्वनि तथा अन्य तन्मात्राओं के विलोपन को समझा जा सकता है।

अपने स्वरूप पर संयम के अभ्यास के द्वारा आप स्वयं को अदृश्य कर दे सकते हैं। अब, इस सूत्र में कहा गया है कि उसी प्रकार ध्वनि, स्पर्श, स्वाद आदि पर भी संयम के अभ्यास के द्वारा इन क्षमताओं को विलुप्त कर दिया जा सकता है। इसी प्रकार योगी अन्य संवेदनाओं को भी रोक सकता है और उनसे सम्बन्धित क्रियाओं को नियन्त्रित किया जा सकता है।

## सूत्र 23 – मृत्यु काल का ज्ञान

*सोपक्रमं निरूपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥23॥*

कर्म दो प्रकार के होते हैं – सक्रिय और प्रसुप्त। उन पर संयम का अभ्यास करने से और पूर्व आभासों के द्वारा भी मृत्यु का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं। सोपक्रम का अर्थ है, ऐसे कर्म जिन्होंने फल देना आरम्भ कर दिया है। निरूपक्रम ऐसे कर्म हैं, जो अभी प्रसुप्त हैं और कुछ समय बाद उनका क्षय हो जायेगा। पहले प्रकार के कर्म प्रारब्ध कहलाते हैं, और दूसरे प्रकार के संचित कहे जाते हैं। वस्तुत: कर्म का विभाजन तीन वर्गों में हो सकता है, परन्तु इस सूत्र में उनका दो विभाजन ही किया गया है। महर्षि पतंजलि ने क्रियमाण कर्म को सम्मिलित नहीं किया है, क्योंकि इन्हें निरूपक्रम कर्म के भंडार में जाना होता है।

इन दो प्रकार के कर्मों पर संयम का अभ्यास करने से पहले ही मृत्यु-काल का ज्ञान हो सकता है। जन्म और मृत्यु कर्म के फल हैं, यदि हम कर्म पर संयम कर सकें तो हम जान सकेंगे कि मृत्यु कब होगी। इतिहास में अनेक उदाहरण हैं। मृत्यु का समय जानने के लिए अन्य विधियाँ भी हैं जिन्हें अरिष्ट कहते हैं। अरिष्ट को जानने से व्यक्ति को छ: मास पूर्व ही मृत्यु का ज्ञान हो सकता है। यह बड़ी सामान्य चीज है, सामान्य मनुष्य भी इसे जान सकता है। कुछ विशेष लक्षण हैं, यथा – अपनी नाक को नहीं देख पाना, अपनी छाया को देखते समय अपने बायें कान को नहीं देखना, अपनी छाया को देख ही नहीं पाना, इत्यादि। इन्हें अरिष्ट कहते हैं। इनका अध्ययन स्वर योग और छाया उपासना में होता है। इस प्रकार पहले ही मृत्यु के विषय में जानने को दो उपाय हैं।

## सूत्र 24 – मित्रता आदि की शक्तियाँ

*मैत्र्यादिषु बलानि ॥24॥*

मैत्री आदि पर संयम करने से वे विशेष शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा चार ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनका पोषण एक योगी को करना होता है। इनका वर्णन प्रथम अध्याय में किया है। ऐसा कहा जाता है कि इन चार प्रवृत्तियों पर संयम का अभ्यास करने पर विशेष शक्तियाँ विकसित होती हैं। इस प्रकार इन चारों प्रवृत्तियों, यथा – मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा में से प्रत्येक पर संयम का अभ्यास करने से विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं।

## सूत्र 25 – बल की प्राप्ति

*बलेषु हस्तिबलादीनि ॥25॥*

हाथी आदि के बल पर संयम करने से तदनुरूप शक्ति विकसित होती है।

एक व्यक्ति, पशु या किसी घटना को संयम का विषय बनाया जासकता है। जब हाथी, सिंह या बाघ जैसे पशुओं को संयम के अभ्यास का विषय बनाया जाता है तब उस पशु की शक्ति प्राप्त हो सकती है। संयम का अभ्यास करते समय पशु की शक्ति पर ध्यान करने पर योग साधक में पशु का बल विकसित किया जा सकता है। यदि साधक बाघ की सतर्कता पर संयम करता है, तो वह स्वयं में मानसिक सतर्कता विकसित कर सकता है। यदि एक बाघ की फुर्ती पर संयम किया जाता है, तो योगी अपने में उसी फुरर्ती का विकास कर सकता है।

## सूत्र 26 – गुप्त ज्ञान

*प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट ज्ञानम् ॥26॥*

सूक्ष्म, अस्पष्ट और दूरस्थ वस्तुओं के ज्ञान को अतिदैहिक क्षमता के प्रकाश के विस्तार से प्राप्त किया जाता है।

प्रथम अध्याय के 36वें सूत्र में कहा गया है कि विशोक नाम की क्षमता मन में विकसित की जा सकती है। मन एक अतिदैहिक क्षमता विकसित कर सकता है, जिसे ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, प्रकाशित करने की क्षमता, कहा जाता है। इस सूत्र में उस क्षमता को सूचित करने के लिए प्रवृत्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। मन में प्रकाशित करने वाली यह क्षमता जो कहीं भी प्रवेशगम्य होती है, इसका विकास करने से योगी गुप्त, अस्पष्ट या दूरस्थ वस्तुओं को देख सकता है।

जब प्रकाशित करने वाली क्षमता को खोये हुए मनुष्य या वस्तु की ओर निर्दिष्ट किया जाता है तब यह तत्काल ज्ञात हो जाता है कि वह खोयी वस्तु या व्यक्ति कहाँ है। इस प्रकार भूमि में गड़े खजाने या वस्तु का, जो बहुत दूर है, सीधे पता चल सकता है। यहाँ तक कि अणु या शरीर की एक कोशिका के समान सूक्ष्म चीजें भी देखी जा सकती हैं। इसका अभ्यास करने की दो विधियाँ हैं।

एक वैदिक विधि है, और दूसरी यौगिक विधि है। यहाँ वैदिक या तांत्रिक विधि की चर्चा की आवश्यकता नहीं है। यह पूर्णत: कर्मकाण्डी विधि है। यौगिक अभ्यास में स्फटिक बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। दक्षिण भारत में अनज्ञानम् नामक एक विशेष विज्ञान है जिसका अर्थ है अज्ञात। इसके अन्तर्गत स्फटिक के माध्यम से प्रकाशित करने वाली अतिदैहिक क्षमता के प्रक्षेपण की विभिन्न विधियाँ आती हैं। उसी प्रक्रिया का उपयोग किसी चमकीली सतह से प्रकाश के प्रत्यावर्तन द्वारा किया जा सकता है, परन्तु उस व्यक्ति में अतिदैहिक क्षमता, ज्योतिष्मति प्रवृत्ति का विकसित होना आवश्यक है।

## सूत्र 27 – सौर मण्डल का ज्ञान

*भुवन ज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥27॥*

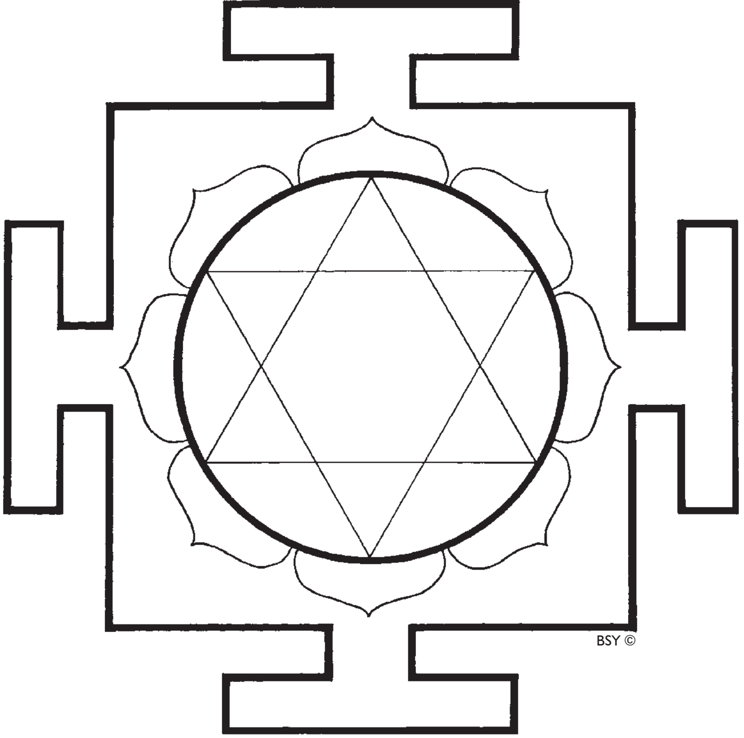
सूर्य पर संयम करने से सौर मण्डल का ज्ञान प्राप्त होता है।

सौर मण्डल के ज्ञान के तीन भाग होते हैं, जो इस प्रकार हैं–
1. सौर मंडल की संरचना, जो ब्रह्माण्ड की एक इकाई है।
2. आकाश-गंगा कहे जाने वाले तारक-समूह।
3. ग्रहों एवं नक्षत्रों की गति को नियन्त्रित करने वाले नियम।

सूर्य पर संयम करने से यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है। सूर्य शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं, यथा–सूर्य नाड़ी, सुषुम्ना, प्राकृतिक सूर्य आदि। प्राचीन काल में खगोल विज्ञान की आधुनिक तकनीकें उपलब्ध नहीं थीं, फिर भी ऋषिगण विभिन्न खगोलीय तथ्यों की अत्यन्त शुद्ध गणना कर सकते थे।

अपने आश्चर्यजनक आविष्कारों तक वे दो में से एक विधि के द्वारा ही पहुँचे होंगे। उन्होंने या तो संयम द्वारा अपने मन को विकसित किया होगा या टेलीस्कोप के समान किसी उपकरण का विकास कर लिया होगा, अन्यथा वे इतनी शुद्धता से गणना नहीं कर पाते। हमें किसी ऐसे उपकरण की जानकारी नहीं है, जिसका उन्होंने उपयोग किया होगा, अत: हमें यह विश्वास करना होगा कि सूर्य पर संयम के अभ्यास द्वारा उन्हें ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त हुआ होगा।

जब आप प्राकृतिक सूर्य पर या सूर्य की मानसिक छवि पर संयम का अभ्यास करते हैं, तब क्रमश: एकाग्रता की सर्वाधिक गहन अवस्था में आप अपने अन्दर सूक्ष्म ब्रह्माण्डीय सूर्य का पता लगा सकते हैं। जब आप ऐसा करने में समर्थ हो जाते हैं, तब ब्रह्माण्ड की संरचना और व्यवस्था के विषय में सब कुछ जानने में सक्षम हो जायेंगे और इसके अतिरिक्त, ये संरचनाएँ जिन नियमों पर आधारित हैं, आप उन्हें भी जान पायेंगे।




शिव यंत्र

## सूत्र 28 – तारों का ज्ञान

*चन्द्रे ताराव्यूह ज्ञानम् ॥28॥*

चन्द्रमा पर संयम करने से तारों के स्थान के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है।

## सूत्र 29 – उनकी गति का ज्ञान

*ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥29॥*

ध्रुव तारे पर संयम करने से तारों की गति का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

सूत्र 28 में कहा गया है कि चन्द्रमा पर संयम करने से तारों की व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। अब यदि आप उनके निरपेक्ष या सापेक्ष गति के विषय में जानना चाहते हैं, तो आपको ध्रुव तारे पर संयम करना होगा। हमारे प्राचीन ऋषियों को अत्यन्त शुद्धता के साथ तारों और खगोलीय पिण्डों का बृहत् ज्ञान था। सूर्य, चन्द्रमा और ध्रुव तारे पर संयम के कारण ऐसा हुआ होगा।

## सूत्र 30 – शरीर का ज्ञान

*नाभिचक्रे कायव्यूह ज्ञानम् ॥30॥*

नाभि केन्द्र पर संयम करने से शारीरिक व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है।

यह ध्यान रखना है कि यहाँ नाभि चक्र का अर्थ मणिपुर चक्र नहीं है, बल्कि नाभि का केन्द्र है, जहाँ से विभिन्न नाड़ियाँ निकल कर शरीर के विभिन्न अंगों में जाती हैं।

## सूत्र 31 – भूख और प्यास को विराम

*कण्ठ कूपे क्षुत्पिपासा निवृत्तिः ॥31॥*

कण्ठ कूप पर संयम करने से भूख और प्यास शान्त हो जाती है।

ग्रसिका या कण्ठ कूप एक ग्रन्थि का केन्द्र है, जिससे एक तरल का स्राव होता है। इसके कारण कण्ठ सूखता है जिसके परिणामस्वरूप प्यास लगती है, पेट में जलन होती है जिसके परिणामस्वरूप भूख लगती है। ग्रन्थि के उस केन्द्रविशेष पर संयम करने से स्राव को रोका जा सकता है। इसके द्वारा साधक भूख और प्यास पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है।

## सूत्र 32 – स्थैर्य की शक्ति

*कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥32॥*

कूर्म नाड़ी पर संयम करने से स्थिरता की प्राप्ति होती है।

यहाँ स्थिरता का तात्पर्य साधारण और चमत्कारपूर्ण, दोनों क्षमताओं से है। साधक ऐसा अचल बन सकता है कि उसे आप बहुत शक्ति लगाकर भी डिगा नहीं सकेंगे। स्थिरता का अर्थ ध्यान की अवस्था में शारीरिक स्थिरता भी हो सकती है। इसका अर्थ पूर्ण मानसिक स्थिरता भी हो सकती है। कूर्म नाड़ी पर संयम करने से इन सब की प्राप्ति हो सकती है।

कूर्म नाड़ी का स्थान कण्ठ कूप के नीचे होता है। इसकी आकृति कच्छुए के समान होती है, अतः इसे कूर्म नाड़ी कहा जाता है। इस पर संयम करने की सरल विधि वह है जिसमें उस बिन्दु पर ध्यान किया जाता है जिस पर जालंधर बंध लगाने पर या सर्वांगासन करने पर ठुड्ढी छाती का स्पर्श करती है। इन दोनों स्थितियों में ठुड्ढी छाती को कूर्म नाड़ी के निकट स्पर्श करती है, अतः संयम का अभ्यास करने हेतु उस नाड़ी का स्थान निर्धारित करना सरल हो जाता है।

## सूत्र 33 – आध्यात्मिक दर्शन

*मूर्ध ज्योतिषि सिद्ध दर्शनम् ॥33॥*

मूर्धा (सहस्रार) के प्रकाश पर संयम करने से योग विभूतियों का आध्यात्मिक दर्शन होता है।

यहाँ मूर्धा का अर्थ सहस्रार है। प्रकाश का सम्बन्ध निश्चित रूप से आज्ञा चक्र से है जो भ्रूमध्य पर स्थित है। आज्ञा चक्र पर संयम से सफलता अपेक्षाकृत शीघ्रता से प्राप्त होती है। जब मन प्रकाशित होता है, तो आध्यात्मिक दृश्य प्रकट होने लगते हैं, जिसमें साधक को योग की विभिन्न विभूतियों के साक्षात् दर्शन होते हैं। ये विभूतियाँ बिना शरीर के भी रह सकती हैं, क्योंकि उन्हें ऐच्छिक और अनैच्छिक मानसिक अतीन्द्रिय क्रियाओं पर पूर्ण नियंत्रण होता है। अत: वे स्वयं को शरीर से अलग कर सकते हैं। वे बिना भौतिक शरीर के भी रह सकते है, अत: उन्हें सिद्ध कहा जाता है। हम सामान्य रूप से उन्हें देख नहीं सकते, क्योंकि हमारे समान उनका भौतिक शरीर नहीं होता, परन्तु जब आज्ञा चक्र या सहस्रार चक्र पर संयम किया जाता है, तब योगी उनसे मिल सकता है, बातें कर सकता है, ताकि वह उनसे मार्गदर्शन एवं प्रेरणा प्राप्त कर सके।

## सूत्र 34 – अन्तःप्रज्ञा

*प्रतिभाद् वा सर्वम् ॥34॥*

अथवा प्रतिभा (अन्त:प्रज्ञा) से सब कुछ (ज्ञात हो सकता है)

सभी सिद्धियाँ, जिनका उल्लेख अभी तक किया जा चुका है, उन्हें प्रतिभा कही जाने वाली एक विशिष्ट क्षमता से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार सिद्धियाँ व्यक्तिगत रूप से या सामूहिक रूप से प्रतिभा द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं।

इस अध्याय के 45वें सूत्र में प्रतिभा का भाव स्पष्ट किया जायेगा। यह एक प्रकार का उच्च अन्तर्ज्ञान है। यह तर्करहित ज्ञान की प्रक्रिया है। जैसे ही उच्चतर चेतना प्रकट होती है, मन के सम्मुख आने वाली सभी चीजों पर एक प्रकार का प्रकाश पड़ता है। इसे प्रतिभा द्वारा ज्ञान कहा जाता है। यह विशेष उत्कृष्ट गुण विवेक ज्ञान का प्रथम चरण है, अर्थात् जो ज्ञान पदार्थ और ऊर्जा को पृथक् करने से प्राप्त होता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अंधकार में पड़ी सभी चीजों को प्रकट कर देता है, उसी प्रकार यह उत्कृष्ट क्षमता सब कुछ समझने योग्य हो जाती है।

## सूत्र 35 – चित्त का ज्ञान

*हृदये चित्त संवित् ॥35॥*

हृदय पर संयम करने से चित्त का ज्ञान प्रकट होता है।

हृदय का अर्थ है, वह कमल जिसे अनाहत चक्र कहते हैं। अनाहत चक्र पर ध्यान या संयम करने से साधक अपने मन की प्रकृति का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। जब पदार्थ और मन सम्बद्ध हो जाते हैं तब उस चेतना को चित्तसंवित् कहते हैं।

## सूत्र 36 – पुरुष का ज्ञान

*सत्त्वपुरुषयोरत्यन्ता संकीर्णयो प्रत्यया विशेषो भोग:*
*परार्थत्वात् स्वार्थ संयमात् पुरुष ज्ञानम् ॥36॥*

> चित्त और पुरुष में अत्यधिक भिन्नता है। दोनों की सजगता में भिन्नता नहीं होने के कारण, वस्तुनिष्ठ या व्यक्तिनिष्ठ अनुभव होता है। वस्तुनिष्ठ सजगता से अलग व्यक्तिनिष्ठ सजगता पर संयम करने से पुरुष का ज्ञान प्राप्त होता है।

सांख्य और योग के आधारभूत सिद्धान्त के अनुसार चित्त और पुरुष स्वभाव से बिल्कुल भिन्न और पृथक् हैं, परन्तु अविद्या के कारण वे एक प्रतीत होते हैं। जब हम पुरुष और चित्त को एक समझते या महसूस करते हैं तब जो होता है वह भोग या अनुभव कहलाता है। यह अविद्या का परिणाम है। इसके कारण पुरुष और चित्त की पूर्ण भिन्नता का ज्ञान विस्मृत हो जाता है या उस पर आवरण सा पड़ जाता है। व्यक्तिनिष्ठ सजगता से भिन्न आत्मसजगता पर संयम करने से पुरुष का ज्ञान प्राप्त होता है।

हमें यह समझना चाहिए कि वस्तुनिष्ठ सजगता क्या है और व्यक्तिनिष्ठ सजगता क्या है। वस्तुनिष्ठ सजगता पुरुष और चित्त को एक मानने के भ्रम पर आधारित है, किन्तु जब उनकी भिन्नता का बोध हो जाता है तब व्यक्तिनिष्ठ सजगता वस्तुनिष्ठ सजगता का स्थान ले लेती है। संयम के अभ्यास में हम इस भिन्नता पर ध्यान करते हैं। पुरुष स्थिर रहता है, जबकि चित्त में विक्षेप होता है। संयम के अभ्यास से पुरुष के स्वभाव को समझा जा सकता है।

पुरुष को समझने के लिए प्रकृति के क्षेत्र से परे जाना होगा। वह व्यक्तिनिष्ठ सजगता या आत्म-सजगता है। आत्म-सजगता तब उत्पन्न होती है जब आप प्रकृति के परे जाते हैं। तब पुरुष और प्रकृति के अन्तर को पूर्णत: समझा जा सकता है। तब भोग नहीं रह जाता है, अर्थात् वस्तुनिष्ठ सजगता नहीं रह जाती है, क्योंकि अविद्या समाप्त हो चुकी है।

## सूत्र 37 – सहजानुभूत ज्ञान

*ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शा स्वादवार्ता जायन्ते ॥37॥*

वहाँ से अतीन्द्रिय श्रवण, संवेदन, दर्शन, आस्वादन, और घ्राण का ज्ञान उत्पन्न होता है।

ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित अतीन्द्रिय क्षमताओं को प्रातिभ क्षमतायें कहते हैं, यथा – प्रातिभश्रवण, प्रातिभदर्शन आदि। प्रातिभ शब्द सभी पाँचों क्षमताओं में समान रूप से है। पुरुष या आत्मनिष्ठ सजगता पर संयम करने से, जैसा पूर्व सूत्र में कहा गया है, श्रव्य, दृश्य, स्पर्श, स्वाद और घ्राण ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित अतीन्द्रिय क्षमतायें जाग्रत होती हैं। कभी-कभी हमें ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं, जिनमें ये क्षमतायें होती हैं, पर इसे दूरसंवेदन, अतीन्द्रिय दृष्टि समझने की भूल नहीं करनी चाहिए, ये क्षमतायें आत्मनिष्ठ सजगता पर संयम के परिणाम हैं। ये ईश्वर की क्षमतायें हैं, यथा – सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि। ये पुरुष पर संयम करने से प्राप्त होती हैं।

## सूत्र 38 – सिद्धियाँ बाधा हैं

*ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय: ॥38॥*

ये सिद्धियाँ (पूर्व सूत्र में वर्णित) समाधि में बाधायें हैं, परन्तु सांसारिक चेतना की अवस्था में ये सिद्धियाँ हैं।

बहिर्मुखी स्थिति में ये सिद्धियाँ हैं, परन्तु जहाँ तक समाधि का सम्बन्ध है, ये बाधाएँ उपस्थित कर देती हैं। योगी का मन स्थायी रूप से समाधि में नहीं रहता। वह विचलित होता रहता है, और जगत् की चेतना आ जाती है। उस अवस्था में इन सिद्धियों को प्रकट किया जा सकता है, परन्तु जब वह समाधि में होता है तब यदि इन सिद्धियों को अभिव्यक्त होने दिया जाता है तो ये विघ्न उत्पन्न करती हैं। योगी इनका उपयोग ध्यान से बाहर निकलने के बाद कर सकता है।

सिद्धि की प्रथम अवस्था तब आती है, जब साधक समाधि में होता है। भले ही साधक उनका अभ्यास या उनकी प्राप्ति नहीं करना चाहता हो, तब भी गहरे ध्यान में उच्चतर चेतना के विकास के कारण वे स्वत: आ जाती हैं। जब वे स्वयं को अभिव्यक्त करती हैं तब वे एक प्रकार का अतीन्द्रिय स्पन्दन उत्पन्न कर समाधि में विघ्न उत्पन्न करती हैं। इससे समाधि की शान्त अवस्था बाधित हो जाती है, परन्तु साधक जब समाधि के बाहर आता है तब वह उनके प्रभावों को देख सकता है या उनका अवलोकन कर सकता है या उनका प्रयोग कर सकता है।

## सूत्र 39 – परकाया प्रवेश

*बन्ध कारण शैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥39॥*

बन्धन के कारण को शिथिल करने और मार्ग के ज्ञान से सूक्ष्म शरीर दूसरे के शरीर में प्रवेश करता है।

यह विशेष अतीन्द्रिय शक्ति एक बड़ी उच्च सिद्धि है। योगी अपने शरीर से निकल कर दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करता है। इसके लिए योगी अपने शिष्य का सहयोग ले सकता है। अनेक मुक्त व्यक्तियों और उच्च योगाभ्यासियों के विषय में हम ऐसा सुनते हैं, यथा – आदि शंकराचार्य। इसके लिए दो शर्तें हैं जिनको पूरा करना अनिवार्य है; प्रथम – बन्धन के कारण को शिथिल करना; द्वितीय – प्रवेश मार्ग या पथ का ज्ञान।

बन्धन के कारण हैं – भौतिक शरीर से प्रेम, मृत्यु का भय, और क्लेश। बन्धन के कारणों को शिथिल करना आवश्यक है, जो ध्यान और संयम के द्वारा किया जाता है। सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से उसी प्रकार अलग किया जा सकता है जिस प्रकार कपड़े के दो टुकड़े एक साथ सिले या चिपके रहते हैं और उनकी सिलाई को तोड़कर, टांकों को ढीला कर या गोंद को हटा कर उन्हें अलग किया जाता है। उसी प्रकार क्लेशों, भय आदि को शिथिल कर सूक्ष्म शरीर को भौतिक शरीर से दूर और अलग किया जाता है। जिस समय सूक्ष्म शरीर, भौतिक शरीर से बाहर रहता है, उस समय भौतिक शरीर की उचित देखभाल एवं सुरक्षा होनी चाहिए, अन्यथा उसमें लौट आना असंभव हो जायेगा, अतः बन्धन के कारण निश्चित रूप से शिथिल कर लिए जायें और भौतिक शरीर को अच्छी हालत में सुरक्षित रखा जाय।

पथ का ज्ञान होना चाहिए, अर्थात् उस नाड़ी का ज्ञान होना चाहिए जिससे होकर चित्त को दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करना है। केवल तभी पर काया प्रवेश संभव होगा।

## सूत्र 40 – हवा में ऊपर उठना

*उदानजयाज्जल पंककंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च ॥40॥*

उदान पर नियंत्रण के द्वारा जल, पंक (कीचड़), काँटे आदि से सम्पर्क छूट जाता है और शरीर हवा में ऊपर उठ जाता है।

उदान का केन्द्र कण्ठ में है, पर वह सिर के क्षेत्र में ऊपर उठता है। मृत्यु के समय यह प्राण, जिसे उदान कहते हैं, सूक्ष्म शरीर को भौतिक शरीर से मुक्त करता है। शास्त्रों में उदान पर नियंत्रण की विधि नहीं दी गई है। यह भी ज्ञात नहीं है कि यह एक प्रकार का प्राणायाम है या संयम या नाड़ी आदि है, पर इतना सत्य है कि इस विशेष नाड़ी का अपना विशिष्ट कार्य है और यदि उसे सिद्ध कर लिया जाये तो आप पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध कार्य कर सकते हैं।

हवा में ऊपर उठने की घटना सर्वविदित है। यह प्राणायाम के अभ्यास द्वारा किया जाता है; अत: यह कहा जा सकता है कि प्राणायाम की साधना के द्वारा उदान पर नियंत्रण प्राप्त हो सकता है।

## सूत्र 41 – आभा मंडल

*समानजयाज्ज्वलनम् ॥41॥*

समान वायु विजय प्राप्त करने से शरीर दीप्तिमान होता है॥ 41 ॥

समान वायु पाचक रस उत्पन्न करता है। यह पेट में भोजन पचाने वाली जठराग्नि से सम्बन्धित है। इसका कार्यक्षेत्र हृदय से नाभि तक है। अग्नि तत्त्व के विकास द्वारा जब समान वायु पर विजय प्राप्त हो जाती है तब शरीर के चारों ओर आभामंडल विकसित होता है। यह प्राणायाम, ब्रह्मचर्य और अन्य शुद्धिकरण के अभ्यासों के द्वारा संभव है।

## सूत्र 42 – दिव्य श्रवण

*श्रोत्राकाशयोः सम्बन्ध संयमात् दिव्य श्रोत्रम् ॥42॥*

कान और आकाश के सम्बन्ध पर संयम करने से दिव्य श्रवण की क्षमता आती है।

आकाश ही वह माध्यम है जिसके द्वारा ध्वनि का गमन होता है; कान वह अंग है जो ध्वनि को ग्रहण करता है। इनके सम्बन्ध पर संयम करने से अतिभौतिक ध्वनि उत्पन्न होती है, जो भौतिक धरातल की ध्वनियों से भिन्न होती है। ध्वनि की निरंतरता सदा बनी रहती है, पर धरातल भौतिक या अतिभौतिक हो सकता है। उदाहरणार्थ, नादयोग में ध्वनि के चार चरण होते हैं, यथा – भौतिक, श्रव्य, मानसिक और अनुभवातीत, अथवा वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा। ये ध्वनि के चार धरातल हैं।

हमारे कानों को एक विशेष दूरी की ध्वनियों को सुनने की क्षमता होती है, परन्तु माध्यम के रूप में आकाश सभी ध्वनियों के संचरण में सक्षम है। ध्वनि तरंगों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में कुछ समय लगता है, परन्तु एक बार जब वे उत्पन्न हो जाती हैं तब उसके बाद वे समाप्त नहीं होतीं। उसी प्रकार योग में एक अवधारणा है कि अतिभौतिक धरातल या भौतिक धरातल की ध्वनि में विच्छेदन नहीं होता है, वह अविरत रहती है। कान से आकाश के सम्बन्ध पर संयम करने से व्यक्ति को ध्वनि को, जिसे अतिभौतिक ध्वनि कहते हैं, सुनने की अतिभौतिक क्षमता प्राप्त हो जाती है। दिव्य श्रवण उन्हीं सूक्ष्म ध्वनियों के प्रति संवेदनशीलता को कहते हैं, जो सामान्य मानसिक क्षमता की सीमा से परे हैं।

जब स्थूल ध्वनि रुक जाती है तब आप अपेक्षाकृत सूक्ष्मतर ध्वनि सुन सकते हैं। जब वह भी रुक जाती है, तब आप उससे भी सूक्ष्मतर ध्वनि सुन सकते हैं। अन्ततः मन इतना संवेदनशील हो जाता है कि वह सूक्ष्मतम ध्वनि सुन सकता है। जब वह भी रुक जाती है तब आप अपने हृदय की धड़कन सुन सकते हैं। उसके बाद आप अति सूक्ष्म ध्वनियों के स्पन्दन को पकड़ सकते हैं और आकाश के साथ कानों के सम्बन्ध पर संयम करने से आप दिव्य ध्वनियों को सुन सकते हैं।

## सूत्र 43 – आकाशगमन

*कायाकाशयो: सम्बन्ध संयमाल्लघुतूल समापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥43॥*

शरीर और आकाश के सम्बन्ध पर संयम करने और मन को रुई के हल्केपन के साथ विलीन कर देने से आकाश गमन की क्षमता योगी प्राप्त करता है।

रुई के सूक्ष्मतम रेशों को तूल कहते हैं, जो अत्यन्त हल्के होते हैं और इसलिए हवा में उड़ते रहते हैं। यदि एक योगी अपने शरीर के साथ आकाश के सम्बन्ध पर संयम करे और रुई के रेशों के हल्केपन पर धारणा करे तो वह भी इसी प्रकार हवा में तैर सकता है। यहाँ आकाशगमन का अर्थ आकाश में स्थूल शरीर का स्थान परिवर्तन, आकाश में गतिमान होना नहीं है। जब इस सूत्र में वर्णित संयम किया जाता है, तब एक ऐसी स्थिति आती है जिसमें सूक्ष्म शरीर को आकाश में गतिमान किया जा सकता है। इसमें स्थूल शरीर की गतिशीलता सम्मिलित नहीं है, वरन् वह गतिशीलता सूक्ष्म शरीर की होती है। स्थूल शरीर एक स्थानविशेष पर ही रहता है, सूक्ष्म शरीर को उससे अलग कर लिया जाता है और वही आकाश में गतिमान होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल आकाश पर, शरीर पर और हल्की रुई पर संयम करने से व्यक्ति आकाशगमन नहीं कर सकता है, वरन् उसकी विधि उन कणों के ज्ञान पर अधिक निर्भर करती है जिनसे भौतिक एवं मानसिक शरीरों का निर्माण होता है।

जिस प्रकार एक बढ़ई को एक उपस्कर (पलंग आदि) की संरचना की जानकारी होने से वह उसके विभिन्न भागों को जोड़ कर पलंग खड़ा कर सकता है, उसी प्रकार एक योगी को यदि अपने भौतिक और अतीन्द्रिय शरीर के अवयवों का ज्ञान रहता है तो वह अपने शरीर को विखण्डित या अलग कर सकता है। इस सिद्धि के लिए उसे अपने शरीर और मन के अवयवों की स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए, तभी योगी के लिए अपने शरीर को विघटित करना संभव हो पायेगा। रुई के रेशों पर धारणा करने से शरीर के हल्केपन का अनुभव किया जा सकता है। परन्तु वह हल्कापन आत्मनिष्ठ होता है। यह केवल एक अनुभूति है।

आध्यात्मिक साधक को धीरे-धीरे मानसिक रूप से स्थूल शरीर को आकाश में विघटित करना चाहिए और तब स्थूल शरीर की अवधारणा उत्तरोत्तर विलीन होती जाती है, पर वह केवल व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति है।

## सूत्र 44 – मन की व्यापक अवस्था

*बहिरकल्पता वृत्तिर्महा विदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥44॥*

महाविदेह की अवस्था में वृत्तियाँ अकल्पनीय और शरीर की पहुँच के बाहर होती हैं, जिसके फलस्वरूप प्रकाश पर पड़ा आवरण नष्ट हो जाता है।

महाविदेह का अर्थ है, मन की बृहत् या व्यापक अवस्था, जो भौतिक शरीर के बिना कार्य करती है। हमारे मन का प्रत्यय दो चीजों से बना है –

1. हम अपने दैनिक जीवन के अनुभवों, अनेक जन्मों के संस्कारों आदि से जो सीखते हैं। मन का यह प्रत्यय विगत संस्कारों के भंडार पर निर्भर करता है।
2. इसके अतिरिक्त एक अवस्था होती है जिसे व्यापक मन कहते हैं। इसे पहले ही समझ लिया गया होगा। एक मन विभिन्न प्रकार के संस्कारों से बनता है। यह इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य जगत के सम्पर्क पर निर्भर करता है, पर उसका आधार व्यापक मन में होता है। व्यापक मन मूल रूप में होता है; यह सभी मानवों के व्यक्तित्व का एक साझा आधार होता है।

यदि अनुभवजन्य सभी संस्कारों को मन से बाहर निकाल दिया जाये तो, जो शेष रहेगा वह व्यापक मन होगा, जो अनन्त और असीम होता है। महाविदेह की अवस्था व्यापक मन की सजगता के लिए है। जब इसका सम्पर्क संयम से होता है तब मनुष्य अशरीरी हो जाता है।

महाविदेह अवस्था एक वृत्ति है। यह मन की एक अवस्था है। जब यह अवस्था आ जाती है तब प्रकाश पर पड़ा आवरण नष्ट हो जाता है। जब आप बाह्य जगत् और इन्द्रियों के सम्पर्क द्वारा प्राप्त संस्कारों को अस्वीकार करते जाते हैं, तब आप मन की एक अवस्था में पहुँचते है, जिसमें व्यापक मन शरीर, मन और इन्द्रियों से स्वतंत्र रूप से कार्य करने लगता है। उस अवस्था में आवरण के हट जाने के कारण आध्यात्मिक ज्योति प्रकाशित हो जाती है, परन्तु यह प्राणायाम के अभ्यास से हटाये जाने वाले प्रकाश के आवरण से भिन्न होता है।

## सूत्र 45 – भूतजय

*स्थूलस्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्व संयमाद् भूतजयः ॥45॥*

स्थूल, तात्त्विक, सूक्ष्म और अन्तर्व्याप्ति अवस्थाओं और भूतों के उद्देश्य पर संयम करने से भूतों पर जय की प्राप्ति होती है।

पंच भूतों की पाँच अवस्थायें होती हैं, यथा – उनका स्थूल रूप, वास्तविक रूप, सूक्ष्म रूप, व्यापक रूप और उनका उद्देश्य। पंचभूतों की इन अवस्थाओं पर संयम करने से उन पर नियन्त्रण प्राप्त होता है। यहाँ तत्त्व का अर्थ गुण नहीं है, इसका अर्थ है मुख्य अवयव। इसका सम्बन्ध वस्तु के अस्तित्व की अवस्थाओं, कार्यों और प्रकृति से होता है।

सांख्य और योग में असंख्य तत्त्व हैं। यद्यपि वे एक दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी उनकी उत्पत्ति एक ही परमतत्त्व से हुई है। पाँच तत्त्वों का अर्थ है, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इन्हें संयम का विषय बनाया जाता है। इस प्रकार संयम न केवल उनके स्थूल रूप पर किया जाता है, वरन् उनके सूक्ष्म, मौलिक और व्यापक रूपों पर भी किया जाता है। पृथ्वी की मूल प्रकृति गंध है, जल की तरलता, अग्नि की ऊष्मा, वायु की गति और आकाश की प्रकृति शब्द है। इन मौलिक गुणों पर संयम किया जाता है। उनकी सूक्ष्म अवस्था है तन्मात्रा जिन्हें गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द कहते हैं। इनपर भी संयम किया जाता है। उसी प्रकार उनके व्यापक रूप पर भी संयम किया जाता है, जो सबके लिए समान है। इसके पश्चात् भूतों के कार्यों या उद्देश्य पर ध्यान किया जाता है। इनके कार्यों से तात्पर्य है सांख्य के पच्चीस तत्त्व, जो इस प्रकार हैं – पुरुष, प्रकृति, तीन आन्तरिक अंग, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रायें और पाँच तत्त्व। सांख्य के पच्चीस तत्त्व भूतों के कार्य हैं।

## सूत्र 46 – अणिमा आदि की सिद्धि

*ततोऽणिमादि प्रादुर्भाव: कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥46॥*

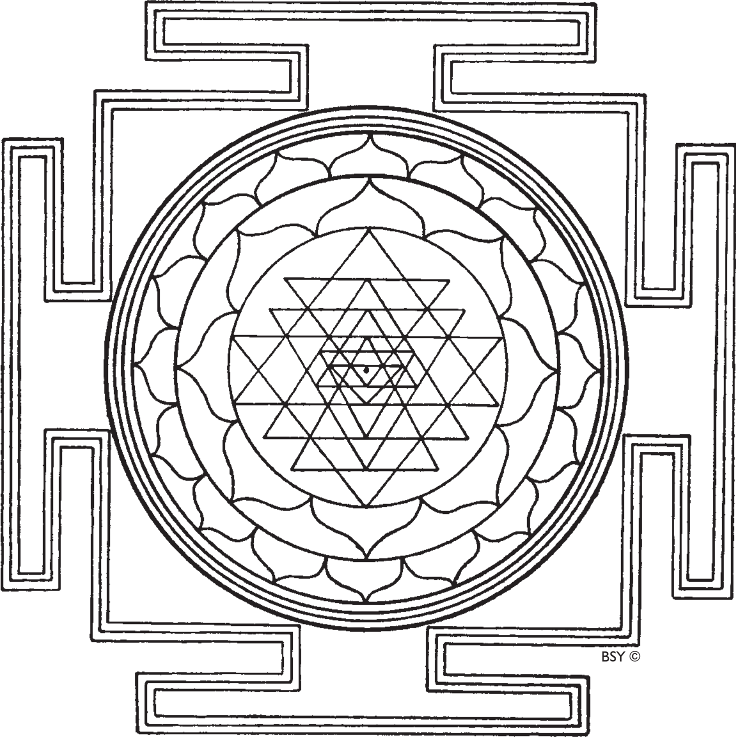
उस से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्रकट होती हैं, शरीर में पूर्णता आती है और शरीर के कार्य अवरोध उत्पन्न नहीं करते हैं।

पिछले सूत्र में जो घोषित किया गया है कि पंचभूतों पर जय हो जाने से योगी आठ सिद्धियाँ प्राप्त करता है, यथा – अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, वशित्व और इशित्व। उसका शरीर अनिन्द्य हो जाता है, और वह शरीर और भूतों की सीमाओं के कारण आने वाली बाधाओं को जीत लेता है। इस प्रकार इनके तीन निमित्त हैं, यथा – अणिमादि का प्रकट होना, शरीर की पूर्णता और सभी बाधाओं पर विजय।

ये आठ सिद्धियाँ जो अष्ट सिद्धि कहलाती हैं, एक साथ रहती हैं –

1. अणिमा – योगी शरीर को अणु के समान सूक्ष्म कर लेता है।
2. लघिमा – शरीर को हल्का बना लिया जाता है।
3. महिमा – शरीर को विशाल कर लिया जाता है।
4. गरिमा – शरीर को भारी कर लिया जाता है।
5. प्राप्ति – कहीं भी पहुँचने की क्षमता।
6. प्रकाम्य – इच्छा की अबाधित परिपूर्णता।
7. वशित्व – जैव या अजैव, सभी वस्तुओं पर नियन्त्रण।
8. इशित्व – इच्छानुसार भौतिक पदार्थों का निर्माण और विनाश कर देना।

पंच महाभूतों पर पूर्ण विजय के फलस्वरूप आठ सिद्धियाँ प्रकट होती हैं। इन सिद्धियों के अतिरिक्त शारीरिक पूर्णता प्राप्त होती है। तीसरी उपलब्धि यह है कि योगी प्रकृति या तत्त्वों की बाधाओं से प्रभावित नहीं होता।




श्री यंत्र

## सूत्र 47 – शरीर की पूर्णता

*रूप लावण्य बलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥47॥*

स्थूल शरीर की पूर्णता में रूप, लावण्य, ऊर्जा और कठोरता आती है।

स्मरणीय है कि लावण्य कुरूपता या रंग की सुन्दरता से भिन्न है।

## सूत्र 48 – इन्द्रिय जय

*ग्रहण स्वरूपास्मितान्वयार्थत्त्व संयमादिन्द्रियजय: ॥48॥*

बोध-शक्ति, मूल प्रकृति, अहमन्यता, सर्वव्यापकता और सोद्देश्यता पर संयम करने से इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त होता है।

इन्द्रियों पर नियन्त्रण और स्वामित्व प्राप्त करने के लिए निम्नांकित पाँचों पर संयम करना आवश्यक है –

1. इन्द्रियविशेष की बोध-शक्ति
2. इन्द्रियों की मूल प्रकृति
3. व्यक्ति की व्यक्तिकता या अहमन्यता, जो इन्द्रियों के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करती है।
4. सर्वव्यापकता, जिसका अर्थ है इन्द्रियों का एक-दूसरे से पारस्परिक सम्बन्ध। इसका तात्पर्य है अनेक इन्द्रियों का एक साथ कार्य करना। उदाहरणार्थ, जब आप एक पशु को देखते है तो आँखों से ही आप जान सकते हैं कि वह कुत्ता है या हाथी, उसकी आवाज सुन सकते हैं, स्पर्श से उसका अनुभव कर सकते हैं, आदि। मन में उत्पन्न होने वाला ज्ञान वह सभी अंगों के प्रभाव का मिश्रण होता है। ज्ञान एक ही है, पर वह समान रूप से और एक साथ विभिन्न इन्द्रियों पर निर्भर करता है।
5. उद्देश्य – मनुष्य के जीवन की योजना में प्रत्येक इन्द्रिय का निश्चित प्रयोजन होता है। प्रयोजन दो हैं – भोग या अनुभव और अपवर्ग या मोक्ष।

इन्द्रियों की पाँचों अवस्थाओं और इन्द्रियों पर अलग-अलग संयम करना है। उदाहरण के लिए, आप आँखों की मौलिक प्रकृति पर ध्यान करते हैं, यह बोध है। आँखों की अस्मिता का अर्थ है 'मैं देख रहा हूँ' की सजगता। उसके बाद, बोध द्वारा प्राप्त ज्ञान अन्य इन्द्रियों पर भी निर्भर करता है। इस प्रकार इन्द्रियों पर संयम का अभ्यास किया जाता है।




**प्राण शक्ति**

## सूत्र 49 – प्रकृति पर विजय

*ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधान जयश्च ॥49॥*

उससे मन के समान वेग प्राप्त होता है, किसी भी माध्यम की सहायता से मुक्ति मिल जाती है और प्रकृति की सीमाओं पर विजय की प्राप्ति होती है।

इन्द्रियों पर स्वामित्व प्राप्त कर लेने से निम्नांकित महती क्षमतायें प्राप्त होती हैं –

1. मन के समान वेग की प्राप्ति
2. किसी सहायता के बिना काम करने की क्षमता
3. प्रकृति पर पूर्ण नियन्त्रण।

योगी आँखों के बिना देखता है, पैरों के बिना चलता है; उसे किसी भी संज्ञानात्मक या क्रियात्मक अंग की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह पूर्णतया इन्द्रियों के परे चला जाता है। विकरणभाव का यही अर्थ है।

प्रधान का अर्थ है अपने रूपान्तरणों के साथ प्रकृति। इसके द्वारा मधुप्रतीका नाम की सिद्धि प्राप्त होती है; योगी मधु के समान सिद्धियों का आनन्द प्राप्त करता है।

यौगिक सिद्धियों की उपलब्धि के महत् उत्तरदायित्व होते हैं। यह एक नाग को गले में लपेट कर रखने या एक बाघ को कमरे में रखने जैसा है। सिद्धियाँ मधु के समान आनन्ददायक हो सकती हैं, लेकिन केवल तब जब आपको प्रकृति के रूपान्तरणों पर पूर्ण नियन्त्रण हो, अन्यथा वे अशान्ति और उपद्रव उत्पन्न करती हैं। यह वैसा ही है जैसे एक व्यक्ति के पास बहुत धन हो और वह डाकुओं की संगति में हो। उसका मन तब तक शान्त नहीं रहेगा जब तक डाकू पूरी तरह उसके नियन्त्रण में न हों, उस योगी की भी ऐसी ही दशा होती है जिसके पास सिद्धियाँ हैं।

## सूत्र 50 – सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता

*सत्त्वपुरुषान्यताख्याति मात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥50॥*

चित्त और पुरुष के अन्तर की सजगता के ज्ञान से ही सभी अस्तित्व और सर्वज्ञता की सभी अवस्थाओं और रूपों पर स्वामित्व प्राप्त हो जाता है।

ईश्वर के तीन गुण हैं – सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता। जब चित्त और पुरुष के अन्तर पर संयम किया जाता है, और जब चित्त एवं पुरुष के मध्य अन्तर का पूरा ज्ञान हो जाता है, तो साधक पुरुष को चित्त से सर्वथा भिन्न स्पष्ट अनुभव कर लेता है। तब ईश्वर मनुष्य के माध्यम से कार्य करने के लिए आ जाते हैं।

तब साधक सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ के समान काम करने लगता है। यही कारण है कि इन गुणों से विभूषित अनेक मानव पैगम्बर या ईश्वर के अवतार के रूप में जाने जाते हैं। पुरुष चित्त के बन्धनकारी प्रभावों से मुक्त हो जाता है और सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ के रूप में अपने मूल स्वभाव को प्रकट करने योग्य हो जाता है।

## सूत्र 51 – वैराग्य और ज्ञान

*तद्वैराग्यादपि दोष बीजक्षये कैवल्यम् ॥51॥*

वैराग्य के द्वारा (सिद्धियों से) सम्बन्धित दोषों का बीज नष्ट हो जाता है और कैवल्य की प्राप्ति होती है।

जब चित्त और पुरुष के बीच भिन्नता के स्पष्ट अनुभव से विवेकख्याति उपलब्ध हो जाती है और सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता की दो सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तब योगी अब तक प्राप्त उपलब्धियों, फलों और प्रभावों से अनासक्त हो जाता है और उनका परित्याग कर देता है। इससे बन्धन का बीज (अविद्या) नष्ट हो जाता है। यही है कैवल्य की अवस्था।

कैवल्य का अर्थ मोक्ष या मुक्ति नहीं है। ईश्वरानुभूति भी उस अवस्था से भिन्न है। कैवल्य शब्द की उत्पत्ति केवल शब्द से हुई है जिसका अर्थ होता है केवल एक, न अन्य। अत: कैवल्य का अर्थ है एकाकीपन, अकेलापन। यह अद्वैत की अवस्था है।

कैवल्य के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है और इसके विषय में बहुत कुछ कहा जाता रहेगा। यह परमात्मा या ईश्वर के सकारात्मक ज्ञान की अनुभूति की अवस्था नहीं है। कैवल्य की इस धारणा को योग साधक के द्वारा उपयुक्त रूप से समझ लिया जाना चाहिए। यह एक अवस्था नहीं है, जिसको समझाया जा सके। अन्य सब कुछ खो देने अथवा त्याग देने के बाद ही इसे पाया जा सकता है। यह पूर्णता या अद्वैत की अवस्था है। कैवल्य ही वह बिन्दु है जहाँ वेदान्त योग में आता है।

## सूत्र 52 – पतन के कारण

*स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्ट प्रसंगात् ॥52॥*

देवताओं के निमंत्रण से आसक्ति एवं अभिमान नहीं होना चाहिए, क्योंकि अनिष्ट के पुन: उत्पन्न होने की संभावना रहती है।

योगी में सिद्धियों के प्रकट हो जाने से योगी विभिन्न कर्मों की प्रभारी शक्तियों, उदाहरण के लिए, देवताओं के सम्मानपूर्ण निमंत्रण का पात्र बन जाता है। इन परिस्थितियों में योगी को आसक्ति या अहंकार प्रकट नहीं करना चाहिए अन्यथा अवांच्छित प्रतिक्रियाओं के पुन: उत्पन्न होने की संभावना रहती है। योगी शारीरिक या मानसिक कष्ट पाता है, इसीलिए इस सूत्र में कहा गया है कि उसे सावधान रहना चाहिए और आसक्ति या अहंकार का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।

योगी चार प्रकार के होते हैं –

1. प्रथम कल्पिका या समाधि का नया अभ्यासी।
2. मधुभूमिका या जिसने यौगिक सिद्धियों के मधु का आस्वादन किया है।
3. प्रज्ञाज्योति, जो शुद्ध चेतना का प्रकाश देख पाते हैं।
4. अतिक्रान्त भावनीय, जो नितान्त अनासक्त हो गये हैं, और जिन्होंने उच्चतम उपलब्ध्यिों को भी त्याग दिया है। जिसने समस्त आध्यात्मिक साधनाओं को समाप्त कर लिया है।

विभिन्न अवस्थाओं में योगियों को उच्चतर सूक्ष्म धरातल के अधिपतियों द्वारा निमन्त्रित किया जाता है, और यहाँ योगी को पूर्ण संयम का पालन करना चाहिए। उसे आसक्ति और अहंकार से बचना चाहिए, तब वह आगे जा सकता है और लक्ष्य तक पहुँच सकता है, जहाँ से लौटना नहीं होता है। परन्तु यदि वह सावधान नहीं रहता है तो उसे दण्ड भुगतना पड़ता है। इसका अर्थ यह भी है कि जब व्यक्ति के हाथ में आध्यात्मिक शक्ति हो तो उसे सर्वप्रथम इन दो शर्तों को पूरा करना चाहिए, अर्थात् आसक्ति से छुटकारा और अहंकार से मुक्ति। जब तक ये दोनों शर्तें पूरी नहीं होतीं, उसे निश्चय कर लेना चाहिए कि वह अपनी सिद्धियों का उपयोग नहीं करेगा। एक बार वह इन दोनों से मुक्त हो जाता है तब वह आसानी से आगे बढ़ सकता है।

## सूत्र 53 – चरम सत्य का ज्ञान

*क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥53॥*

क्षण और उसके अनुक्रमण पर संयम करने से चरम सत्य की प्राप्ति का ज्ञान उत्पन्न होता है।

क्षण का अर्थ है काल की न्यूनतम इकाई। काल क्षणों का अनवरत अनुक्रमण है और क्षणों के अनुक्रमण पर ही संयम किया जाता है। इससे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे विवेक ज्ञान कहते हैं; यह पुरुष और प्रकृति के बीच के भेद से उत्पन्न विवेक का भाव है। यह सांख्य एवं योग की एक निर्णायक अवधारणा है। इसका अर्थ होता है पुरुष और प्रकृति का सही ज्ञान।

इस प्रकार विवेक में पुरुष और प्रकृति के बीच के पूर्ण अन्तर का ज्ञान सम्मिलित रहता है। अन्तर की अनुभूति से योगी अन्ततः अपने परमात्मा के लिए पूर्ण एकान्त प्राप्त कर लेता है। विवेकज ज्ञान परम सत्य की सजगता से उत्पन्न होता है। यह पराचेतना का उच्चतम धरातल है। इसकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति को आँखें बन्द कर क्षणों के अनवरत प्रवाह के प्रति सजग होने का प्रयास करना होता है और क्षणों के प्रवाह पर संयम करना होता है।

## सूत्र 54 – भेद का ज्ञान

*जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥54॥*

> वहाँ से दो समान वस्तुओं का ज्ञान उत्पन्न होता है, जिनमें किसी परिभाषा के नहीं होने के कारण जाति (जन्म की श्रेणी), लक्षण (विशेषता) या देश (स्थिति) में भेद नहीं किया जा सकता है।

परम सत्य के ज्ञान से व्यक्ति में एक क्षमता का विकास होता है, जिसके द्वारा व्यक्ति एक वस्तु की दो भिन्न अवस्थाओं में स्पष्ट भेद कर सकता है। इसी के द्वारा पूर्व, वर्तमान और भविष्य जन्म तथा चेतना के निरन्तरता का निर्धारण होता है। एक जन्म से दूसरे जन्म में व्यक्ति की विशेषताएँ, स्थितियाँ, और स्थानों में परिवर्तन होता रहता है, पर आत्मा वही रहती है। हालाँकि इसे समझना कठिन है। जिस प्रकार विभिन्न वस्तुएँ, जैसे – ईंटें या बर्तन मिट्टी से बनते हैं और अन्ततोगत्वा पुनः मिट्टी में मिल जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा जिसका स्वरूप विभिन्न जन्मों में भिन्न-भिन्न होता है, वह वस्तुतः एक और एक ही है। इसका ज्ञान उच्चतर चेतना के द्वारा होता है।

विवेकज ज्ञान के माध्यम से दो समान वस्तुओं के बीच का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जो जाति, लक्षण और देश के कारण अविभेद्य हैं। इसके द्वारा योगी जीव में हो रहे विभिन्न परिवर्तनों को जानता है तथा पदार्थ के तत्त्व को भी पूर्णतया जान जाता है।

## सूत्र 55 – अतीन्द्रिय ज्ञान

*तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥55॥*

अतीन्द्रिय ज्ञान में सभी प्रकार के अनुक्रमों से परे सभी वस्तुओं का ज्ञान सम्मिलित है और वह विवेक से उत्पन्न है।

उच्चतम ज्ञान परम सत्य का ज्ञान है। इस पद को प्राप्त करने वाला व्यक्ति सामान्य अस्तित्व के क्षेत्र को पार कर जाता है, इसीलिए यहाँ अक्रम शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ वह ज्ञान है जिसके द्वारा मनुष्य पार जा सकता है। परम सत्य का ज्ञान योगी को सदा के लिए दु:खों से बचाता है। इस ज्ञान की प्राप्ति से जीव देश और काल की बाधाओं को पार कर जाता है। जीव, जो माया की सीमाओं में उलझा हुआ था, इस ज्ञान की प्राप्ति के बाद पूर्णत: मुक्त हो जाता है।

## सूत्र 56 – कैवल्य प्राप्ति

*सत्त्वपुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति ॥56॥*

पुरुष और चित्त के प्रकाश को समरूप और शुद्ध करने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है।

जब चित्त की सम्पूर्ण संरचना पूर्णतः शुद्ध हो जाती है, और पुरुष पर इसका अध्यारोपण समाप्त हो जाता है तब कैवल्य आता है। उनके अन्तर की अनुभूति धीरे-धीरे होती है। चित्त की शुद्धि का तात्पर्य है क्रमिक और धीरे-धीरे अनुभूति होना।

जब चित्त के अन्दर परम सत्य की सजगता बढ़ती है, तब हम कह सकते हैं कि यह शुद्ध या प्रकाशित हो रही है। जब विक्षेप होता है तब चित्त अशुद्धियों से भरा होता है। अशुद्ध चित्त में बाह्य जगत् विकृत रूप में प्रतिबिम्बित होता है, पर जब चित्त शुद्ध हो जाता है तब वह पुरुष सहित सभी चीजों को यथावत प्रदर्शित करता है। यह दर्पण को स्वच्छ करने के समान है, ताकि वह प्रतिबिम्बों को बिना विक्षेप के ठीक-ठीक दिखाये।

इस अवस्था में पुरुष प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होता है। विभाजन और विभेदीकरण की एक प्रक्रिया होती है। यह कैवल्य की अवस्था है। जब पुरुष मन, बुद्धि और इन्द्रियों के माध्यम से काम करता है तब वह मुक्त नहीं होता है। वह बुद्धि और इन्द्रियों से प्रभावित हो जाता है, यह मुक्त नहीं रहता है। यह बन्धन में बंधा पुरुष होता है।

योग का प्रयोजन प्रति प्रसव की एक विधि प्रदान करना है, जिसके द्वारा पुरुष चित्त या प्रकृति से अलग, स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करता है। सिद्धि प्राप्ति की विभिन्न अवस्थाओं में पुरुष बिना आँखों के देख सकता है और इन्द्रियों के माध्यम के बिना काम कर सकता है।

अतः जब चित्त परिशुद्ध हो जाता है और पुरुष को चित्त के बन्धनों या रंजक प्रभावों से मुक्त कर लिया जाता है तब कैवल्य की प्राप्ति होती है। जब साधना द्वारा चित्त और पुरुष के क्षेत्रों के प्रकाशित होने की यह प्रक्रिया पूरी हो जाती है, तब पुरुष प्रकृति के क्षेत्र से पूर्णतः अलग हो जाता है। यह भावनात्मक विलगाव नहीं है, वरन् आध्यात्मिक कैवल्य है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति में वैयक्तिक चेतना सभी अवस्थाओं में चित्त या बाह्य जगत् की बाधाओं के बिना काम करती है। कैवल्य की यही अवस्था योग का लक्ष्य है।

## चतुर्थ सोपान

# कैवल्य पाद

**(34 सूत्र)**

## सूत्र 1 – सिद्धियों के स्रोत

*जन्मौषधि मंत्रतप: समाधिजा: सिद्धय: ॥ 1 ॥*

सिद्धियाँ जन्म, ओषधि, मंत्र, जप और समाधि से उत्पन्न होती हैं।

सिद्धियाँ पाँच तरह से प्राप्त की जा सकती हैं। ऐसे लोग हैं जो विशेष शक्तियों के साथ जन्म लेते हैं, यथा – दूरसंवेदन। यह शक्ति की अभिव्यक्ति पूर्व जन्मों में की गई साधना का परिणाम है। भगवत् गीता में इसे स्पष्ट रूप से समझाया गया है। वहाँ ऐसा कहा गया है कि जब साधक साधना द्वारा कुछ उपलब्धियाँ प्राप्त करता है और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है तब अगले जन्म में वे उसे संचित रूप में सुलभ होती हैं और उस बिन्दु से अपनी प्रगति प्रारम्भ करता है। ऐसे व्यक्ति आध्यात्मिक गुणों के साथ जन्म लेते हैं। उन्हें इस जन्म में उसके लिए कोई साधना नहीं करनी पड़ती है। शंकराचार्य इसके एक सुन्दर उदाहरण हैं। उन्होंने आठ वर्ष की अल्पावस्था में संन्यास ले लिया और पावन ग्रन्थों पर अद्‌भुत् भाष्य लिखे। बत्तीस साल की अवस्था के पूर्व ही उन्होंने भारत से बौद्ध धर्म की जड़ें उखाड़ दीं। दूसरे बालक ज्ञानेश्वर ने, जिनकी मृत्यु कम ही उम्र में हो गई, विस्मयजनक आध्यात्मिक कार्य किया और एक मुक्त व्यक्ति हो गये। यह संयोगवश नहीं हुआ, वरन् पूर्व जन्म के संचित संस्कारों के कारण हुआ।

सिद्धियाँ ओषधियों से भी प्राप्त हो सकती हैं। परन्तु एल.एस.डी.और गांजा इसमें सम्मिलित नहीं हैं, क्योंकि इनसे रोग और स्नायविक दोष उत्पन्न होते हैं। इन चीजों के कारण विशेष स्नायविक केन्द्रों पर अवसाद छा जाता है जो समाधि के जैसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं, परन्तु इन्हें सिद्धि देने वाली ओषधियों में सम्मिलित नहीं किया जाना है, क्योंकि ये निम्न प्रकार की हैं। परम्परागत रूप से, ओषधि का अर्थ है विशेष जड़ी-बूटियों का रस, यथा – अंजन, रसायन आदि, लेकिन एल.एस.डी.और गांजा नहीं। इनके निर्माण की विधि कुछ ही विश्वसनीय लोगों को ज्ञात है। ये जड़ी-बूटियाँ केवल हिमालय में मिलती हैं, अन्य स्थानों पर नहीं और ये अतिमानसिक अवस्था उत्पन्न करती हैं।

इन ओषधियों के प्रभावों को उच्चतर मानसिक शक्ति से नियंत्रित किया जा सकता है। पारा के कुछ विशेष सम्पाक हैं जो शरीर के लिए अत्यन्त महत्त्व

और उपयोग के हैं, परन्तु उनके गुणों और योग की आवश्यकता के कारण उन्हें ओषधि की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है।

तीसरी विधि में मंत्र के द्वारा सिद्धि प्राप्त की जाती है। उच्चतम आध्यात्मिक गुणों वाली यह अत्यन्त महान् सिद्धि होती है। आध्यात्मिक शक्ति विकसित करने का यह बड़ा शक्तिशाली साधन है। इस विधि बड़े उच्च स्तर की है। जन्म या ओषधि से प्राप्त सिद्धि व्यक्ति के वश में नहीं है, उसके नियंत्रण में नहीं है, पर मंत्र द्वारा विकसित सिद्धियाँ बड़े महत्त्व की हैं, क्योंकि उन्हें संकल्प के साथ पूर्ण चेतन प्रयास द्वारा विकसित किया जाता है। तंत्र शास्त्र में बहुत से मंत्र उपलब्ध हैं, उनका वैज्ञानिक रूप से अध्ययन किया जाता है। मंत्र अव्यक्त आध्यात्मिक, अतीन्द्रिय, गुह्य क्षमताओं को प्रकट करता है।

यौगिक शक्तियों की प्राप्ति का चौथा साधन है तप, परन्तु सिद्धियों के विकास का अति महत्त्वपूर्ण और उच्चतम साधन है संयम या समाधि। इसकी चर्चा विस्तार से की जा चुकी है।

## सूत्र 2 – तात्त्विक रूपान्तरण

*जात्यन्तर परिणाम: प्रकृत्यापूरात् ॥2॥*

एक पदार्थ (जन्म) का दूसरे में रूपान्तरण प्राकृतिक संभावना के अतिरेक से होता है।

यहाँ उस तर्कपूर्ण प्रक्रिया का वर्णन किया गया है, जिसके द्वारा स्वाभाविक प्रवृत्तियों की गति को बढ़ाया जा सकता है, और जहाँ से सामान्य मन अचानक विलक्षण अवस्था में छलांग लगाता है। यह प्रकृति के नियमों में अन्तरों की पूर्त्ति और उनके अतिरेक के द्वारा होता है।

उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति मनुष्य रूप में जन्म लेता है, दूसरा पशु रूप में, तीसरा एक पौधे के रूप में, इत्यादि। यहाँ जाति शब्द उस समूह या पदार्थ का बोध कराता है, जिसका सदस्य वह व्यक्ति होता है। जाति में परिवर्तन के अन्तर्गत पदार्थ में मौलिक रूपान्तरण सम्मिलित होता है। यदि जल बर्फ या वाष्प में बदलता है या एक स्वर्णाभूषण दूसरे आभूषण में बदलता है तो यह तात्त्विक रूपान्तरण नहीं है, पर अविद्या, क्लेश और मलों से भरा हुआ मन शुद्ध चेतना में बदल जाता है तो यह तात्त्विक रूपान्तरण या जात्यान्तर का परिणाम होगा।

प्रकृति का अर्थ है स्वभाव, अन्तर्निहित धर्म और आपूरात् का अर्थ है सम्पूर्ति। अत: प्रकृत्यापूरात् का अर्थ है, प्रकृति में विद्यमान रिक्तता को आप्लावित कर देना। उदाहरणार्थ, जब लकड़ी को अग्नि में डाला जाता है तो वह राख बन जाती है। यह जात्यान्तर परिणाम प्रकृत्यापूरात् का परिणाम है, यह रूप और स्वभाव का पूर्ण रूपान्तरण है। तथापि, यदि एक ईंट को अग्नि में डाला जाय उसमें तात्त्विक रूपान्तरण नहीं होगा। केवल उसका रंग या उसकी कठोरता बदलेगी।

तात्त्विक परिवर्तन बाहर से नहीं लाया जा सकता है, यह पदार्थ में अन्तर्निहित होना चाहिए। उदाहरण के लिए, मन को पराचेतना में बदला जा सकता है, क्योंकि आत्मा वहाँ पहले से ही विद्यमान है। केवल अविद्या को दूर कर देना है। अत: पराचेतना का विकास मन की प्रकृति में अन्तर्निहित है। पदार्थ में सम्भावना रहनी चाहिए, तभी उसमें तात्त्विक परिवर्तन हो सकता

है। अविद्या से शुद्ध ज्ञान में परिवर्तित होने में अनेक जन्म लग जा सकते हैं। इसके लिए पुनर्जन्म की कोई प्रक्रिया होनी चाहिए या कोई नियम होना चाहिए जो इसका निर्णय करे। जात्यान्तर परिणाम के लिए प्रकृति की तीव्र चेष्टा के लिए संस्कार ही उत्तरदायी हैं। यदि आप कुत्ते से हाथी में रूपान्तरण के लिए विकास की प्रक्रिया को तीव्र करना जानते हैं, तब यह कम ही जन्मों में हो जायेगा या यह अगले जन्म में भी हो सकता है। जो नियम एक पदार्थ के तात्त्विक क्रम में रूपान्तरण का निर्णय करता है, उसे प्रकृत्यपूरात प्रकृति का अतिरेक कहते हैं।

## सूत्र 3 – निमित्त कारण

*निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥3॥*

निमित्त कारण विविध प्रकृतियों का प्रेरक नहीं होता, वरन् किसान के समान वह केवल बाधाओं को दूर करता है।

सिद्धियों को प्राप्त करने की विभिन्न साधनायें और विधियाँ संभावनाओं को जाग्रत करने में वास्तविक निमित्त कारण नहीं हैं। किसी भी साधना या आध्यात्मिक अभ्यास का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं हो सकता है, परन्तु प्रकृति की विशेष शर्तों की पूर्त्ति द्वारा लाया गया रूपान्तरण अप्रत्यक्ष होता है, जैसे, खेत को सींचने वाला किसान बाधाओं को हटाता जाता है, ताकि पानी नालियों से होकर स्वत: बहता रहे, उसी प्रकार ये साधनायें प्रकृति के मार्ग की बाधायें हटाती हैं, और इस प्रकार प्रकृति अपने आप शेष कार्य करती है। साधनायें केवल अप्रत्यक्ष रूप से काम करती हैं।

आध्यात्मिक साधना चेतना या चित्त के क्रम में रूपान्तरण लाती है। बाधायें, जो साधक को अपने सही स्वभाव और वास्तविकता को देखने से रोकती हैं या व्यवधान उपस्थित करती हैं, पहले उन्हें हटाना है। साधन का यही प्रयोजन है। शंकराचार्य वेदान्त सूत्र पर अपने भाष्य में कहते हैं कि जीव की चेतना में तीन दोष हैं – मल, विक्षेप, और आवरण। उन्हें हटाने के लिए विभिन्न विधियों का उपयोग होता है, उदाहरण के लिए, ईश्वर की भक्ति से चित्त के मल का नाश होता है। धारणा के द्वारा विक्षेप समाप्त होता है और परमज्ञान शुद्ध चेतना द्वारा प्राप्त होता है।

कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोग प्रत्यक्ष रूप से मुक्ति नहीं दे सकते, वे परोक्ष रूप से काम करते हैं। वे प्रकृति की राह की बाधायें दूर करते हैं। इस सूत्र को इसी संदर्भ में समझना चाहिए। यदि सिद्धि में कोई विलम्ब हो रहा है, तो वह बाधाओं के कारण है। बाधाओं को दूर करने के लिए आध्यात्मिक साधना को उत्साह और निष्ठा के साथ करते रहना चाहिए।

जब आप पानी की नाली से बाधाओं को हटा देते हैं तब नाली में पानी स्वत: बहता रहता है, क्योंकि जल का स्वभाव है नीचे की ओर बहना। उसी प्रकार प्रकृति का यह स्वभाव है कि वह पुरुष के लिए अनुभवों का सृजन करे

और मोक्ष की अवस्था उत्पन्न करे। प्रकृति के मार्ग की बाधायें साधना से हटायी जाती हैं। अत: सभी प्रकार की साधनायें निमित्त हैं, वे प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान उत्पन्न नहीं करती हैं। चेतना के पथ से मलों को हटाने और दिव्य प्रकृति के लिए निर्बाध पथ निर्माण करने की ये शक्तिशाली विधियाँ हैं।

## सूत्र 4 – निर्माण चित्त

*निर्माण चित्तान्यस्मिता मात्रात् ॥4॥*

अस्मिता मात्र से निर्माण चित्त मुक्त होते हैं।

योगी अपनी अस्मिता से विभिन्न चित्तों का निर्माण कर सकता है, जिनके माध्यम से एक साथ पूर्व कर्मों के फलों का भोग करता है। यह नया चित्त या चेतना का नया वाहन केवल अस्मिता से ही निर्मित हो सकता है। निर्माण चित्त का तात्पर्य है बनायी गई, या निर्मित चेतना या जिसे अलग से कार्य में लगाया जाता है। चेतना के ये कृत्रिम वाहन संयम द्वारा उच्चतर लोकों की शक्तियों के परिचालन द्वारा निर्मित होते हैं। इन निर्माण चित्तों द्वारा योगी एक ही समय में चेतना के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करता है। वह एक साथ सभी चित्तों में पूर्णरूपेण सजग रहता है। यह संयम द्वारा महत् तत्त्व पर किया जाता है, जिसे योग और सांख्य, दोनों में अहंकार या अस्मिता कहा जाता है।

योग में महत् तत्त्व का अर्थ मनुष्य में वैयक्तिकता का केन्द्र होता है, जिसके चारों ओर व्यक्ति चेतना की विभिन्न अवस्थाओं, यथा – जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति आदि में कार्य करता है। निर्मित चित्त एक साथ उसे अनुभव प्रदान करते हैं। ये अनुभव योगी के प्राकृतिक चित्त में स्थानान्तरित हो जाते हैं और वह चित्त कर्माशय के फलों के भोग के कारण मुक्त हो जाता है।

कृत्रिम चित्त साधक के पूर्ण नियंत्रण में रहते हैं। वह इच्छानुसार उनका निर्माण कर सकता और उन्हें समेट ले सकता है। एक सामान्य मनुष्य के लिए ईश्वर परम है, किन्तु योगी के लिए परम उसके अन्दर रहता है। इस प्रकार उसकी वैयक्तिकता को अपने अन्दर ही सहारा मिल जाता है। सामान्य व्यक्ति में वैयक्तिकता जीवन के अनेक तत्त्वों पर निर्भर करती है। कृत्रिम रूप से निर्मित चित्त का विषय बड़ा रोचक है और कर्माशय को समाप्त करने में उपयोगी है।




भगवान शिव – योग के प्रथम प्रतिपादक

## सूत्र 5 – प्राकृतिक चित्त प्रेरित करता है

*प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥5॥*

प्रवृत्तियों के भेद से सम्बद्ध एक चित्त अनेक को प्रेरित करता है।

एक चित्त, जो योगी का मूल चित्त है, वही प्राकृतिक चित्त है और यह प्राकृतिक चित्त ही अनेक निर्मित चित्तों का निर्देशक, प्रेरक और नियंत्रक होता है। यह निर्मित चित्तों के लिए निर्णय लेता है, उसे निर्देश देता है और उसे चेतना के विभिन्न क्षेत्रों की ओर विभिन्न प्रवृत्तियों में प्रेरित करता है।

योगी अपनी चेतना को विभिन्न लोकों में विभिन्न प्रवृत्तियों के संदर्भ में अपने मूल प्राकृतिक चित्त की सहायता से कई गुणा बढ़ा लेता है। निर्मित चित्त पूर्णतया प्राकृतिक चित्त पर निर्भर रहते हैं। कभी-कभी वे विभिन्न संदर्भों में आश्चर्यजनक क्षमता का प्रदर्शन करते हैं। अनेक स्थितियों में गुरु के चित्त में कार्य कर रही बुद्धि प्राकृतिक मन की भूमिका सम्पन्न करती है और यदि वह चेतना के कृत्रिम वाहनों को निर्मित करने में समर्थ है तो शिष्य के माध्यम से कार्य करती है।

## सूत्र 6 – और संस्कारों से मुक्त है

*तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥6॥*

उनमें से एक जो ध्यान से उत्पन्न है, संस्कारों से मुक्त होता है।

जब योगी अनेक चित्तों का कृत्रिम रूप से निर्माण करता है तब उसका अपना मूल प्राकृतिक चित्त क्रमशः पूर्व संस्कारों से मुक्त होता जाता है। कृत्रिम चित्तों का अपना अलग कर्माशय नहीं होता, पर वे प्राकृतिक मन पर निर्भर रहते हैं और उसकी सेवा करते हैं। यह कुछ व्यापारिक संस्थान के समान है, जिसकी शाखायें विभिन्न स्थानों में होती हैं। मुख्यालय के निर्णय के अनुसार ये शाखायें खुलती या बन्द होती हैं। उसी प्रकार निर्मित चित्त को मुख्य शाखा, अर्थात् प्राकृतिक मन की अस्थायी शाखाओं का रूप माना जा सकता है। उनको स्वतंत्रता नहीं होती, क्योंकि उनका एक ही प्रयोजन है, प्राकृतिक चित्त की सेवा करना।

योगी विभिन्न चित्तों, विभिन्न शरीरों और विभिन्न स्थानों में कार्य करने में सक्षम होते हैं और वे कर्म भी करते हैं। प्राकृतिक मन से संस्कार समाप्त हो जाते हैं और वह क्रमशः अपने कर्माशय से मुक्त हो जाता है।

## सूत्र 7 – कर्म का प्रभाव

*कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥7॥*

योगी के कर्म न शुक्ल होते है न कृष्ण; दूसरों के तीन प्रकार के होते हैं।

शुक्ल कर्म का अर्थ वे कर्म है जिनमें सद्‌गुण सम्मिलित होते हैं, अर्थात् अच्छे कर्म। कृष्ण कर्म का अर्थ है बुरे कर्म, ऐसे कर्म जिनमें दुर्गुण सम्मिलित हों। योगी इस प्रकार काम करता है कि उसके कर्म अच्छे या बुरे वर्ग में नहीं आ सकते, उन्हें न अच्छा कहते हैं न बुरा। इसका कारण यह है कि योगी का चित्त साधना से शुद्ध हो गया है, अत: उसके कर्मों के पीछे उसका कोई स्वार्थपूर्ण अभिप्राय नहीं होता। योगी निम्न चित्त के माध्यम से कार्य सम्पन्न नहीं करते हैं, वे निर्माण चित्त के द्वारा कार्य सम्पन्न करते हैं। योगी ऐसे कर्म करता है जो न अच्छे होते हैं न बुरे, जबकि अन्य लोगों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं।

अन्य लोग इस संसार में निम्न चित्त और इन्द्रियों से कर्म सम्पादित करते हैं, और हमारा चित्त और शरीर कर्मों के वाहन या माध्यम हैं। जब कर्म इन्द्रियों, चित्त और शरीर द्वारा होता है तब वे तीन प्रकार के प्रभाव, यथा – अच्छे कर्म, बुरे कर्म और मिश्रित कर्म उत्पन्न करते हैं। अत: सामान्य जन जो इन्द्रिय, मन और शरीर के संसार में रहते है, जो निष्काम कर्म का रहस्य नहीं जानते, उन्हें दु:ख भोगना पड़ता है।

## सूत्र 8 – वासनाओं की अभिव्यक्ति

*ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥8॥*

उनसे (त्रिविध कर्मों से) केवल उनकी परिपक्वता के अनुसार सम्भावित वासनाओं (इच्छाओं) की अभिव्यक्ति होती है।

विभिन्न जन्मों में वासना की अभिव्यक्ति कर्मों की संभावना, दशा और परिपक्वता पर निर्भर करती है। सामान्य रूप से ऐसा होता है कि इस जन्म में भले ही हम अच्छे कर्म न करें, हम दुःख नहीं पाते अथवा हमें दुःख भोगना पड़ सकता है, भले ही हम अच्छे कर्म करते हैं। फलों की परिपक्वता के लिए जो सुलभ स्थितियाँ होती हैं उनके अनुसार सम्भावित वासनाओं के अभिव्यक्ति होने की सम्भावना के कारण ऐसा होता है। व्यक्ति के प्रारब्ध कर्म कर्मों के अनुसार नहीं परन्तु उनके औचित्य के अनुसार फल देते हैं। जिस प्रकार सब्जियों की शीघ्र और विलम्ब से आने वाली प्रजातियाँ होती हैं, उसी प्रकार कुछ कर्म शीघ्र फल देते हैं और कुछ देर से। उदाहरण के लिए, यदि आप आज पालक के बीज लगाते हैं तो दूसरे ही महीने में शाक मिल जायेगा। एक अमरूद का पेड़ तीन वर्ष में फल देगा, जबकि आम के पेड़ को तीन से पाँच वर्ष लगते हैं। ऐसा ही कर्मों के साथ भी है।

व्यक्ति को जो भोग इस जीवन में मिलते हैं, वे पूर्व जीवन के कर्मों के प्रभाव हो सकते हैं। सामान्य मनुष्य को तो भोगना ही पड़ता है, क्योंकि उन्हें कर्मों के फल पर नियंत्रण नहीं होता। दूसरी ओर, योगी का स्थितियों पर पूरा नियन्त्रण रहता है, जिनसे कर्म उत्पन्न होते हैं। एक चेतना, एक कर्म, एक चित्त होता है जो दुःख या सुख का भोग करता है, और जो कर्म के नैसर्गिक नियमों से संचालित होते हैं। परन्तु उसमें दूसरा मन होता है, जो पूर्णतया मुक्त रहता है। यह योग का निश्चयात्मक बिन्दु है, इसलिए इसे स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार योगी के दो चित्त होते हैं, एक जो दैनिक जीवन में प्रारब्ध के प्रभावों को भोगता है। वह पूर्व के कर्मों के अच्छे या बुरे परिणाम सामान्य मनुष्य की तरह भोगता है, पर महतत्त्व या अस्मिता पर ध्यान के कारण योगी अपने में दूसरा मार्ग, जिसे निर्माण चित्त कहते हैं, विकसित कर लेता है, जो चेतना

का उच्चतर वाहन है। इसके द्वारा सुख या दु:ख का भोग नहीं होता। सामान्य मनुष्य में निम्नतर चित्त होता है, इसलिए वह दु:ख भोगता है। दूसरी ओर, निर्माण चित्त के कारण योगी के न अच्छे कर्म होते हैं न बुरे।

कबीर ने कहा है कि कोई भी व्यक्ति इस नियम का अपवाद नहीं होता–

*"देह धरे को दण्ड है, सब काहू को होय,*
*ज्ञानी भुगते ज्ञान सों मूरख भुगते रोय।"*

मूर्ख व्यक्ति कर्म के सिद्धान्त को दु:ख से रोकर भोगता है, ज्ञानी समझ और शक्ति के साथ भोगते हैं।

यही वह रहस्य है जिसके विषय में लोग भ्रम में रहते हैं। वे समझ नहीं पाते कि योगी भी प्रारब्ध के परे नहीं जा सकता है। कर्म के सिद्धान्त को कोई नहीं तोड़ सकता है, पर योगी कर्मों और उनके फलों के प्रवाह में रहते हुए भी उससे अप्रभावित रह सकता है। यह उसके निर्माण चित्त के कारण होता है। उसके द्वारा वह उस द्वार का पता लगा लेता है जिससे होकर वह जीवन की क्रूरता से बच सकता है और तब वह जीवन का सामना करने की एक नयी विधि विकसित कर लेता है।

## सूत्र 9 – स्मृति और संस्कार

*जाति देश काल व्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति संस्कार योरेकरूपत्वात् ॥9॥*

चूँकि स्मृति और संस्कार स्वरूप में समान हैं, उनमें एक क्रम है, फिर भी जाति, देश और काल के द्वारा उनका विभाजन हो सकता है।

जब जीव एक देह से दूसरी देह में स्थानान्तरित होता है तब विभिन्न जन्मों में एक निरन्तरता रहती है, और सभी पूर्वजन्मों की स्मृति और संस्कार भी इस जन्म में बने रहते हैं। इसका कारण यह है कि इन देहान्तरणों में एक व्यक्तित्व का अबाध क्रम बराबर बना रहता है। वर्तमान जन्म इसके पहले वाले जन्म से केवल इस रूप में भिन्न रहता है कि यह भिन्न जाति, भिन्न स्थान और भिन्न समय है, पर सभी जन्म तो एक ही जीव का होता है।

देह से प्रस्थान के बाद जब अन्य शरीर में अवतरण होता है तो शरीर, स्थान और समय एक नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त चेतन मन का ज्ञान स्वयं को पूर्व जन्म से बिल्कुल नहीं जोड़ता। दो जन्मों की समानता को समझना बड़ा कठिन है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय जीवात्मा के देहान्तरण के सिद्धान्त से सम्बन्धित है। इस प्रकार स्मृति और संस्कारों के समान रहने के कारण विभिन्न जन्मों में जन्म, स्थान और समय में भिन्नता से कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

## सूत्र 10 – वासना के स्रोत

*तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥10॥*

वे अनादि हैं और जिजीविषा (जीने की चाह) शाश्वत होती है।

कार्य-कारण सिद्धान्त सामान्य मनुष्य के मन को बांधता है और इसलिए स्मृति और संस्कारों में निरन्तरता रहती है। यह सूत्र वासनाओं के स्रोत की चर्चा कर रहा है। संस्कारों के संचय की प्रक्रिया अनादि है। यह शाश्वत है, इसलिए वासनायें अनादि कही जाती हैं। वे इच्छाओं की अव्यक्त संभावनायें हैं। जब भी उन्हें अवसर मिलता है वे इच्छाओं का रूप ग्रहण कर सकती हैं।

वासना कारण या सूक्ष्म शरीर का अंग है। सामान्यत: उन्हें अवचेतन इच्छा माना जाता है, परन्तु योग में वासना का अर्थ है अव्यक्त सम्भावनाएँ जो कर्मों को उत्पन्न करती हैं। कारण शरीर को वासना देह भी कहते हैं, क्योंकि वासनायें उसका अंग होती हैं।

वासना का अनादित्व जिजीविषा के शाश्वत होने से प्रमाणित होता है। मनुष्य में जन्म से ही जीने की इच्छा पायी जाती है, यह अन्य प्राणियों में भी पायी जाती है। कोई भी प्राणी जिजीविषा से मुक्त नहीं है, इसलिए वासनायें भी अनादि होती हैं।

वासनायें इस शरीर के सूक्ष्म क्षेत्रों में पायी जाती हैं, यहाँ तक कि ब्रह्माण्डीय मन में भी, जिसके विभिन्न रूपान्तरण होते हैं। चेतना का अन्य प्रवाह होता है, वैयक्तिक संकल्पशक्ति उसकी अभिव्यक्ति है; वह प्रवाह भी सभी प्राणियों में विद्यमान है। जब योगी निर्माण चित्त विकसित करने में सक्षम हो जाता है तब यह उसमें विद्यमान सार्वभौम प्रवाह की एक अभिव्यक्ति ही है। यह दिव्य मन है। पूरब और पश्चिम के महान् चिन्तकों द्वारा इसका प्राय: उपयोग किया गया है। निम्नतर वैयक्तिक मन और ब्रह्माण्डीय मन से अलग, एक तीसरा मन भी है जिसे दिव्य मन कहते हैं। निर्माणकायचित्त उस परम चित्त के प्रकटीकरण की लघुब्रह्माण्डीय अभिव्यक्ति है।

## सूत्र 11 – वासनाओं का तिरोभाव

*हेतु फलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषाम भावे तद्‌भावः ॥ 11 ॥*

चूँकि हेतु (कारण) और फल, आश्रय और आलम्बन (वस्तु) एक साथ बँधे हुए होते हैं, अतः उनके अभाव (विलोप) से उसका भी अभाव (विलोप) हो जाता है।

वासनायें अनादि हैं, किन्तु कारण या आधार के समाप्त होने पर उनका भी नाश हो जाता है। कार्य और कारण परस्पर सम्बद्ध हैं। उसी प्रकार आश्रय और आलम्बन भी परस्पर सम्बद्ध हैं। अतः यदि दो में से एक विलुप्त हो जाता है तो दूसरा भी विलुप्त हो जायेगा। वासना का कारण है क्लेश, अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। फल है जन्म, भोग और जीवन। इन समस्त भोगों का आधार है चित्त। यह वासना का आधार है। यह वासना का आधार है, और वासना का आलम्बन या आधार हैं भोग की वस्तुएँ। अतः कार्य, कारण, आधार और आलम्बन पुनर्जन्म के चक्र की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए साथ-साथ रहते हैं। यदि इन चार तत्त्वों को समाप्त कर दिया जाय तो स्वाभाविक रूप से वासना का अन्त हो जायेगा। यदि कारण नहीं हो तो कार्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार यदि आश्रय नहीं होगा तो आलम्ब भी नहीं होगा।

यदि क्लेश समाप्त हो जायें, तो जीवन, जन्म और भोग नहीं होंगे, क्योंकि ये क्लेशों के फल हैं और यदि जन्म नहीं हो तो चित्त के होने का प्रश्न ही नहीं होता। यदि चित्त नहीं हो तो वासनाओं का आधार नहीं रहेगा। ध्यान की प्रक्रिया से चित्त को समाप्त किया जा सकता है; तब भोग की वस्तुओं के विद्यमान रहने पर भी वासना नहीं हो सकती। जब आश्रय और आलम्बन समाप्त हो जाते हैं तब वासनायें पूर्णतया समाप्त हो जाती हैं। इस प्रकार इस तथ्य के ज्ञान के द्वारा कि वासनायें इन चारों तत्त्वों पर निर्भर हैं, इन चार तत्त्वों की समाप्ति के द्वारा वासनाओं को भी समाप्त किया जा सकता है।

## सूत्र 12 – अतीत और भविष्य का अस्तित्व है

*अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥12॥*

पथों की भिन्नता द्वारा अतीत और अनागत (भूत और भविष्य) अपने रूप में अस्तित्व में रहते हैं।

काल के संदर्भ में जगत् प्रक्रिया भूत, वर्त्तमान और भविष्य है। प्रक्रियाओं या घटनाओं के रूप में इस जगत् की विभिन्न अवस्थायें होती हैं। जो आज है वह कल हो जायेगा और कुछ काल के बाद वही सूदूर अतीत की कोई घटना हो जायेगी। इस प्रकार आज अस्तित्व में रहेगा और एक वर्ष बाद भी अस्तित्व में बना रहेगा, पर वह वर्तमान में नहीं रहेगा। यह भूतकाल में रहेगा। उसके साथ ही, जो समय जगत् में अभी आने वाला है, अर्थात् भविष्य का जगत्, वह पहले से ही विद्यमान है। एक या दो दिनों के बाद या कुछ वर्षों बाद भविष्य आज का जगत् और अतीत का जगत् भी हो जायेगा।

इस प्रकार हम जानते हैं कि जगत् अतीत में, वर्तमान में है और भविष्य में भी है। और अतीत, वर्तमान और भविष्य अपने वास्तविक रूप में अस्तित्व में हैं। वे विकृत या भ्रामक नहीं हैं; वे मिश्रित या खोये नहीं हैं। उनका मौलिक रूप और उनकी पहचान नहीं खोती है। ऐसे मनुष्य भी हैं जो समय के उस जगत में प्रवेश करने में सक्षम हैं जिसे आप भविष्य कहते हैं, वे पैगम्बर बन जाते हैं और भविष्यकथन करते हैं।

इस प्रकार इस सूत्र में यह कहा गया है कि काल का जगत् भूत, वर्तमान और भविष्य के रूप में अलग-अलग समझा जा सकता है। यह योग दर्शन का शास्त्रीय मत है। काल जगत् का तात्त्विक रूप विवाद का विषय है। जो अधिक महत्त्व का है वह है अन्तर्हित गुणों की भिन्नता। दो मार्ग हैं – एक है संकल्प और दूसरा है स्वतन्त्र इच्छाशक्ति। संकल्प एक फिल्म के समान है जिसे परदे पर प्रस्तुत किया जा रहा है। यह वही प्रस्तुत कर सकता है जो फिल्म में है, यह कुछ अन्य प्रस्तुत नहीं कर सकता है। दूसरा मार्ग स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का है। ऐसी अनेक घटनाएँ होती हैं जिनमें हमारी इच्छानुसार परिवर्तन हो सकते हैं

इन दो भिन्न मार्गों के कारण अन्तर्हित गुणों में अन्तर हो जाता है। भूत और भविष्य भिन्न रहते हैं। इसे बदला जा सकता है। योग के अनुसार प्रत्येक

घटना देश और काल में पूर्वनियोजित रहती है। एक परदे पर प्रस्तुत फिल्म के समान सब चलता रहता है, परन्तु अन्तर्हित गुणों (धर्मों) में अन्तर होता है। वह अन्तर मार्गों में भिन्नता के कारण है और मार्गों की भिन्नता है जिसे हम संकल्प और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति कहते हैं। जब आप संकल्प की चर्चा करते है तब भविष्य वर्तमान हो जाता है और वर्तमान अतीत हो जाता है। आप उसे बदल नहीं सकते, क्योंकि वह आप की शक्ति के परे है। दूसरा बिन्दु यह है कि भविष्य वर्तमान हो जाता है और वर्तमान अतीत हो जाता है, पर हर क्षण परिवर्तन होता रहता है, क्योंकि आप में उसे परिवर्तित करने की क्षमता है। आप कालजगत् का रहस्य जानने में सक्षम हैं।

## सूत्र 13 – अस्तित्व के तत्त्व

*ते व्यक्त सूक्ष्मा गुणात्मानः ॥13॥*

व्यक्त या अव्यक्त, वे गुण स्वरूप होते हैं।

ते का तात्पर्य कालजगत् के अन्तर्हित गुण (धर्म) से है। कभी-कभी ये धर्म वर्तमान के रूप में अभिव्यक्त होते हैं, कभी-कभी भूत और भविष्य के रूप में। वे मात्र घटनायें नहीं हैं, वरन् धर्मों के विभिन्न मिश्रण हैं और जो वस्तुएँ आप देखते हैं वे तीन गुणों, सत्त्व, रजस् और तमस् से व्याप्त हैं। ये गुण व्यक्ति और ब्रह्माण्ड के भी तात्त्विक सिद्धान्त हैं। वे विभिन्न अनुपातों में मिश्रित होकर संसार की वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं।

अतः जगत् के व्यक्त गुण और उसकी अव्यक्त अवस्थाएँ, दोनों ही तीन गुणों से उत्पन्न हैं। यह समझ लेना चाहिए कि समय जगत् का उतना ही महत्त्वपूर्ण अंग है जितना वस्तुएँ हैं। सामान्यतः जगत् के विषय में माना जाता है कि यह केवल भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक वस्तुओं से सृजित है, पर काल का तत्त्व भी उसमें सम्मिलित है। यह सूत्र इस बिन्दु को स्पष्ट करता है कि धर्म मात्र कल्पना नहीं है, वरन् उसका निश्चित अस्तित्व होता है, क्योंकि वे तीन गुणों से निर्मित हैं।

जब व्यक्ति या ब्रह्माण्ड से तीन गुणों को निकाल दिया जाता है तब व्यक्ति जगत् की काल-प्रक्रिया को समझ सकता है और उसका अतिक्रमण कर सकता है।

## सूत्र 14 – वस्तु का सार

*परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ 14 ॥*

वस्तु का तत्त्व गुणों के रूपान्तरण में विलक्षणता के कारण होता है।

गुणों के साथ रूपान्तरण की प्रक्रिया होती है, और इस रूपान्तरण में विशिष्टता और विलक्षणता होती है। तीन गुणों के रूपान्तरण की विलक्षणता के कारण दैनिक जीवन में मानसिक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

तीनों गुण, जो प्रकृति के अंश हैं उनका अव्यक्त से व्यक्त में रूपान्तरण होता है। तीनों गुण न केवल पदार्थ को उत्पन्न करते है, उन्हें नियंत्रित भी करते हैं, परन्तु उसे अन्य से भिन्न भी बनाते हैं। गुण सृष्टि के जैव, अजैव, दैहिक, मानसिक और अतीन्द्रिय के साथ-साथ सूक्ष्म क्षेत्र उत्पन्न करते हैं।

तीनों गुणों की तात्त्विक अवधारणा या उनका ज्ञान पाना अति कठिन है। यह इतनी सूक्ष्म प्रक्रिया है कि इसकी संरचना के भीतर से काल और देश उत्पन्न होते हैं। स्वाभाविक रूप से गुणों के रूपान्तरण की विलक्षणता को महर्षि पतंजलि ने स्वीकार किया है।

रूपान्तरण में विलक्षणता के कारण गुणों के विभिन्न मिश्रण उत्पन्न होते हैं और विभिन्न स्थूल या सूक्ष्म वस्तुएँ उनका परिणाम होती हैं। यह पूर्णत: विलक्षण रूपान्तरण होता है। रूपान्तरण की इस विलक्षणता के कारण वस्तुओं की वास्तविकता तीनों गुणों में निहित है।

## सूत्र 15 – बोध का सिद्धान्त

*वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ 15 ॥*

वस्तुअ में साम्य और चित्त में भेद होने के कारण दोनों के मार्ग अलग हैं।

यह सूत्र बोध के यौगिक सिद्धान्त की व्याख्या कर रहा है। यद्यपि वस्तु एक होती है, फिर भी चित्त की भिन्नता के अनुसार इसके बोध में भिन्नता आ जाती है। एक ही वस्तु भिन्न समय में भिन्न दिख पड़ते हैं, क्योंकि मानसिक स्थिति में भिन्नता या ज्ञान के उपकरण में भिन्नता रहती है। वस्तु एक हो सकती है, पर अवस्था में भिन्नता और ज्ञान की क्षमता से सम्बन्धित समय भिन्नता के कारण भी यह भिन्न दिखाई पड़ती है। चित्त की अवस्था में यह विशेष अन्तर ही बोध में अन्तर का कारण है।

## सूत्र 16 – चित्त और वस्तु

*न चैक चित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥16॥*

बोध की वस्तु चित्त पर निर्भर नहीं होती है; यदि ज्ञान का माध्यम ही नहीं हो तो बोध की वस्तु का क्या होगा?

वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से होता है, पर वह एक चित्त या चित्त के ज्ञान के एक रूप पर निर्भर नहीं होता। यदि ऐसा होता तो ज्ञान के माध्यम के अभाव में ज्ञान बना नहीं रहता।

इस विषय में दो सिद्धान्त हैं। आदर्शवादी सिद्धान्त जगत् के अस्तित्व को ही अस्वीकार करता है। यथार्थवादी सिद्धान्त यह है कि जगत् अपने वस्तुनिष्ठ रूप में विद्यमान है, जैसा कि हम उसे देखते हैं। वेदान्त आदर्शवादी है, जबकि चार्वाक दर्शन यथार्थवादी है। योग मध्यम मार्ग का प्रतीत होता है। यह बोधात्मक जगत् के उच्चतर पक्ष को अस्वीकार नहीं करता और यह उसके वास्तविक रूप को भी अस्वीकार नहीं करता है। यह वस्तु के अस्तित्व के साथ ही उसके उच्चतर पक्ष के अस्तित्व में भी विश्वास करता है। अत: जब चित्त को अन्दर खींच लिया जाये तो भी जगत् विद्यमान रहेगा ही, क्योंकि जगत् अपनी पूरी समग्रता के साथ पदार्थ में, चित्त में, इन्द्रियों एवं देश और काल में विद्यमान रहता ही है।

वस्तु चित्त पर निर्भर नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि दृश्य-जगत् प्रत्येक चित्त के लिए व्यक्ति-सापेक्ष होता है, परन्तु यदि एक व्यक्ति कैवल्य प्राप्त कर लेता है तो भी उस दृश्य जगत् का विलोपन नहीं होता है। यह उन लोगों के लिए विद्यमान रहता है, जिन्होंने कैवल्य प्राप्त नहीं किया है। यदि आप सोचते हैं कि बोध की वस्तु, जिसका विलोप हो गया है, चित्त पर निर्भर है, तब यह प्रश्न उठेगा कि बोध की वस्तु का क्या होता है जब चित्त द्वारा उसका संज्ञान नहीं लिया जाता? उत्तर यह है कि अन्य मनुष्यों के लिए उस वस्तु का अस्तित्व बना रहता है।

## सूत्र 17 – वस्तु का प्रतिबिम्ब

*तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥17॥*

वस्तु के ज्ञान के लिए चित्त को उसके प्रतिबिम्ब की आवश्यकता होती है।

चित्त को वस्तु के प्रतिबिम्ब के लिए वस्तु की आवश्यकता होती है और केवल तभी वस्तु का ज्ञान हो सकता है। अत: जब तक अवधारणा की वस्तु का प्रतिबिम्ब चित्त पर नहीं पड़ता चित्त को वस्तुविशेष का ज्ञान या बोध नहीं होता है।

यदि एक वस्तु चित्त के समक्ष रखी जाये, पर उसका प्रतिबिम्ब नहीं हो, तो उसका ज्ञान नहीं होगा, उसका संज्ञान नहीं होगा, यद्यपि चित्त और वस्तु आमने-सामने होंगे। इसके अतिरिक्त केवल वस्तु के विद्यमान रहने से ही वस्तु का ज्ञान नहीं हो जाता है। ज्ञान तभी होता है जब चित्त में वस्तु का प्रतिबिम्ब बनता है।

अत: सूत्र का तात्पर्य है कि चित्त में वस्तु का प्रतिबिम्ब होने या नहीं होने के आधार पर ही वस्तु का ज्ञान होता या नहीं होता है।

## सूत्र 18 – पुरुष चित्त को जानता है

*सदाज्ञाता चित्तस्यवृत्तयस्तत्प्रभोः प्ररुषस्या परिणामित्वात् ॥18॥*

चित्त का स्वामी पुरुष अपरिवर्तनशील है, अतः वह सदा चित्तवृत्तियों को जानता है।

पुरुष में कभी परिवर्तन नहीं आता है; वह अचल रहता है जबकि अन्य सभी चीजें परिवर्तित हो जाती हैं। देश और काल का, गुणों और बोध आदि का जगत् सतत् परिवर्तनशील रहता है, पर इस परिवर्तन की एक स्थायी अपरिवर्तनशील पृष्ठभूमि होती है, एक स्थायी आधार होता है जो आत्मा है। अतः चित्त में जो भी होता रहता है, वह स्वतः आत्मा को ज्ञात हो जाता है, क्योंकि वह चित्त का स्वामी है।

## सूत्र 19 – चित्त स्वप्रकाशित नहीं होता है

*न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥19॥*

चित्त स्वप्रकाशित नहीं होता है, क्योंकि यह ज्ञान और बोध का विषय होता है।

सूर्य स्वप्रकाशित है, परन्तु चन्द्रमा स्वप्रकाशित नहीं है। उसी प्रकार आत्मा स्वाभासित है, पर चित्त नहीं। जब योगी समाधि की विभिन्न अवस्थाओं में चित्त के विभिन्न क्षेत्रों को स्पष्ट रूप में देखता है, तब वह (चित्त) दृश्य और ज्ञेय (जानने योग्य) हो जाता है, परन्तु पुरुष अपरिवर्तनशील है।

जिस क्षण चित्त अन्तर्मुख होता है और इन्द्रियों की सीमाओं का अतिक्रमण कर लेता है तब व्यक्ति को ज्ञान होता है कि पुरुष चित्त से भिन्न है। पुरुष चित्त को प्रकाशित करता है।

चित्त के द्वारा पुरुष का ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि इसके ज्ञान के लिए, चित्त अपनी समग्रता में पूर्णत: अलग कर दिया जाता है और अनुभव के क्षेत्र से बाहर निकाल दिया जाता है। जहाँ एक सामान्य व्यक्ति ज्ञान के लिए इन्द्रियों पर आश्रित है या एक वैज्ञानिक अपने यंत्रों पर, योगी आत्मज्ञान की उच्चतर क्षमताओं पर निर्भर रहता है। केवल ज्ञान के परिवर्तनशील उपकरण चित्त को अलग कर देने के बाद ही पुरुष की अनुभूति हो सकती है। अत: परमात्मा या पुरुष चित्त के द्वारा ज्ञेय विषय नहीं है, वरन् वह स्वयं में एक ज्ञेय विषय है। योग साधना की समस्त प्रक्रिया का सम्बन्ध जितना पुरुष की सजगता से नहीं है, उतना ज्ञान के निम्नतर स्वरूपों, सजगता के निम्नतर वाहन के निराकरण से है। यद्यपि पुरुष स्वयं आलोकित है, फिर भी यह चित्त द्वारा बोधगम्य नहीं है।

## सूत्र 20 – चित्त की सीमा

*एक समये चोभयानवधारणम् ॥20॥*

और एक ही साथ दोनों (चित्त और विषय) का ज्ञान नहीं हो सकता।

चित्त की अपनी सीमायें हैं। यहाँ यही बताया जा रहा है कि आपको एक साथ द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय का ज्ञान नहीं हो सकता। आपको एक समय दो में से एक का ही ज्ञान हो सकता है, क्योंकि चित्त केवल विशेष अनुभवों को ही देख सकता है।

जब चित्त द्रष्टा है, उसे देखा नहीं जा सकता। द्रष्टा और दृश्य की द्विविध क्षमता चित्त में नहीं है और यही उसकी सीमा है।

## सूत्र 21 – स्मृतियों की भ्रान्ति

*चित्तान्तर दृश्ये बुद्धि बुद्धिरेति प्रसंग: स्मृति संकरश्च ॥21॥*

यदि एक चित्त को दूसरे चित्त द्वारा दृश्य माना जाय तो संज्ञानों का संज्ञान होगा जो स्मृति को भ्रान्ति और असंगति की ओर ले जायेगा।

बौद्ध धर्म पुरुष को स्वीकार नहीं करता। वह कहता है कि चित्त स्वयं दूसरे चित्त को देख सकता है, परन्तु उस स्थिति में असंख्य चित्तों की श्रृंखला की आवश्यकता होगी – पहला दूसरे को देख रहा है, दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को, आदि। अत: बौद्ध धर्म का यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है। चित्त द्रष्टा नहीं हो सकता, वास्तविक द्रष्टा तो पुरुष ही है। चित्त द्वारा या अन्य किसी भी चीज द्वारा पुरुष का संज्ञान नहीं हो सकता।

योग का मत है कि चित्त को दूसरे चित्त का द्रष्टा मानने के स्थान पर हमें पुरुष को ही ज्ञाता के रूप में आधार मानना चाहिए, जो अपरिवर्तनशील रहता है, जबकि अन्य सभी सतत् परिवर्तनशील हैं।

## सूत्र 22 – अपनी प्रकृति का ज्ञान

*चित्तेर प्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धि संवेदनम् ॥22॥*

जब चेतना वह रूप ग्रहण कर लेती है जिसमें वह एक अवस्था से दूसरी अवस्था में नहीं जाती तब उसे आत्मबोध के द्वारा अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है ।

चित्त द्वारा संज्ञान चेतना के विभिन्न स्तरों पर निर्भर करता है, क्योंकि चेतना बुद्धि का वह विशेष रूप धारण कर लेती है जिससे होकर चित्त गुजर रहा होता है। जब चेतना उस प्रत्यय को धारण कर लेती है, जिसमें व्यक्ति के अनुभव, मानसिक वाहन के अभाव में, एक स्तर से दूसरे स्तर में नहीं जाते, तब आत्मज्ञान होता है। इस प्रकार व्यक्ति को अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है।

इसका सम्बन्ध पुरुष की उस अवस्था से है, जिसे *स्वरूपेऽवस्थानम्* कहते हैं। यह अवस्था तब आती है जब चित्त प्रत्यय को ग्रहण करता है, जो ऋतम्भरा से उत्पन्न होता है, जिसमें अनुभव नहीं बदलता है। जब तक चित्त के क्षेत्र में ध्यान चलता रहता है, अनुभूतियाँ बदलती रहती हैं। यह प्रतिसंक्रम् है। ये अनुभूतियाँ बदलती जाती हैं। जब मानसिक सजगता विकसित हो रही है या सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हो रही है तब अनुभूतियाँ बदलती रहती हैं। चित्त स्थिर नहीं होता है; यह निरन्तर विकासशील, परिवर्तनशील है। चित्त की यह मनोवैज्ञानिक एवं शरीरक्रियात्मक संरचना बदलती रहती है। चित्त की आन्तरिक संरचना में, ध्यान की अवस्था में, विस्मयकारी परिवर्तन होता है।

ध्यानावस्था के अनुभव अन्तिम नहीं हैं, क्योंकि उनमें सतत् परिवर्तन होता रहता है। अन्तिम अवस्था में चित्त का स्थिर अपरिवर्तनशील प्रत्यय होता है; उसमें कोई परिवर्तन नहीं होगा। समाधि की एक ऐसी अवस्था होती है जब अनुभवों की प्रक्रिया रुक जाती है और चित्त की सीमाओं के अतिक्रमण की कोई संभावना नहीं रहती है। तब द्रष्टा अपने स्वरूप को पा लेता है। प्रारम्भ में भिन्न-भिन्न रूप, यथा – शिवलिंगम् या ॐ हो सकता है, परन्तु अन्तिम अवस्था में केवल एक ही स्वरूप रह जाता है, जो बदलता नहीं है। इसे तदाकारपत्ति कहते हैं और वह समाधि की अन्तिम कोटि में आता है। भगवद्गीता और उपनिषदों में अन्तिम अवस्था का वर्णन है। यह शुद्ध चेतना की अवस्था है,

जिसके लक्षण हैं सत्, चित् और आनन्द। यह एकरूप अनुभव प्रदान करता है, जो चित्त के द्वारा सीमित नहीं है।

यह अवस्था तब आती है जब व्यक्ति चित्त की सीमाओं का अतिक्रमण कर लेता है और स्वयं को अविचल शुद्ध चेतना में अवस्थित कर लेता है, जो पूर्णत: एकरूप और स्थिर है। उस अवस्था में स्वबुद्धिसंवेदनम्, अर्थात् अपने चित्त का सम्पूर्ण ज्ञान होता है। शरीर, इन्द्रियों और चित्त का सम्पूर्ण बोध समाप्त हो जाता है और वहाँ केवल स्वरूप का, जो अपना ही रूप रहता है, अपरिवर्तनशील ज्ञान होता है।

बुद्धि का ज्ञान आपकी अन्त:प्रकृति का ज्ञान है। यहाँ बुद्धि का अर्थ विचारशक्ति या चित्त नहीं है; इसका तात्पर्य सजगता है।

गीता में कहा गया है कि परम सत्य बुद्धि या आत्मसजगता से परे है। इस सूत्र में बुद्धि का प्रयोग परम चेतना के लिए किया गया है। यह तब होती है, जब आप चित्त के माध्यम से नहीं, बल्कि परम चेतना के माध्यम से कार्य कर रहे होते हैं। ठीक उस समय जब चेतना के स्तर का विचलित होना रुक जाता है, व्यक्ति की अपनी मात्र एक अन्त:प्रकृति की अपरिवर्तनीय चेतना प्रकट होती है। तब आत्मज्ञान या आत्मा का परम ज्ञान होता है।

## सूत्र 23 – चित्त का बोध

*द्रष्ट दृश्योपरक्त चित्तं सर्वार्थम् ॥23॥*

द्रष्टा और दृश्य से रंजित चित्त सर्वबोधगम्य होता है।

यहाँ चित्त शब्द मन के सामान्य कार्यों के अर्थ में नहीं है, वरन् चेतना की उच्चतर अभिव्यक्तियों के अर्थ में है, जिसके द्वारा आत्मा के उच्चतर क्षेत्रों का ज्ञान होता है। इस सूत्र में चित्त का प्रयोग अतीन्द्रिय पुरुष के संदर्भ में किया गया है। हमें चित्त की असीम व्यापकता को समझना अत्यावश्यक है, जिसमें न केवल प्रकृति, वरन् पुरुष भी सम्मिलित है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सामान्य साधक का मन आध्यात्मिक स्तर पर यथेष्ट प्रगति कर लेने के बाद भी एक जैसा ही रहता है। अन्तर केवल इतना ही रहता है कि प्रारम्भ में मन प्रकृति द्वारा, वस्तुनिष्ठ ज्ञान द्वारा और तीन गुणों द्वारा रंजित (प्रभावित) था, अब वह अपनी सीमाओं से बाहर आ जाता है और इतना निर्मल हो जाता है कि पुरुष उसमें प्रतिबिम्बित होता है। इस प्रकार वह सर्वबोधगम्य हो जाता है।

इस सर्वार्थम् शब्द, अर्थात् सर्वबोधगम्य को ठीक से समझ लेना चाहिए। आध्यात्मिक साधना की प्रारम्भिक अवस्थाओं में भी चित्त सर्वबोधगम्य होता है, परन्तु वास्तव में यह कार्य नहीं करता। उस समय जो ज्ञेय है चित्त उसे देखता है, परन्तु जब वह निर्मल हो जाता है, वह उच्चतर ज्ञान विकसित करता है और द्रष्टा को भी देख सकता है। इस प्रकार वह वास्तव में सर्वार्थम् बन जाता है। यह आध्यात्मिक जीवन की अति उच्च अवस्था है। चित्त एक साथ विषय और वस्तु को प्रतिबिम्बित करने में सक्षम हो जाता है। जब यह अवस्था स्थिर और अपरिवर्तनीय हो जाती है तब साधक को ज्ञात होना चाहिए कि कैवल्य की प्राप्ति अतिशीघ्र हो सकती है। परन्तु यदि सर्वार्थम् की अवस्था की अपरिवर्तनशीलता और स्थिरता नहीं बनी रहती है और ज्ञान में अस्थिरता है, तो यह समझना चाहिए कि कैवल्य अभी दूर है।

## सूत्र 24 – यह (चित्त) पुरुष के लिए कार्य करता है

*तद् संख्येय वासनाभिश्चित्रमपि पदार्थ संहत्यकारित्वात् ॥24॥*

असंख्य वासनाओं से रंगा हुआ (प्रभावित) होने पर भी यह (चित्त) पुरुष के लिए कार्य करता है, क्योंकि यह साहचर्य में कार्य करता है।

चित्त असंख्य वासनाओं से निर्मित है और उनके द्वारा नानाविध रंगा हुआ है, परन्तु यह अपने लिए नहीं है। यह सदा पुरुष के लिए कार्य करता है, यह पूर्णतया पुरुष के प्रयोजनार्थ बना है। जिस प्रकार कारखाने का श्रमिक अपने परिवार के लिए काम करता है, मशीनों और दूसरे श्रमिकों के लिए काम नहीं करता, उसी प्रकार चित्त यद्यपि असंख्य संस्कारों और वासनाओं से रंगा हुआ है, वस्तुतः उसका प्रयोजन पुरुष के लिए ही है।

असंख्य वासनायें चित्त का प्रयोजन या लक्ष्य नहीं हैं। जिस प्रकार हम बहुत सारी चीजें खाते हैं, जिनका कुछ अंश शरीर द्वारा रख लिया जाता है और शेष त्याग दिया जाता है, वैसा ही इस विषय में है, हमारा खाना उन चीजों के प्रयोजनार्थ नहीं है जिन्हें हम खाते हैं। उसी प्रकार चित्त वासनाओं के लिए नहीं, पुरुष के लिए है। यद्यपि पुरुष चित्त का स्वामी या वास्तविक प्रयोजन है, चित्त में केवल अनेक वासनायें होती हैं, क्योंकि उसे पुरुष के लिए विभिन्न भोग प्रस्तुत करने हैं।

वासना, इच्छाओं का मूल, आद्य, अचेतन वाहन है। यह एक प्रच्छन्न इच्छा नहीं है, यह अनादि है। निम्न धरातल की सभी सृष्टियों के लिए वह मुख्य प्रेरक है। वे परम चेतना के उच्चतर स्तरों पर काम नहीं करते हैं। इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि हमारा चित्त, जो निम्नतर जगत् की वस्तुओं में चिपका रहता है, सभी प्रकार की आसक्तियों, दुःखों, इच्छाओं आदि से भरा रहता है। चित्त का विषय या उद्देश्य पुरुष है, अन्य कुछ भी नहीं, अतः आध्यात्मिक साधक, जो वासनाओं, आसक्तियों से पीड़ित हैं, उन्हें निराश नहीं होना चाहिए। जब वासनाएँ उनके चित्त पर आक्रमण करें तब उन्हें उदास नहीं होना चाहिए। उन्हें तीर्थ यात्रा के परम प्रयोजन पुरुष को समझना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि विभिन्न वासनायें अन्ततः पुरुष का प्रयोजन ही सिद्ध कर रही हैं।

जीवन-दर-जीवन, जन्म के बाद अगला जन्म–चित्त चेतना के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में, विकास के एक स्तर से अगले उच्चतर स्तर की ओर प्रयाण करता रहता है, जब तक अन्तत: वह उस एक बिन्दु पर नहीं पहुँच जाता, जहाँ वह द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय को एक साथ प्रतिबिम्बित करने में समर्थ नहीं हो जाता है। तब, वहाँ वासना का अन्त हो जाता है, क्योंकि उन्होंने पुरुष के लिए भोग प्रस्तुत करने का प्रयोजन सिद्ध कर दिया है।

## सूत्र 25 – विभेद की समाप्ति

*विशेष दर्शिन: आत्मभावभावना विनिवृत्ति: ॥25॥*

उस व्यक्ति के आत्मभाव की भावना समाप्त हो जाती है जो विभेद (पुरुष और चित्त के मध्य भेद) को देखता है।

मनश्चेतना के सम्पूर्ण क्षेत्र की उपलब्धि हो जाने के बाद आत्मभाव की विभेदक क्षमता पूर्णत: समाप्त हो जाती है। इस सूत्र की दो व्याख्यायें हैं, यह भ्रामक सूत्र है। प्रथम के अनुसार जब योगी मानसिक सजगता को देखने योग्य हो जाता है, जो परस्पर विरोधी हैं तब वह किसी प्रक्रिया के दो बिन्दुओं के बीच के भेद को समझ सकता है। प्रक्रिया प्रकृति से प्रारम्भ होती है और पुरुष पर समाप्त होती है। जब योगी प्रक्रिया के समग्र क्षेत्र को पार कर लेता है तब उसके बाद वह दो बिन्दुओं, पुरुष चेतना और प्रकृति चेतना के बीच के भेद को मन में स्पष्ट रूप से देखता है। तब उसके अन्दर आत्मभाव से हट जाने का संकल्प उत्पन्न होता है। यह तब होता है जब वह पुरुष और प्रकृति तथा उनके बीच के भेद को जान लेता है।

दूसरी व्याख्या के अनुसार जब योगी आत्म-चेतना की उच्चतम अवस्था प्राप्त कर लेता है तब वह पुरुष और प्रकृति में भेद कर सकता है, जिसके द्वारा वह पुरुष को प्रकृति से भिन्न देख सकता है। वहाँ आत्मबोध का अतिक्रमण होता है। पहली व्याख्या अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। हम जानते हैं कि समाधि की उच्चतम अवस्था में चेतना बदलती नहीं है, वह स्थिर हो जाती है। उस अवस्था में द्रष्टा और दृश्य के मध्य भेद का पूर्ण ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त, वासनायें, जो मनश्चेतना की सामान्य संरचना का निर्माण करती हैं, वे साध्य नहीं, साधन मात्र हैं। अत: चित्त का अन्तिम प्रयोजन स्वयं का ही अतिक्रमण करना है। आत्मभाव अन्तिम बिन्दु है, जहाँ चित्त एक अस्तित्व के रूप में अपने को विसर्जित कर देता है। उस अवस्था में कैवल्य की अनुभूति होती है।

## सूत्र 26 – कैवल्य की ओर

*तदा विवेक निम्नं कैवल्य प्राग्भारं चित्तम् ॥26॥*

तब चित्त विवेक की ओर प्रवृत होकर कैवल्याभिमुख होता है।

जब योग यह समझ लेता है कि ऋतंभरा और आत्मभाव, अर्थात् आत्मा की उच्चतम अवस्था का ज्ञान भी असीम के ज्ञान के लिए अपर्याप्त है और वह मन अस्तित्व की उच्चतम विशेषता को त्याग देने का संकल्प लेता है तब वह उच्चतर आत्मिक तन्त्र से उत्पन्न आनन्द और ज्ञान के विलक्षण अचेतन त्याग का भाव विकसित कर लेता है। जब वह समाधि की पूर्ण अवस्था प्राप्त करता है तब वह अपने और अपने परिवेश के सम्बन्ध में सब कुछ भूल जाता है। परन्तु उसी समय चेतना के सम्पूर्ण क्षेत्र को, जिसका उसने अतिक्रमण कर लिया है उसे मन में स्पष्ट रूप से देखने योग्य हो जाता है।

उस समय निम्नतम से उच्चतम आध्यात्मिक बिन्दु तक की समस्त गतिविधि उसके सामने आ जाती है। अपने आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ से उसे जो भी अनुभूतियाँ हुई हैं उसे स्मरण होती है। तब वह विभिन्न आयामों के अनुभवों के बीच उस भिन्नता का भाव उत्पन्न करने योग्य हो जाता है। तब वह समझता है कि वे सभी जिनमें ध्यान और आनन्द भी सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं हैं। कहा जाता है कि परम चेतना से उत्पन्न आनन्द और ज्ञान अपरिवर्तनशील और स्थायी हैं, परन्तु साधना की अवधि में अनेक जन्मों तक अनुभवों के स्वरूप बदलते हैं। यहाँ तक कि आत्मचेतना और भाव समाधि तथा परम चेतना भी सुनिश्चित नहीं है।

इस स्थिति में, साधक को प्रतीत होता है कि उन अनुभवों का अतिक्रमण होना चाहिए, क्योंकि वे अपर्याप्त हैं। यह एक विलक्षण अनुभव है। यदि आप चुपचाप बैठें और अपने जीवन को पीछे मुड़ कर देखें तो आपको स्मरण भी नहीं रहेगा कि आपका शरीर किस प्रकार विकसित होता रहा है। आपको केवल एक बात का स्मरण रहेगा कि आपने भौतिक, शैक्षिक, सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर किस प्रकार प्रगति किया है। आप इनमें से किसी एक को ले लें और उसके विषय में सोचना प्रारम्भ करें। जब चित्त अन्तर्मुख होता है तब आप समस्त अनुभवों की निरन्तरता को देखेंगे। आप

अनुभवों को केवल महसूस कर सकते हैं। फिर भी, यदि आप अन्तिम और प्रथम अनुभवों की तुलना करेंगे तो आप अन्तर को देख सकते हैं। तब आप विकासोन्मुख तत्त्वों को देखते हैं। आप मानसिक क्षेत्र के सम्पूर्ण पथ का अतिक्रमण कर सकते हैं।

तब आपको ज्ञात होता है कि ये सारे अनुभव प्रकृति के तल पर थे। यह पुरुष का बिन्दु है। जब तक यह उपलब्ध नहीं हो जाता तब तक सभी अनुभव प्रकृति के क्षेत्र में ही रहते हैं, यहाँ तक कि सूक्ष्मतम भी। यह मनश्चेतना, इन्द्रिय-चेतना का धरातल है। इसमें परामानसिक चेतना के साथ-साथ, अन्तर्दर्शन, सूक्ष्म तरंगे, दूरसंवेदन, दूर दृष्टि, दूर-श्रवण आदि सभी सम्मिलित हैं। ये सभी एक अनवरत प्रक्रिया का निर्माण करते हैं, स्थूल तल से लेकर गहनतर तल तक।

यहाँ चित्त, विवेकपूर्ण विश्लेषण द्वारा विवेक की ओर उन्मुख होता है और अतीत की घटनाओं को विहंगम दृष्टि से देखता है। वहाँ चेतना की प्रकृति कैवल्य की ओर आकर्षित होती है। इसका वर्णन एक अद्‌भुत शब्द कैवल्यप्राग्भारम् द्वारा किया गया है।

भौतिकी में हम देखते हैं कि सभी पिण्ड पृथ्वी के केन्द्र की ओर आकर्षित होते हैं। इसलिए हममें भार या वजन है। उसी प्रकार साधना की निर्णायक अवस्था में चित्त गुरुत्व केन्द्र, अर्थात् कैवल्य की ओर खिंच जाता है। इस प्रकार जब चेतना के सभी अनावश्यक तत्त्व दूर कर दिये जाते हैं, तब पुरुष परम चेतना से भर जाता है और एक शक्ति के द्वारा कैवल्य की अवस्था की ओर खिंच जाता है।

## सूत्र 27 – अभी भी प्रत्यय उत्पन्न होते हैं

*तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥27॥*

विवेक की अवस्था के बीच पूर्व संस्कारों के कारण प्रत्यय उभरते रहते हैं।

विवेकख्याति की उपलब्धि के बाद ऐसा होता है कि योगी विवेक की अविचल चेतना की अवस्था कायम नहीं रख पाता है, क्योंकि प्रयास में शिथिलता के साथ ही प्रत्यय उभर आते हैं। चित्त के वैराग्यपूर्ण हो जाने और प्रकृति के क्षेत्र को छोड़ देने, कैवल्यावस्था की ओर खिंचाव प्रारम्भ हो जाने के बाद भी बीच-बीच में ऐसी अवस्थायें आती हैं जब वह उस स्थान पर लौट जाता है जहाँ से उसने निर्बीज समाधि में प्रवेश किया था।

यह अविद्याक्लेश के कारण होता है जो पूर्व संस्कारों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं, ये विवेक की अवस्था का भेदन कर देते हैं। कर्मों और संस्कारों के पूर्णतया दग्ध हो जाने के बाद जो अन्तिम अवशेष बचता है वही यहाँ प्रत्यय के रूप में उत्पन्न हो जाता है, परन्तु यह अवस्था स्थायी नहीं रहती है। यह केवल विवेक के प्रवाह के बीच उभर आता हैं। जब योगी ध्यान की उच्चत्तम स्थिति में अवस्थित हो जाता है तब अनुभव की अन्तिम अवस्था तक पहुँचने के पूर्व उसका ध्यान अस्थायी रूप से भंग होता है, परन्तु वह अन्तराल उसे निम्नतर अवस्था में नहीं ले जाता है। वह उसमें अपने को दृढ़तापूर्वक उच्चतम अवस्था में अवस्थित कर लेता है। जैसे, जब हम रात में सोते हैं, तो उस बीच ऐसा हो सकता है कि हम थोड़ी देर के लिए जगें या अर्द्धजाग्रत अवस्था में आ जायें, चित्त के साथ भी ऐसा होता है कि जब वह कैवल्य की ओर आकर्षित हो रहा होता है तब संस्कारों के अवशेष विवेक का भेदन कर ऊपर आ जाते हैं, पर विवेक पुनः यथावत हो जाता है। इस बिन्दु पर भ्रम नहीं होना चाहिए। कुछ लोग ऐसा समझते है कि एक बार जब योगी अन्तिम अवस्था पर पहुँच जाता है तब वह पीछे नहीं मुड़ता और वह पूर्णतया उसमें निमज्जित हो जाता है, लेकिन वस्तुतः ऐसा होता नहीं है। जब तक बीज वर्तमान हैं, वे विवेक की अवस्था से व्युत्थान उत्पन्न करते रहते हैं, पर इससे कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि बीज प्रायः दग्ध हो गये होते हैं।

## सूत्र 28 – उनकी निवृत्ति

*हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥28॥*

उनकी (प्रत्ययों की) निवृत्ति क्लेशों की निवृत्ति के समान मानी गयी है।

पूर्व चेतना का पुनरुत्थान निश्चित रूप से पूर्णतया रुक जाना चाहिए। यह क्लेशों के समान, व्यक्तित्व के अवशेषों से उभरने वाले प्रत्ययों की निवृत्ति के द्वारा किया जाता है। क्लेशों की प्रकृति और कर्मों से उसके सम्बन्ध को समझने के बाद उन्हें दूर किया जाता है। समाधि में भी प्रत्यय पूर्व कर्मों एवं उनके संस्कारों के कारण होते हैं। इन संस्कारों की जड़ें क्लेशों में और क्लेशों की जड़ें अविद्या में रहती हैं। इस प्रकार प्रत्ययों की जड़ों तक पहुँचा जाता है।

जब अविद्या का नाश हो जाता है, क्लेश विलुप्त हो जाते हैं, विवेक की शक्ति विकसित होती है और पूर्व संस्कारों के कारण चेतन प्रत्यय भी उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार ध्यान के माध्यम से और विवेकख्याति की अवस्था को अधिक स्थिर और दृढ़ बना कर क्लेश का नाश किया जाता है, उसी प्रकार विवेकख्याति को अधिक दृढ़ और स्थिर बना कर प्रत्ययों को भी हटाया जा सकता है।

## सूत्र 29 – धर्ममेघ समाधि

*प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्याते धर्ममेघ: समाधि: ॥29॥*

जब उच्चतम ध्यान में भी रुचि न रह जाये, तब विवेकख्याति के कारण धर्ममेघ समाधि का विकास होता है।

जब विवेकख्याति पूर्णत: अवस्थित हो जाती है, और व्यवधान उपस्थित करने वाले संस्कार भी दब जाते हैं तब ध्यान की परिणति श्रेष्ठ समाधि में होती है जिसे धर्ममेघ समाधि कहते हैं। यह बड़ा रोचक है, क्योंकि यहाँ योगी प्रबोधन के लिए भी अरुचि विकसित कर लेता है। यहाँ विवेकख्याति के प्रति भी पूर्ण वैराग्य रहता है और योगी कैवल्य प्राप्त करने की इच्छाओं से मुक्त हो जाता है। अब तक वह कैवल्य की अभिलाषा से प्रेरित था, अब वह भी पीछे छूट जाता है। एक बार जब वह चरम बिन्दु के निकट पहुँच जाता है तब उस बिन्दु पर पहुँचने की तृष्णा भी पूर्णतया समाप्त हो जाती है।

अकुसीद का अर्थ किसी भी प्रकार की छूट की अपेक्षा से रहित होना है। यह ऐसी अवस्था है जिसमें योगी जो ध्यान कर रहा है, उसके माध्यम से कुछ प्राप्त करने या उसके द्वारा कहीं पहुँचने के विचार का भी परित्याग कर देता है। महत्त्वाकांक्षा और रुचियाँ पीछे रह जाती हैं। साधना चलती है, पर किसी उपलब्धि का कोई विचार नहीं रहता है। उस अवस्था में कोई आसक्ति नहीं रहती, यहाँ तक कि कैवल्यावस्था की भी। यह ध्यान देने योग्य है कि जिस कैवल्य की प्रेरणा, जो साधक को चेतना के निम्नतर बिन्दु से परम चेतना के विकास तक प्रेरित करती रही है, वही कैवल्य प्राप्ति के समय स्वयं छूट जाती है। इससे धर्ममेघ समाधि का उदय होता है। उस अवस्था में पूर्व संस्कारों के सभी बीज दग्ध हो जाते हैं, सभी कर्म समाप्त हो जाते हैं, सत्य के द्वार खुल जाते हैं। न रहस्य रह जाते हैं और न जिज्ञासाएँ।

धर्म शब्द का प्रयोग यहाँ कर्त्तव्य, या प्रचलित अर्थ में नहीं किया गया है। इसका तात्पर्य है अन्तर्निहित गुण या विशिष्ट कर्म। यहाँ धर्म में सत्, चित् और आनन्द सम्मिलित हैं, जो परम चेतना के सार्वभौम गुण या कर्म हैं। मेघ एक शास्त्रीय शब्द है, जिसका अर्थ गुह्य अवस्था है, जिसे उनींदेपन की अत्यन्त उच्च अवस्था के रूप में समझा जा सकता है, इसके माध्यम से

हमें सच्चिदानन्द का अनुभव प्राप्त होता है। संस्कृत में मेघ शब्द का अर्थ बादल है। यह वह बादल है जो योगी पर सत्, चित् और आनन्द के समरूप अनुभूति की वर्षा करता है। इसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता है। इतना ही कहा जा सकता है कि यह सच्चिदानन्द की समरूप अनुभूति की अति उच्च अवस्था है।

यह तभी संभव होता है जब निर्बीज समाधि की अन्तिम अवस्था आती है। उदाहरणस्वरूप – जब एक व्यक्ति मरता है तब जीवन के अन्तिम क्षणों में वह अपने पूरे जीवन को रहस्यात्मक रूप में अपने सामने से गुजरता हुआ देखता है। वह सभी चीजें स्पष्ट रूप से नहीं देख पाता, पर उसके जीवन में जो कुछ हुआ है, उसे उसका एक प्रकार का रहस्यात्मक बोध होता है। वह उसे इस प्रकार देखता है मानो वह कोई प्राकृतिक दृश्य देख रहा हो। उसी प्रकार धर्ममेघ समाधि में मोक्ष के पूर्व अन्तिम क्षण में महान् अनुभूति होती है। इसके साथ सारे प्रयासों, सभी साधनाओं, ध्यान और समाधि का अन्त हो जाता है।

मोक्ष का अर्थ है बन्धन से मुक्ति, और धर्ममेघ समाधि योगाभ्यास के लक्ष्य की अन्तिम परिणति है। यहाँ पहुँचने के बाद योगी अस्तित्व एवं कर्मों के नये क्षेत्र में प्रवेश करता है।

## सूत्र 30 – क्लेशों से मुक्ति

*ततः क्लेश कर्म निवृत्तिः ॥30॥*

उसके (धर्ममेघ समाधि के) के बाद क्लेशों और कर्मों की निवृत्ति हो जाती है।

जब योगी धर्ममेघ समाधि के द्वारा सच्चिदानन्द की अवस्था प्राप्त कर लेता है तब वह क्लेशों और कर्मों से प्रभावित नहीं होता। बन्धन के ये दो उपकरण, जो जीव को अनुभव जगत् से बाँध कर रखते हैं, धर्ममेघ समाधि के प्रभाव द्वारा पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। एक बार जब ये दोनों उपकरण नष्ट हो जाते हैं तब यौगिक साधना समाप्त हो जाती है।

यह समझ लेना चाहिए कि योग का प्रयोजन अविद्या और क्लेश को दूर करना है। कैवल्य प्राप्ति प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है, वरन् क्लेशों के नाश के माध्यम से अपरोक्ष प्रभाव है। हमें उसे विकसित नहीं करना है। इसके द्वारा केवल उस अवस्था का पता लगाना है, जो पहले से ही पुरुष के स्वभाव के कारण विद्यमान है। जीवनमुक्ति योग की अन्तिम जड़ है। इसका अर्थ प्रकृति और तीन गुणों के चंगुल से मुक्ति की अवस्था है। प्रकृति का कार्यक्षेत्र अविद्या से प्रारम्भ होता है और जीवनमुक्ति में समाप्त होता है। यह प्रकृति के कार्यक्षेत्र के परे है, जहाँ जीवनमुक्त शाश्वत आनन्द का अनुभव करता है। जीवनमुक्त प्रकृति को बाहर से देख सकता है, क्योंकि वह स्वयं उसके वश में नहीं है। उसे एक ही समय प्रकृति और मुक्ति दोनों की व्यावहारिक जानकारी रहती है।

यद्यपि यह सत्य है कि मुक्ति की चरम अवस्था पहले से ही हमारे अन्दर है, हमें यह निश्चित रूप से समझ लेना है कि यह अविद्या और पूर्व कर्मों के संस्कारों की परतों में छिपी हुई है। जब योग द्वारा ये परतें, जो पहले से ही विद्यमान हैं, हटा दी जाती हैं और नये सिरे से उद्घाटित होती हैं।

अतः आध्यात्मिक साधक को तब तक अपनी साधना नहीं छोड़नी चाहिए, जब तक वह प्रकृति और तीनों गुणों का निराकरण कर अन्ततः आनन्द की अनुभूति प्राप्त नहीं कर लेता। उसे तब तक योग मार्ग पर चलते रहना चाहिए जब तक वह परमसत्य में शुद्ध चेतना का अलग केन्द्र नहीं बन जाता और प्रकृति

से सर्वथा अलग नहीं हो जाता। धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति के बाद क्लेश और कर्म योगी को नहीं बाँधते। उसके लिए वे अस्तित्वरहित हो जाते हैं।

मुक्ति की प्रक्रिया द्विपक्षीय होती है – व्यक्तिगत मुक्ति और ब्रह्माण्डीय मुक्ति (प्रकृति मोक्ष)। ब्रह्माण्डीय मुक्ति समग्रत: प्रकृति और पुरुष की मुक्ति है। जब एक व्यक्ति क्लेश और कर्म से मुक्त हो जाता है तब वे प्रकृति में ही कहीं रहते हैं, यद्यपि उसके लिए उनका अन्त हो जाता है। जब एक व्यापक चक्र का अन्त होता है तब सभी चीजें प्रकृति में विलीन हो जाती हैं। वह प्रकृति मोक्ष है। एक सम्पन्न व्यक्ति वातानुकूलित कमरे में है, जबकि बाहर में सभी जगह ग्रीष्म ऋतु की गर्मी है, उसकी तुलना जीवनमुक्त से की जा सकती है। प्रचण्ड वर्षा के बाद जब सभी जगह की गर्मी शान्त हो जाती है तब उसकी तुलना प्रकृति मोक्ष से की जा सकती है। इस प्रकार ये मुक्ति के दो पक्ष हैं, एक है वैयक्तिक और दूसरा है सार्वभौम। व्यक्तियों द्वारा इस देश में या अन्यत्र किया गया प्रयास वैयक्तिक मुक्ति के लिए है। क्राइस्ट, बुद्ध और शंकर जैसे दिव्यात्मा भी वैयक्तिक मुक्ति के उदाहरण हैं। केवल किसी एक व्यक्ति द्वारा सार्वभौम मुक्ति नहीं लायी जा सकती है। परन्तु एक व्यक्ति कठोर साधना कर स्वयं मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

मुक्ति के दो मार्ग हैं, एक है पलायन का मार्ग और दूसरा है व्यावहारिक मार्ग। योगी का मार्ग पलायनवादी नहीं, बल्कि व्यावहारिक होना चाहिए। व्यावहारिक रूप से मुक्त, जीवनमुक्त मानवता के हित में काम करता है; मुक्त होने के बाद भी प्रकृति के क्षेत्र से पलायन नहीं करता। वह दु:खियों के जीवन में आराम और शान्ति लाने के लिए काम करता है। इस प्रकार वह धर्ममेघ समाधि में रहता है, कैवल्य में पलायन नहीं करता। जब उसे यह अनुभव होता है कि उसने अपना कार्य कर लिया है तब वह कैवल्य की अवस्था में चला जाता है।

वैयक्तिक मुक्ति कोई मुक्ति नहीं है। हाँ, शास्त्रीय दृष्टि से यह मुक्ति है, पर व्यावहारिक दृष्टि से नहीं। मुक्त व्यक्ति को संघर्ष करना होता है। उसे दु:ख से, दुर्गति से, दु:ख के कारणों आदि से अपना संघर्ष जारी रखना होता है। अत: वह पृथ्वी पर अच्छे जीवन के लिए संदेश का प्रसार करता है। अन्तत: जब उसे प्रतीत होता है कि उसने असंख्य दु:खी लोगों को एक राह दिखा दी है तब वह प्रकृति के क्षेत्र के परे चला जाता है और विदेह मुक्त हो जाता है।

## सूत्र 31 – ज्ञान की अनन्तता

*तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥31॥*

तब समस्त आवरणों और मलों के नाश के द्वारा ज्ञेय अल्प ही रह जाता है, क्योंकि ज्ञान अनन्त है।

धर्ममेघ समाधि से दो चीजें होती हैं। प्रथम, यह ज्ञान पर पड़े आवरण को हटाती है और द्वितीय, समस्त मलों का पूर्णतया नाश कर देती है। तीन ऐसी चीजें हैं, जिनका नाश होता है। उपर्युक्त दो के अतिरिक्त विक्षेप का भी नाश हो जाता है, परन्तु पहले से ही अभ्यास के द्वारा विक्षेप दूर किये जा चुके हैं, इसलिए इस सूत्र में दो दोषों का ही उल्लेख किया गया है।

उपनिषदों और अन्य शास्त्रों में कहा गया है कि अंधकार और भय व्यक्ति को तब तक नहीं छोड़ते, जब तक पराचेतना के क्षितिज पर ज्ञान के सूर्य का उदय नहीं हो जाता। यहाँ यह कहा गया है कि धर्ममेघ समाधि के बाद मलों और ज्ञान पर पड़े आवरण के नाश के दो महान् कार्य होते हैं और योगी पाता है कि देखने या जानने के लिए थोड़ा ही शेष रह गया है।

प्रारम्भ में साधक निरन्तर सोचता है कि वह बहुत कम जानता है और जानने के लिए अभी काफी शेष है, पर जब ज्ञान का आवरण हट जाता है तब जानने या प्राप्त करने योग्य बहुत कम शेष रहता है। योगी आप्तकाम, आप्तज्ञान और अन्तसंकल्प हो जाता है। जानने या परिपूर्ण होने, जीतने या प्राप्त करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता है। यह उसका व्यक्तिगत स्वभाव हो जाता है, परन्तु इस ज्ञान के प्राप्त कर लेने के पूर्व उसे सतत् साधना, कठोर अनुशासन के माध्यम से एक समान प्रगति करनी पड़ती है। प्रारम्भ में वह जिज्ञासु रहता है। जब वह साधना में अवस्थित हो जाता है तब वह साधक कहलाता है पर जब वह धर्ममेघ समाधि प्राप्त कर लेता है तो वह सिद्ध हो जाता है। ज्ञान, स्थैर्य, और शान्ति की उसकी प्यास धर्म के बादलों की वर्षा से तृप्त होती है। उसमें जब भी किसी बात को जानने की इच्छा होती है, उसे वह ज्ञात हो जाती है, क्योंकि उसके ज्ञान पर अब कोई आवरण या परदा नहीं है। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह महावाक्यों का अनुभव करने लगता है। इन महावाक्यों का उल्लेख संक्षेप में निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है –

1. प्रज्ञानं ब्रह्म – चरमज्ञान, ब्रह्माण्डीय सत्य ही चेतना है।
2. अहं ब्रह्मास्मि – मैं ब्रह्म हूँ।
3. तत्त्वमसि – तुम वह (ब्रह्म) हो।
4. अयमात्मा ब्रह्म – यह जीव ही ब्रह्म है।

ये चार अमर वाणियाँ हैं जो उपनिषदों के समस्त दर्शन को व्यक्त करती हैं। इन्हें समझना है पर केवल बौद्धिक रूप से नहीं, बल्कि वास्तविक अनुभव और ज्ञान में, और यह केवल धर्ममेघ समाधि से ही संभव है।

धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति के बाद पुरुष अपने रूप और स्वभाव में रहता है। वह मन की वृत्तियों के आरोपण से मुक्त हो जाता है।

## सूत्र 32 – गुणों की निवृत्ति

*ततः कृतार्थानां परिणामक्रम समाप्तिः गुणानाम् ॥32॥*

तत्पश्चात् कृतार्थ हुए गुण अपने परिणाम क्रम की समाप्ति के बाद निवृत्त हो जाते हैं।

धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति के बाद योगी कृतार्थ हो जाता है, क्योंकि उसके लिए अब कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। मन और गुणों में परिवर्तन की प्रक्रिया का अन्त हो जाता है। जहाँ तक योगी का सम्बन्ध है, परिवर्तन के नियम के साथ कार्य-कारण के नियम का भी अन्त हो जाता है। गुणों की समस्त प्रक्रिया का उद्देश्य पुरुष के लिए भोगों का सृजन और अन्ततः मोक्ष को प्राप्त कराना होता है। इन दोनों प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने पर गुण निवृत्त हो जाते हैं।

## सूत्र 33 – क्रम बोधगम्य है

*क्षण प्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥33॥*

क्षणों के अनुरूप प्रक्रिया ही क्रम है, जो अन्त में बोधगम्य होता है।

एक प्रक्रिया घटनाओं की श्रृंखला है। इसके पूर्ण होने पर ही इसे जाना जा सकता है। उदाहरणार्थ, शरीर का अन्त तभी बोधगम्य होता है जब प्रक्रिया का अन्त, अर्थात् मृत्यु हो जाती है और इसलिए मृत्यु की प्रक्रिया अनवरत चलती जा रही है। फिर भी यह वहीं नहीं रुकती, क्योंकि रूपान्तरण के क्षण तत्काल अस्तित्व का अन्य रूप आ जाता है। चीजें प्रत्येक क्षण पुरानी होती जाती हैं, परन्तु हम प्रक्रिया के अन्त में उन्हें पुराना कहते हैं। काल और घटना के संदर्भ में वह प्रक्रिया विशेष 'क्रम' कहलाती है। केवल आत्मा या पुरुष इन रूपान्तरणों की व्याप्ति या विस्तार के परे है।

परिणाम की पाँच अवस्थायें हैं –

1. अव्यक्त से व्यक्त।
2. खनिज से उद्भिज।
3. उद्भिज से पशु।
4. पशु से मानव।
5. मानव से परामानव।

इन विभिन्न वर्गों में विकास के विभिन्न चरण होते हैं। सामान्यतः हम एक चरण से दूसरे चरण में हो रहे विशेष परिवर्तनों को नहीं देखते, क्योंकि वे अत्यन्त स्पष्ट नहीं होते। जब हम किसी व्यक्ति से दस या बीस वर्षों के बाद मिलते हैं तब उसमें परिवर्तन को देख सकते हैं। वह परिवर्तन वस्तुतः प्रतिक्षण हो रहा था, परन्तु हम उसे प्रत्येक क्षण अलग-अलग नहीं देख सकते हैं।

यह परिवर्तन की प्रक्रिया धर्ममेघ समाधि में समाप्त हो जाती है, जो तीनों गुणों के रूपान्तरण की अन्तिम परिणति है। इसके परे कोई रूपान्तरण नहीं होता। इसके साथ अस्तित्व के सभी क्षेत्रों में रूपान्तरण समाप्त हो जाता है, अतः मोक्ष प्राप्ति के बाद पुनर्जन्म नहीं होता है, क्योंकि शारीरिक और मानसिक क्षेत्रों में इसके पश्चात् रूपान्तरण रुक जाता है।

जैसे, हम नहीं जान पाते कि कब एक बच्चा जवान मनुष्य बन जाता है या कब एक जवान बूढ़ा हो जाता है, उसी प्रकार, जीव का एक जगत् (खनिज्, वनस्पति, प्राणि जगत) से दूसरे जगत् में रूपान्तरण, अर्थात् उद्भिज से पशु, पशु से मानव आदि, एक अवतरण से दूसरे में, एक जन्म से दूसरे जन्म में रूपान्तरण इन्द्रियगोचर नहीं है। इसलिए, संसार में ऐसे लोग हैं, जो पुनर्जन्म या अवतार में विश्वास नहीं करते, परन्तु इसका कारण यह है कि वे इसे नहीं देख पाते हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि इसे देख पाना सम्भव नहीं है; यह प्रक्रिया अन्त में ही इन्द्रियगोचर हो पाती है, बीच में नहीं। इस प्रकार यह सूत्र पुनर्जन्म के सिद्धान्त का एक वैज्ञानिक एवं तार्किक विवेचन प्रस्तुत कर रहा है।

## सूत्र 34 – कैवल्य

*पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसव: कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्शक्तेरिति ॥34॥*

अपने प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर गुणों का प्रतिप्रसव ही कैवल्य है; अथवा यह पुरुष, अर्थात् विशुद्ध चेतना का अपने मूल स्वरूप में पुन:स्थापित होना है।

कैवल्य की अवस्था की व्याख्या दो प्रकार से की गई है – पहली, गुणों के प्रतिप्रसव के रूप में और दूसरी पुरुष के रूप में। ऐसा इसलिए है कि प्रकृति में दोहरी प्रक्रिया घटित हो सकती है – प्रथम है विकास और दूसरी है प्रतिप्रसव। विकास की प्रक्रिया में पुरुष के भोग के लिये भोग की वस्तुएँ विभिन्न चरणों में, यथा – अस्मिता, तन्मात्रा, भूत आदि द्वारा प्रकट होती हैं। प्रतिप्रसव की प्रक्रिया विपरीत है, जिसमें वस्तु अपने कारण में क्रमश: विलीन हो जाती है, ताकि गुण अविक्षुब्ध अवस्था में रहें। ऐसा तब होता है जब गुणों का प्रयोजन, अर्थात् भोग और पुरुष का कैवल्य उपलब्ध हो जाता है। इस प्रकार कैवल्य की परिभाषा गुणों के प्रयोजन सिद्धि, अर्थात् पुरुषार्थ के माध्यम से उनके प्रतिप्रसव के रूप में की जा सकती है। गुणों के प्रतिप्रसव की प्रक्रिया पुरुष के कैवल्य में समाप्त हो जाती है।

अन्य व्याख्या के अनुसार कैवल्य शुद्ध चेतना के अपने शुद्ध स्वरूप में पुरुष का स्थित होना है। व्यक्ति विभिन्न साधनाओं, यथा – ध्यान, समाधि, संयम आदि के अभ्यास द्वारा चेतना को शुद्ध करने का प्रयास करता है। इसके कारण पुरुष के वास्तविक स्वरूप पर पड़ा आवरण हट जाता है, अन्त में धर्ममेघ समाधि द्वारा चेतना एकदम परिशुद्ध हो जाती है और अपना मूल स्वरूप (स्वरूप प्रतिष्ठा) प्राप्त कर लेती है।

इस प्रकार कैवल्य सभी साधनाओं के सम्मिश्रण का उच्चतम बिन्दु है। योग के साथ-साथ जैनियों का भी यही विश्वास है, पर कुछ अन्य चिन्तक, जैसे वे ऋषि जिन पर उपनिषद् उद्घाटित हुए थे, उनका मानना है कि कैवल्य चेतना के प्राकट्य में एक चरण है। हम नहीं जानते हैं कि चेतना का कितना अंश अप्रकट है और कितना बोधगम्यता से परे है।

बुद्ध ने एक स्थान पर लिखा है कि जब ध्यान आदि की साधना के द्वारा एक-एक कर अज्ञान का परदा हट जाता है तब कैवल्य तक पहुँचा जाता है, परन्तु उस समय भी यह संभव है कि कुछ परदों को हटाना शेष रह जाये। जहाँ तक हम लोगों का सम्बन्ध है, कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होता है कि कैवल्य उच्चतम अवस्था है, इसलिए योग की सम्पूर्ण साधना प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस लक्ष्य की ओर निर्देशित रहती है। अतः योग एक साधन है, साध्य नहीं।

# परिशिष्ट

# मुक्ति का सारांश

## समाधि पाद

1. अथ योगानुशासनम्
2. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः
3. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्
4. वृत्तिसारूप्यमितरत्र
5. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः
6. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः
7. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि
8. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्
9. शब्दज्ञानानुपाति वस्तुशून्यो विकल्पः
10. अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा
11. अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः
12. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः
13. तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः
14. स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः
15. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्
16. तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्
17. वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः
18. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः
19. भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्
20. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्
21. तीव्रसंवेगानामासन्नः
22. मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः

23. ईश्वरप्राणिधानाद्वा
24. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरमृष्ट: पुरुषाविशेष ईश्वर:
25. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्
26. पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्
27. तस्य वाचक: प्रणव:
28. तज्जपस्तदर्थभावनम्
29. तत: प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च
30. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-
भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तराया:
31. दु:खदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुव:
32. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास:
33. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम्
34. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य
35. विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनस: स्थितिनिबन्धनी
36. विशोका वा ज्योतिष्मती
37. वीतरागविषयं वा चित्तम्
38. स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा
39. यथाभिमतध्यानाद्वा
40. परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार:
41. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्ति:
42. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पै: संकीर्णा सवितर्का समापत्ति:
43. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का
44. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता
45. सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम्
46. ता एव सबीज: समाधि:
47. निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद:
48. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा
49. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्
50. तज्ज: संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी
51. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज: समाधि:

**साधना पाद**

1. तप:स्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि क्रियायोग:
2. समाधिभावनार्थ: क्लेशतनूकरणार्थश्च
3. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा: क्लेशा:
4. अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्
5. अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या
6. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता
7. सुखानुशयी राग:
8. दु:खानुशयी द्वेष:
9. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेश:
10. ते प्रतिप्रसवहेया: सूक्ष्मा:
11. ध्यानहेयास्तद्वृत्तय:
12. क्लेशमूल: कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय:
13. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा:
14. ते ह्लादपरितापफला: पुण्यापुण्यहेतुत्वात्
15. परिणामतापसंस्कारदु:खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिन:
16. हेयं दु:खमनागतम्
17. द्रष्टृदृश्ययो: संयोगो हेयहेतु:
18. प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्
19. विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि
20. द्रष्टा दृशिमात्र: शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य:
21. तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा
22. कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्
23. स्वस्वामिशक्तयो: स्वरूपोपलब्धिहेतु: संयोग:
24. तस्य हेतुरविद्या
25. तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशे: कैवल्यम्
26. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय:
27. तस्य सप्तधा प्रान्तभूमि: प्रज्ञा
28. योगांगाऽनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानादीप्तिराविवेकख्याते:
29. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि
30. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा:

31. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना: सार्वभौमा महाव्रतम्
32. शौचसंतोषतप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा:
33. वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्
34. वितर्का हिंसादय: कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दु:खाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्
35. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्याग:
36. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्
37. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्
38. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभ:
39. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोध:
40. शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्ग:
41. सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च
42. संतोषादनुत्तमसुखलाभ:
43. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपस:
44. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोग:
45. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्
46. स्थिरसुखमासनम्
47. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्
48. ततो द्वन्द्वानभिघात:
49. तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:
50. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभि: परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म:
51. बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थ:
52. तत: क्षीयते प्रकाशावरणम्
53. धारणासु च योग्यता मनस:
54. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:
55. तत: परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्

**विभूति पाद**

1. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा
2. तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम्
3. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:

4. त्रयमेकत्र संयम:
5. तज्जयात्प्रज्ञालोक:
6. तस्य भूमिषु विनियोग:
7. त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्य:
8. तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य
9. व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणाम:
10. तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्
11. सर्वार्थतैकाग्रतयो: क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणाम:
12. तत: पुन: शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणाम:
13. एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा: व्याख्याता:
14. शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी
15. क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतु:
16. परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्
17. शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्
18. संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्
19. प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्
20. न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्
21. कायरूपसंयमात् तदग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षु:प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्
22. एतेन शब्दाद्यन्तर्धानं उक्तम्
23. सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा
24. मैत्र्यादिषु बलानि
25. बलेषु हस्तिबलादीनि
26. प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्
27. भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्
28. चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्
29. ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्
30. नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्
31. कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्ति:
32. कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्

33. मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्
34. प्रतिभाद् वा सर्वम्
35. हृदये चित्तसंवित्
36. सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयो: प्रत्ययाविशेषो भोग: परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्
37. तत: प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते
38. ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय:
39. बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेश:
40. उदानजयाज्जलपंककण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च
41. समानजयाज्ज्वलनम्
42. श्रोत्राकाशयो: सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्
43. कायाकाशयो: सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्
44. बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा तत: प्रकाशावरणक्षय:
45. स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजय:
46. ततोऽणिमादिप्रादुर्भाव: कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च
47. रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्
48. ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजय:
49. ततो मनोजवित्वं विकरणभाव: प्रधानजयश्च
50. सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च
51. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्
52. स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्
53. क्षणतत्क्रमयो: संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्
54. जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्तत: प्रतिपत्ति:
55. तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्
56. सत्त्वपुरुषयो: शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति

**कैवल्य पाद**

1. जन्मौषधिमन्त्रतप:समाधिजा: सिद्धय:
2. जात्यन्तरपरिणाम: प्रकृत्यापूरात्
3. निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु तत: क्षेत्रिकवत्
4. निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्

5. प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्
6. तत्र ध्यानजमनाशयम्
7. कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्
8. ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्
9. जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्
10. तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्
11. हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः
12. अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्
13. ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः
14. परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्
15. वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः
16. न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्
17. तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्
18. सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्
19. न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्
20. एकसमये चोभयानवधारणम्
21. चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृतिसंकरश्च
22. चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्
23. द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्
24. तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्
25. विशेषदर्शिनः आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः
26. तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्
27. तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः
28. हानमेषां क्लेशवदुक्तम्
29. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः
30. ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः
31. तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्
32. ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्
33. क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः
34. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्शक्तेरिति

नोट

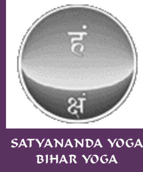


स्वामी सत्यानन्द सरस्वती का जन्म उत्तर प्रदेश के अल्मोड़ा ग्राम (उत्तरांचल) में सन् 1923 की मार्गशीर्ष पूर्णिमा को हुआ। उनमें बाल्यावस्था से ही आध्यात्मिक जीवन के प्रति झुकाव था और विलक्षण प्रतिभाएँ परिलक्षित होती थीं। 18 वर्ष की अवस्था में उन्होंने गुरु की खोज में घर छोड़ दिया। 1943 में उन्हें ऋषिकेश में अपने गुरु स्वामी शिवानन्द के दर्शन हुए। 12 सितम्बर 1947 को गुरु ने उन्हें परमहंस संन्यास में दीक्षित किया। वे 12 वर्ष गुरु की सेवा में रहे और आध्यात्मिक जीवन के हर आयाम में दक्षता प्राप्त की। तत्पश्चात् उन्होंने परिव्राजक संन्यासी के रूप में आठ वर्षों तक सम्पूर्ण भारत, अफगानिस्तान, बर्मा, नेपाल एवं श्रीलंका का भ्रमण किया। इस अवधि का उपयोग उन्होंने यौगिक तकनीकों को प्रतिपादित एवं परिष्कृत करने में किया, ताकि मानवता को कष्टों से त्राण मिल सके।

योग की प्राचीन पद्धति को आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव होने पर उन्होंने 1956 में अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल एवं 1963 में बिहार योग विद्यालय की स्थापना की। अगले 20 वर्षों तक विश्व भ्रमण करते हुए उन्होंने योग की पताका विश्व के कोने-कोने में फहरा दी और बिहार योग विद्यालय को योग की एक अग्रगण्य संस्था के रूप में ख्याति दिलायी। उन्होंने योग, तंत्र एवं आध्यात्मिक जीवन पर अस्सी से अधिक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

'सत्यानन्द योग' एक ऐसी परम्परा बन गयी, जिसमें शास्त्रीय और अनुभवात्मक ज्ञान तथा आधुनिक दृष्टिकोण का सुन्दर समन्वय है। ग्राम्य-विकास की भावना से 1984 में उन्होंने दातव्य संस्था 'शिवानन्द मठ' की एवं योग पर वैज्ञानिक शोध की दृष्टि से 'योग शोध संस्थान' की स्थापना की। सन् 1988 में उपलब्धियों के शिखर पर पहुँचकर उन्होंने सबकुछ त्याग दिया और क्षेत्र संन्यास लेकर परमहंस संन्यासी की जीवन पद्धति अपना ली। सन् 1989 में उन्हें रिखिया आने का दैवी आदेश हुआ, यहाँ उन्होंने एकान्तवास करते हुए उच्च वैदिक साधनाएँ कीं। सन् 1991 में अपने पड़ोसियों को सुविधाएँ उपलब्ध कराने का आदेश मिलने पर उन्होंने आश्रम को उस क्षेत्र के अभावग्रस्त ग्रामीणों की सहायता करने की अनुमति दी। सन् 1995 में उन्होंने वैश्विक सुख, शान्ति एवं समृद्धि का संकल्प लेकर बारह वर्षीय राजसूय यज्ञ आरम्भ किया और सन् 2007 में 'सेवा, प्रेम और दान' को अपनी मुख्य गतिविधि बनाने का आदेश देकर रिखियापीठ की स्थापना की घोषणा की।

स्वामी सत्यानन्द 5 दिसम्बर 2009 की मध्यरात्रि में अपने शिष्यों की उपस्थिति में महासमाधि में लीन हो गये।



SATYANANDA YOGA
BIHAR YOGA

'मुक्ति के चार सोपान' में महर्षि पतंजलि के योग सूत्रों के संस्कृत मूल पाठ के साथ उनके अनुवाद तथा उनकी विस्तृत व्याख्या का अद्भुत् समावेश है। व्यावहारिक ज्ञान से परिपूर्ण योग के इस सुविख्यात ग्रन्थ 'योग सूत्र' में जीवन को सही ढंग से जीने के सूत्र हैं।

ऋषि पतंजलि ने अत्यन्त वैज्ञानिक एवं तर्कपूर्ण ढंग से शब्दों की मितव्ययिता के साथ सूत्रों की रचना की है। इनमें शब्दों की पुनरावृत्ति देखने को नहीं मिलती। कहीं-कहीं वाक्य अधूरे हैं, फिर भी उनके एक-एक शब्द में ज्ञान का कोष भरा है। उनमें से कुछ के अर्थ स्पष्ट हैं और कुछ के गूढ़।

आधुनिक मानव इन सूत्रों के गूढ़ अर्थ को समझ पाये, इसके लिए स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने अभ्यास तथा व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर सूत्रों एवं राजयोग की व्यापक व्याख्या की है।

मनोविज्ञान और मनोचिकित्सा के क्षेत्रों में एक प्रामाणिक सन्दर्भ-ग्रंथ के रूप में इसका उपयोग किया जा सकता है।

योग के गम्भीर साधकों तथा आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को इस ग्रंथ से बहुमूल्य मार्गदर्शन प्राप्त होगा।




978-81-85787-92-3

ISBN